पश्चिमीय आचार-विज्ञान

का

आलोचनात्मक अध्ययन

लेखक

डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा जेतली (एम० ए०, पी० एच० डी०)

अध्यक्ष दर्शनशास्त्र तथा मनोविज्ञान विभाग,

महाराजा कालेज (राजकीय)

जयपुर

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

भारतीय नैतिकता के प्रतीक, पंचशील दर्शन के प्रवतक

विश्वप्रिय आदर्श नेता

पंडित जवाहरलाल नेहरू

को

सादर व सप्रेम समर्पित

प्रस्तावना

साहित्यिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से आचार-विज्ञान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। भारत इस समय एक ऐसे परिवर्तनशील युग से गुजर रहा है, जिसमे कि सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विकास घटित हो रहे है। हमने योजनाओ के द्वारा पिछले कुछ वर्षो मे विशेषकर आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति की है। हमारी तीसरी योजना मानवीय द्रव्य की प्रगति पर बल देती है, इसलिए मानवीय जीवन के नैतिक अग से सम्बन्धित साहित्य को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

क्योकि हिन्दी अब हमारी राष्ट्रभाषा है और हमे इसके साहित्य को प्रवृद्ध करना है, इसलिए डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा की यह पुस्तक, जोकि पश्चिमीय आचार-विज्ञान का आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है निस्सन्देह सामान्य रूप से हिन्दी साहित्य को और विशेषकर दार्शनिक साहित्य को एक अमूल्य देन है। डा० शर्मा ने पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तो की न ही केवल आलोचनात्मक व्याख्या की है, अपितु उन्होने अपनी पुस्तक मे अनेक स्थानो पर इनकी भारतीय नैतिक सिद्धान्तो से तुलना भी की है। दर्शनशास्त्र के एक अनुभवी प्राध्यापक होने के नाते डा० शर्मा ने एक स्पष्ट और व्यवस्थित शैली मे इस विषय को प्रस्तुत किया है। जनसाधारण, बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकता है। विभिन्न नैतिक सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त तथा आलोचनात्मक विश्लेषण पर आधारित निष्कर्ष सराहनीय है और विचार को प्रेरणा देनेवाले हैं।

सक्रिय राजनीति तथा समाज-सेवा मे प्रवृत्त होने के कारण मेरी व्यक्तिगत धारणा यह है कि भगवद्गीता का निष्काम कर्म, और कर्तव्य पर आधारित नैतिक सिद्धान्त, जो हमे स्वार्थ को त्याग देने की प्रेरणा देता है, हमारी वर्तमान आवश्यकताओ और परिस्थितियो के अनुकूल इसलिए है कि आज प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए निष्काम सेवा करना अनिवार्य है। इस पुस्तक मे भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग का उल्लेख उचित स्थान पर किया गया है। ऐसा दृष्टिकोण ही पश्चिमीय तथा भारतीय विचार और सस्कृति का समन्वय कर सकता है।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक सामान्य पाठको तथा साहित्यिको द्वारा समान रूप से पसन्द की जाएगी। लेखक की भाषा की सरलता तथा शैली के विषय मे मैं इसलिए कुछ कहना नही चाहता कि इसी लेखक की प्रथम पुस्तक 'आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान' को राजस्थान सरकार द्वारा एक पुस्तको की प्रतियोगिता मे पुरस्कार प्रदान किया गया है।

मथुरादास माथुर
भूतपूर्व शिक्षामन्त्री, राजस्थान
जयपुर

१८–५–६१

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'पश्चिमीय आचार-विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन' सम्भवतया हिन्दी साहित्य मे अपने प्रकार की प्रथम कृति है। यो तो पश्चिमीय आचार-शास्त्र पर हिन्दी भाषा मे कतिपय पुस्तके उपलब्ध हैं, किन्तु वे सब प्राय. कुछ अग्रेज़ी मे लिखी हुई इस विषय-सम्बन्धी पुस्तको का रूपान्तरमात्र प्रमाणित होती है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी वे पुस्तके, पाठक के मन मे विषय के प्रति रुचि तथा उत्सुकता उत्पन्न करने मे सफल नही होती। मैं इस विषय का पिछले बीस वर्षों से अध्ययन करता रहा हू और हिन्दी जगत् मे एक ऐसी पुस्तक के अभाव का अनुभव करता रहा हू जो आचार-विज्ञान के विषय को जन-साधारण मे सर्वप्रिय बना सके और विशेषकर पश्चिमीय आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तो की आलोचनात्मक व्याख्या कर सके। इसी दृष्टि को लेकर मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ किया था। ज्यो-ज्यो मैं आचार-विज्ञान के विभिन्न विषयो का विश्लेषण करते हुए और पश्चिमीय विचारको के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए इसके अन्तस् मे प्रविष्ट हुआ, मुझे ऐसी प्रेरणा प्राप्त हुई कि मैं पाठको के समक्ष केवल आलोचनात्मक अध्ययन ही न रखू, अपितु नैतिक समस्याओ को सुलझाने की दृष्टि से भारतीय नैतिक धारणाओ से तुलना भी करू। इसलिए इस पुस्तक मे आरम्भ से लेकर अन्त तक, भारतीय तथा पश्चिमीय नैतिक विचारधारा का तुलनात्मक और समन्वयात्मक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जो पाठक को न ही केवल पश्चिमीय आचार-विज्ञान की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, अपितु उसे एक स्वतन्त्र धारणा बनाने के लिए भी प्रेरित करता है।

इस कृति मे मैंने प्राय सभी आचारशास्त्र-सम्बन्धी विषयो को प्रस्तुत किया है और उनकी रोचक तथा आकर्षक भाषा मे व्याख्या करने की चेष्टा की है। मैं ऐसा अनुभव करता हू कि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठक को न ही केवल आचार-विज्ञान का अधिकारात्मक ज्ञान प्राप्त होगा, अपितु जन-साधारण मे भारतीय तथा पश्चिमीय आचार-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की रुचि भी बढेगी। आचारशास्त्र का विषय एक ऐसा विषय है, जो एक ओर तो हमारे ठोस जीवन से सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर उन आधारभूत दार्शनिक धाराओ से सम्बन्ध रखता है, जोकि हमारे देश तथा पश्चिमीय जगत् के सहस्रो वर्षों के गम्भीर चिन्तन एव बौद्धिक मन्थन का साराश हैं। इसलिए ऐसा तुलनात्मक अध्ययन पूर्व और पश्चिम के सास्कृतिक आदान-प्रदान मे और

लिखने मे मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्री जी० सी० चैटरजी एम० ए० आई० ई० एस० (अवकाश-प्राप्त), अध्यक्ष 'बुक ट्रस्ट आफ इण्डिया' के प्रति भी आभार प्रकट करना है, क्योकि उन्होने इस विषय के अध्ययन मे मेरा मार्ग दर्शन किया है। इसी प्रकार डाक्टर पी० टी० राजू (पद्मभूषण) अध्यक्ष, दर्शन तथा मनोविज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक के लिखने मे अमूल्य परामर्श दिया है। अत: मैं उनके प्रति कृतज्ञ हू। इसी प्रकार आदरणीय डा० एन० वी० बैनर्जी अध्यक्ष, दर्शन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की अपार कृपा से मैं इस पुस्तक को लिखने मे सफल हो सका हू और उनको सहृदय धन्यवाद देता हू। मैं श्री आर० एस० कपूर, आचार्य महाराजा कालेज, को धन्यवाद दिए विना नही रह सकता, क्योकि उन्होने महाविद्यालय के पुस्तकालय की विशेष सुविधाए देकर, मुझे अपने ध्येय मे सफल होने के योग्य बनाया है। व्यक्तिगत रूप मे भी मैं श्री कपूर के प्रति आभार प्रकट करता हू, क्योकि उन्होने मुझे सदैव साहित्यिक खोज करने की प्रेरणा दी है।

इस पुस्तक के लिखने मे मुझे मेरी पत्नी श्रीमती भाग्य शर्मा एम० ए० ने जो सहायता दी है उसके बिना इसका एक अध्याय भी प्रकाशित होना सम्भव नही था। उनकी लेखनी के द्वारा ही इसकी पाण्डुलिपि मुद्रणालय मे भेजी जा सकी है। अत: मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हू। इस पुस्तक के पुनरवलोकन मे सहायता देनेवाली श्रीमती कृष्णा छावडा बी० ए० बी० टी० तथा सुश्री कैलाश मनूजा बी० ए० के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हू।

१२७ सी, मोती मार्ग
वापू नगर, जयपुर
११ मार्च, १९६१

ईश्वरचन्द्र शर्मा (जेतली)

विषय-सूची

क्रम संख्या **पृष्ठ**

पहला अध्याय— ९—३४

विषय-प्रवेश

आचार-विज्ञान की परिभाषा, आचार-विज्ञान का दर्शन से सम्बन्ध, आचार-विज्ञान और कला, मूल्य की धारणा, आचार-विज्ञान का अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध।

दूसरा अध्याय— ३५—५९

आचार-विज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार

वनस्पति आवश्यकता, भूख तथा मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रेरणा, इच्छा का स्वरूप, इच्छाओ का सघर्ष, आकांक्षा और कल्पना, सकल्प तथा कर्म, प्रेरक तथा उद्देश्य, उद्देश्य के प्रकार, नैतिक निर्णय का विषय, मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथा उसकी आलोचना।

तीसरा अध्याय— ६०—७६

आचार-विज्ञान की आधारभूत मान्यताएं

सकल्प का स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व, ईश्वर का अस्तित्व, नियतिवाद, स्वतन्त्रतावाद तथा आत्म-नियतिवाद की व्याख्या तथा आलोचना।

चौथा अध्याय— ७७—९८

आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीनतम भारतीय आचार-विज्ञान तथा उसकी सक्षिप्त व्याख्या, यूनानी नैतिक विचारधारा, सुकरात का आचार-विज्ञान, प्लेटो का आचार-विज्ञान, अरस्तू का दृष्टिकोण, मध्यकालीन नैतिक विचारधारा सेण्ट टामस एक्वीनास तथा दाते का दृष्टिकोण, मेकीएवली, आधुनिक नैतिक विचारधारा, अन्तर्दृष्टि-वादी सिद्धान्त, तर्कात्मक सिद्धान्त, उपयोगितावादी सिद्धान्त।

पांचवां अध्याय— ९९—१२४

सुखवादी नैतिक सिद्धान्त

सुखवाद की व्याख्या, नैतिक सुखवाद, सिजविक का दृष्टिकोण, बैन्थम का दृष्टिकोण, मिल का उपयोगितावाद तथा उसकी आलोचना।

छठा अध्याय १२५—१५०

आचार के अन्तर्दृष्ट्यात्मक सिद्धान्त

नैतिक सूझ का सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, बटलर का अन्त.करण का सिद्धान्त तथा आलोचना, कान्ट का नैतिक सिद्धान्त, नैतिकता की व्यापकता, शुभ सकल्प, निरपेक्ष आदेश का विश्वव्यापी नियम, निरपेक्ष आदेशवाद की आलोचना।

सातवां अध्याय— १५१—१६८

विकासवादी नैतिक सिद्धान्त

डारविन का विकासवाद, स्पैन्सर का नैतिक सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, अन्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त, अस्तित्व का सघर्ष, एलेज़ाण्डर का दृष्टिकोण तथा उसकी आलोचना। चान्सी डी लीक् का सिद्धान्त तथा स्वभाववादी नैतिकता।

आठवां अध्याय— १६९—१८२

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, हीगल का बाह्यात्मक प्रत्ययवाद तथा उसकी व्याख्या, ग्रीन का दृष्टिकोण, विश्वव्यापी आत्मचेतना तथा आत्मानुभूति का सिद्धान्त, निरपेक्षवाद तथा सुखवाद की अपूर्णता का समन्वय। ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त, ब्रैडले के सिद्धान्त की भगवद्गीता के सिद्धान्त से तुलना तथा आलोचना।

नवा अध्याय— १८३—२०३

मूल्यात्मक नैतिक सिद्धान्त

मूल्य की परिभाषा, निमित्त मूल्य तथा स्वलक्ष्य मूल्य, शुभ का स्वरूप तथा परम शुभ की धारणा, मोर का दृष्टिकोण, मूल्यो का वर्गीकरण तथा उनका नैतिक महत्त्व।

दसवां अध्याय— २०४—२१६

मानवीय अधिकारों का स्वरूप

अधिकार की परिभाषा, स्वाभाविक अधिकार, नागरिक अधिकार तथा राज-नीतिक अधिकार तथा उनकी व्याख्या, जीवित रहने का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, भागीदारी का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा उनकी व्याख्या।

ग्यारहवा अध्याय— २१७—२३९

मानवीय कर्तव्यों का स्वरूप

कर्तव्य की परिभाषा तथा उसका विधान से सम्बन्ध, कर्तव्यो की सापेक्षता, जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य, स्वतन्त्रता का सम्मान, सम्पत्ति का सम्मान, सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान, सत्य के प्रति सम्मान, प्रगति के प्रति सम्मान, कर्तव्यो का नैतिक महत्त्व, सुरक्षा तथा आत्मानुभूति, सम्पत्ति-सम्बन्धी विशेष कर्तव्य।

बारहवां अध्याय— २४०—२५५

नैतिक सद्‌गुण

धार्मिक जीवन की पूर्णता, सद्‌गुण के दो प्रकार के अर्थ, सद्‌गुण की सापेक्षता, चार मुख्य सद्‌गुण विवेक साहस सयम न्याय, इनका परस्पर-सम्बन्ध, सद्‌गुणो का नैतिक महत्त्व, व्यावहारिक सद्‌गुण, नैतिक सद्‌गुण, सद्‌गुण तथा व्यक्तित्व का विकास एव चरित्र का निर्माण, मोक्ष की धारणा।

तेरहवां अध्याय— २५६—२७५

दण्ड के सिद्धान्त तथा उनका नैतिक महत्त्व

दण्ड की आवश्यकता, विधान का महत्त्व, विधानात्मक न्याय, दण्ड की धारणा, दण्ड के सिद्धान्त, निरोधात्मक सिद्धान्त, सुधारात्मक सिद्धान्त, प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त, उनकी व्याख्या तथा उनका महत्त्व, युद्ध और नैतिकता।

चौदहवां अध्याय— २७६—२९४

व्यक्ति तथा समाज

व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध, सामूहिक नैतिकता तथा वैयक्तिक नैतिकता, वैयक्तिक नैतिकता के विकास की उपाधिया, आर्थिक परिस्थितिया, राजनीतिक परिस्थितिया, युद्ध, वैज्ञानिक उन्नति, कला और साहित्य, व्यक्ति तथा समाज

का परस्पर सम्बन्ध, सामाजिक सस्थाएं, कुटुम्ब एव परिवार, व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय, नागरिक सम्प्रदाय, धार्मिक सस्था, राज्य-सस्था, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाए।

पन्द्रहवा अध्याय— २९५—३०७

व्यक्ति का समाज में स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्य

ब्रैडले का दृष्टिकोण, व्यक्ति का सामाजिक स्थान, पूर्ण तथा अश का सम्बन्ध, व्यक्ति की आत्मानुभूति तथा सम्पूर्ण समाज का विकास, आत्मानुभूति का वास्तविक स्वरूप।

सोलहवां अध्याय— ३०८—३२४

परिवार तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यो का महत्त्व

परिवार तथा समाज का सम्बन्ध, काम-वृत्ति का नैतिक महत्त्व, विवाह की प्रथा का इतिहास तथा उसका नैतिक आधार, स्थायी एकपत्नी-विवाह की आवश्यकता, दाम्पत्य अधिकार तथा उनकी व्याख्या, विवाह-विच्छेद की समस्या, रूढिवादी दृष्टिकोण, क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, उदार दृष्टिकोण दाम्पत्य रति की व्याख्या।

सत्रहवा अध्याय— ३२५—३४०

नैतिक प्रगति

नैतिक प्रगति मे विश्वास, नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण, नैतिक प्रगति की त्रिविध प्रेरणा, आदर्शात्मक तत्त्व, सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व, व्यक्तिगत व्यवहार एवं अभ्यास का तत्त्व, नैतिक प्रगति एक तथ्य तथा सम्भावना, विशेषकी की आवश्यकता, उसकी आलोचना तथा नैतिक महत्त्व।

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

आचार-विज्ञान की परिभाषा तथा उसका क्षेत्र

आचार-विज्ञान अथवा आचारशास्त्र, पश्चिमीय दर्शन मे प्राचीन काल से ही एक पृथक् अस्तित्व रखता है। इससे पूर्व कि हम आचार और विज्ञान की परिभाषा दे, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस विषय का दर्शन से सम्बन्ध स्पष्ट करे। ऐसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया है, क्योकि आचार-विज्ञान, अन्य विज्ञानो की भाति, एक सीमित एव विशिष्ट क्षेत्र तक परिमित अध्ययन नही है। इसके अध्ययन का विषय, मानवीय व्यवहार तथा उसका औचित्य है। दूसरे शब्दो मे, यह मनुष्य के समस्त सामाजिक अनुभव के प्रति अनेक प्रश्न उठाता है और उनका उत्तर देता है। आचार-विज्ञान हमे यह बतलाता है कि किस प्रकार का व्यवहार सदाचार कहा जा सकता है तथा किस प्रकार का दुराचार, किस कर्म को सत् तथा किसको असत् स्वीकार किया जाता है, शुभ क्या है, अशुभ क्या है और यह शुभ-अशुभ किस चरम लक्ष्य की ओर सकेत करते है। सक्षेप मे, हम आचार-विज्ञान को मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य एव आदर्श का अध्ययन मान सकते हैं। इस दृष्टिकोण से, आचार-विज्ञान अथवा आचारशास्त्र निस्सदेह जीवन-सम्बन्धी दर्शन है।

दर्शन शब्द का अर्थ, पश्चिमीय दृष्टिकोण से, बुद्धिमत्ता के प्रति प्रेम (Love of wisdom) माना गया है। अग्रेजी भाषा मे दर्शन को फिलासफी (Philosophy) कहा गया है। यह शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दो, फिल (Phil) तथा सोफिया (Sophia) का समास है। फिल का अर्थ प्रणय अथवा प्रेम है और सोफिया का अर्थ ज्ञान की देवी एव ज्ञान है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भी हम दर्शन को यथार्थता का ज्ञान कह सकते है। यह शब्द दृश् धातु पर आधारित है, जिसका अर्थ देखना एव जानना होता है। दार्शनिक (Philosopher) वही है, जो यथार्थता को जानता है एव जो वास्तविकता को देखनेवाला है। दर्शन वास्तव मे विश्व के रहस्य की दृष्टि है, उसका उद्देश्य विश्व की आधारभूत सत्ता का स्वरूप बतलाना और ब्रह्माड मे मानवीय जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करना है। दूसरे शब्दो मे, दर्शन का विषय, विश्व एव ब्रह्माड का ज्ञान तथा जीवन के

उद्देश्य एव चरम लक्ष्य का जानना है। दर्शन के विश्व एव ब्रह्मांड-सम्बन्धी अग को तत्त्व-दर्शन (Metaphysics) कहा जाता है और उसके जीवन-सम्बन्धी अग को व्यावहारिक दर्शन (Practical Philosophy) कहा जाता है। व्यावहारिक दर्शन मे ज्ञान, भाव तथा क्रिया-सम्बन्धी तीन मुख्य विज्ञानो को क्रमश तर्कशास्त्र एव तर्क-विज्ञान (Logic), सौंदर्यशास्त्र एव सौदर्य-विज्ञान (Aesthetics) तथा आचारशास्त्र एव आचार-विज्ञान (Ethics) कहा जाता है। तर्कशास्त्र एव तर्क-विज्ञान का उद्देश्य हमे यह बतलाना है कि विचार का आदर्श क्या है। सौदर्यशास्त्र एव सौदर्य-विज्ञान हमे यह बतलाता है कि भाव (Feeling) का आदर्श क्या है। और आचार-विज्ञान हमे यह बतलाता है कि क्रिया एव कर्म का उद्देश्य क्या है। अत हम कह सकते है कि तर्कशास्त्र सत्य को, सौंदर्य-शास्त्र सुन्दरता को तथा आचारशास्त्र एव विज्ञान शुभ एव शिव को आदर्श मानता है। इस भाति ये तीनो सत्य, सुन्दर, शिवम् (Truth, Beauty and Goodness) का अध्ययन करते हैं।

ऊपर दिए गए सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार-विज्ञान मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है और वह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से मानवीय व्यवहार की परख करता है। अत आचार-विज्ञान की अनेक परिभाषाएं दी गई हैं। मैकन्जी के अनुसार, "आचार-विज्ञान मानवीय जीवन मे उपस्थित आदर्श का विज्ञान एव सामान्य अध्ययन है।" रेशडाल के अनुसार, "आचार-विज्ञान शुभ तथा अशुभ का वह सिद्धात है, जिसका लक्ष्य मानव-मात्र का कल्याण हैं।" ड्यूई के अनुसार, "आचार-विज्ञान का विषय व्यवहार का सत् और शुभ खोज निकालना है।" इसी प्रकार डाक्टर मोर ने आचार-विज्ञान को परम शुभ (Supreme Good) का विज्ञान कहा है।

आचार-विज्ञान की ऊपर दी गई सभी परिभाषाए वास्तव मे एक ही आशय को अभिव्यक्त करती हैं। इन सबका अभिप्राय यह है कि आचार-विज्ञान के अध्ययन का विषय मनुष्य का वह सामाजिक व्यवहार है, जिसके प्रति हम सत् या असत्, शुभ या अशुभ होने का निर्णय दे सकते हैं। जब मैकन्जी आचारशास्त्र एवं आचार-विज्ञान को मानवीय जीवन के आदर्श का अध्ययन कहता है, तो उसका अभिप्राय यही है कि इसमे (आचार-विज्ञान मे) हम मनुष्य के व्यवहार के प्रति सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ का निर्णय देते हैं। इसी प्रकार महाशय रेशडाल के द्वारा आचारशास्त्र एव आचार-विज्ञान को मानवीय कल्याण के लिए शुभ-अशुभ का सिद्धात स्वीकार किया जाना, आचार-विज्ञान को मानवीय व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान ही प्रमाणित करता है। ड्यूई तथा मोर तो स्पष्टत सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ को आचार-विज्ञान का विषय मानते हैं। उनकी इस स्वीकृति मे यह तथ्य निहित है कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार के आदर्श से है।

वास्तव मे, किसी भी विषय की परिभाषा देना अत्यन्त कठिन होता है। उसका कारण यह है कि परिभाषा मे किसी विषय की सीमाओ को निर्धारित करने की चेष्टा की जाती है और संसार का कोई भी विषय अथवा विज्ञान ऐसा नही है जिसकी सीमा

किसी अन्य विषय मे प्रविष्ट न होती हो, विशेषकर आचार-विज्ञान तो व्यवहार के औचित्य से सम्बन्ध रखता है और व्यवहार इतना व्यापक विषय है कि उसका अध्ययन अनेक विज्ञानो द्वारा और अनेक दृष्टिकोणो से किया जाता है। फिर भी हम इस विषय के अध्ययन से पूर्व, उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर, यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान मनुष्य का व्यवहार-सम्बन्धी वह अध्ययन है जोकि मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य का प्रतिपादन करता है और सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ-सम्बन्धी निर्णय निर्धारित करता है। इस परिभाषा की अधिक व्याख्या करने से पूर्व, आचार-विज्ञान तथा सत् और शुभ शब्दो की व्याख्या करना भी, इस विषय के अध्ययन के लिए उपयोगी रहेगा।

यदि हम शब्दार्थ के आधार पर आचार-विज्ञान के अग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'एथिक्स' का विश्लेषण करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि इसका सम्बन्ध चरित्र से है। एथिक्स शब्द यूनानी भाषा के इथॉस (Ethos) से सम्बन्ध रखता है, जिसका अर्थ चरित्र है। इसी प्रकार एक अन्य शब्द 'मॉरल फिलासफी' (Moral Philosophy) भी आचार-विज्ञान का पर्यायवाची है, जिसका आधार लातीनी भाषा का शब्द मोर्स (Mores) है। इस शब्द का अर्थ आदत एव रीति है। अत शब्द-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी आचार-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक व्यवहार से एव व्यवहार के सत्-असत् और शुभ-अशुभ से रहता है। आचार-विज्ञान उन नियमो का प्रतिपादन करता है, जो हमारे कर्म एव व्यवहार को नैतिक बनाते है। इससे पूर्व कि हम आचार-विज्ञान के उन सिद्धातो की व्याख्या करे, जोकि कर्म की नैतिक परीक्षा करते है, हम सत् और शुभ शब्दो के विश्लेषण के द्वारा भी आचार-विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा की पुष्टि कर सकते है।

हमने यह बताया है कि आचार-विज्ञान हमारे व्यवहार के सत्-असत्-सम्बन्धी निर्णयो का प्रतिपादन करता है। दूसरे शब्दो मे, वह ऐसे नियमो की व्याख्या करता है, जोकि हमारे व्यवहार को उचित एव ग्राह्य बनाते है। वास्तव मे सत् शब्द का अग्रेजी पर्यायवाची शब्द राइट (Right) है। यह शब्द लातीनी भाषा के अन्य शब्द रेक्टस (Rectus) से निकला है। रेक्टस का शब्दार्थ सीधा अथवा नियमानुकूल है। अत जब हम यह कहते हैं कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार के सत् से है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि आचार-विज्ञान उन सिद्धान्तो का पतिपादन करता है जो हमारे व्यवहार को नियमानुकूल एव सीधा बनाते है। सत् शब्द का विश्लेषण, आचार-विज्ञान के एक अग की व्याख्या करता है। नियम वास्तव मे साधन होते हैं और जहा साधन है, वहा साध्य एव लक्ष्य का होना भी आवश्यक है। यदि व्यवहार का साधन सत् है, तो उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए ?—इस प्रश्न का उत्तर हमे शुभ शब्द के विश्लेषण मे मिलता है। इस शब्द का अग्रेजी पर्यायवाची गुड (Good) अथवा उत्तम है, जोकि जर्मन भाषा के गट (Gut) शब्द से निकला है। इस शब्द का अर्थ, किसी उद्देश्य के लिए उपयोगी होना है। हम किसी वस्तु को शुभ एव गुड इसलिए कहते है कि वह हमारे किसी

उद्देश्य की पूर्ति मे उपयोगी होती है। जब हम कहते हैं कि अमुक पाठशाला उत्तम है, तो हमारा यह अभिप्राय होता है कि वह शिक्षा-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए उपयोगी है। हमारे नित्यप्रति के जीवन मे, उत्तम का अर्थ न ही केवल उद्देश्य के लिए उपयोगी होता है, अपितु वह उद्देश्य शब्द का पर्यायवाची भी माना जाता है। जो व्यक्ति एक पुस्तक लिख रहा हो, तो उसके लिए वह पुस्तक लिखना उत्तम होता है, क्योकि वह उसका एक उद्देश्य है। हमारे जीवन मे अनेक वस्तुए और अनेक कर्म उत्तम माने जाते है, अर्थात् हमारे व्यवहार के अनेक उद्देश्य होते हैं। यदि हम शुभ एव उत्तम शब्द के इस अर्थ को स्वीकार करे, तो हम यह कह सकते है कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार के उद्देश्य से है। किन्तु हम यह जानते है कि हमारे जीवन मे और अन्य व्यक्तियो के जीवन मे अनेक कर्म उत्तम माने जाते है, अर्थात् अनेक उद्देश्य वाछनीय माने जाते हैं। आचार-विज्ञान इन अनेक विशेष उद्देश्यो से सम्बन्ध नही रखता। इसके विपरीत, उसका सम्बन्ध जीवन के उस परम उद्देश्य एव चरम लक्ष्य से है जिसको दृष्टि मे रखते हुए हम अपने समान जीवन का सचार करते है। यह परम उद्देश्य एव चरम लक्ष्य ही परम शुभ कहा गया है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान के अनुसार यह परम शुभ एव चरम लक्ष्य, तर्क (Reason) एव तार्किक नियम अथवा सुख (Happiness) अथवा आत्मानुभूति (Self-realization) हो सकता है। इन विभिन्न नैतिक सिद्धान्तो का प्रातिपादन एव उनकी व्याख्या यथास्थान की जाएगी, यहा पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि आचार-विज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय, मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य, परम उद्देश्य एव परम शुभ है। यही आचार-विज्ञान का आदर्श है और इसी आधार पर उसे व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान माना गया है।

आचार-विज्ञान की यह परिभाषा उस समय तक अधूरी रह जाती है जब तक कि 'आदर्शवादी विज्ञान' की व्याख्या न की जाए। 'विज्ञान' शब्द का अर्थ सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध तथा पूर्ण ज्ञान होता है। विज्ञानो को दो वर्गो मे विभक्त किया जाता है जो निम्नलिखित है :

(1) स्वभाववादी एव वर्णनात्मक विज्ञान (Naturalistic or Positive Sciences)

(11) आदर्शवादी एव नियामक विज्ञान (Normative Sciences)

स्वभाववादी एव वर्णनात्मक विज्ञान वह विज्ञान होता है जोकि एक विषय की वास्तविक व्याख्या करता है। वह किसी आदर्श के आधार पर, विषय के औचित्य के प्रति निर्णय नही देता, वह तो तटस्थ दृष्टिकोण से तथ्यो की व्याख्या करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उनके स्वभाव के प्राकृतिक नियमो का प्रतिपादन करता है। उदाहरणस्वरूप, वनस्पति-विज्ञान एक स्वभाववादी अथवा वर्णनात्मक विज्ञान है। उसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की वनस्पतियो का वर्गीकरण करना तथा उनके उद्भव, उनके विकास एवं उनके मुरझाने आदि के प्राकृतिक आधार की व्याख्या करना होता है।

स्वभाववादी विज्ञान मे किसी विषय के प्रति जो निर्णय दिए जाते है, वे निर्णय व्याख्यात्मक मात्र होते है। इसके विपरीत नियामक अथवा आदर्शवादी विज्ञान वह विज्ञान होता है जोकि किसी विशेष मापदण्ड को लेकर, उसीके आधार पर अपने विषय के प्रति औचित्य-सम्बन्धी निर्णय प्रतिपादित करता है। जहा वर्णनात्मक विज्ञान हमे यह बताता है कि अमुक विषय अमुक प्रकार है, वहा आदर्शवादी विज्ञान यह बताता है कि अमुक विषय को अमुक प्रकार होना चाहिए। इस विज्ञान मे सदैव औचित्य-सम्बन्धी (Appreciative) निर्णय प्रतिपादित किए जाते है, जबकि वर्णनात्मक विज्ञान मे केवल व्याख्यात्मक (Descriptive) निर्णय ही निर्धारित किए जाते है। उदाहरणस्वरूप, तर्कशास्त्र विचार का एक आदर्शवादी विज्ञान है, जो हमे यह बतलाता है कि विचार को यथार्थ एवं सत्य होना चाहिए। अत जब हम यह कहते है कि आचार-विज्ञान व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि आचार-विज्ञान व्यवहार के औचित्य-सम्बन्धी निर्णयो का प्रतिपादन करता है। व्यवहार को सत् अथवा असत्, शुभ अथवा अशुभ बताना, उसके प्रति औचित्य-सम्बन्धी निर्णय देना है। स्वभाववादी तथा आदर्शवादी विज्ञानो का यह अन्तर, एक अन्य रीति से भी स्पष्ट किया जा सकता है।

वर्णनात्मक विज्ञान वह विज्ञान है, जिसकी विशेषता तथ्यो की क्रमबद्ध व्याख्या मे है। अत इस विज्ञान को तथ्यात्मक विज्ञान कहा जाता है और इसके निर्णय भी तथ्यात्मक निर्णय ही होते हैं। इसके विपरीत नियामक विज्ञान का सम्बन्ध तथ्यो से न होकर मूल्यो (Values) से होता है। अत इसमे मूल्यात्मक निर्णय निर्धारित होते है। अत. इस विज्ञान को मूल्यो का विज्ञान और वर्णनात्मक विज्ञान को तथ्यो का विज्ञान कहा जा सकता है। उपर्युक्त विज्ञानो के वर्गीकरण के आधार पर, हम यह कह सकते है कि आचार-विज्ञान मूल्यो का विज्ञान है और उसके निर्णय औचित्य-सम्बन्धी एव मूल्यात्मक निर्णय होते हैं। आचार-विज्ञान मनुष्य के व्यवहार का मूल्याकन करता है और इस परिणाम पर पहुचता है कि सदाचार एक स्वलक्ष्य मूल्य है। हम मूल्यो के विषय मे यथास्थान चर्चा करेगे। यहा पर केवल इतना कह देना उचित है कि आचार-विज्ञान सर्वात्मना मूल्यात्मक विज्ञान है।

आचार-विज्ञान और कला

आचार-विज्ञान की परिभाषा को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए तथा उसके विषय की परिधि एव उसके दृष्टिकोण को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम विज्ञान तथा कला के परस्पर भेद को बतलाकर इस बात का निर्णय कर ले कि आचार-विज्ञान, विज्ञान है अथवा कला। यह प्रश्न विशेषकर इसलिए खडा हो जाता है कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार से है और व्यवहार केवल सैद्धान्तिक सीमाओ मे परिमित नही किया जा सकता। तर्कशास्त्र भले ही एक अमूर्त सैद्धान्तिक और औपचारिक विज्ञान रह सकता है, किन्तु आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन से होने के कारण कदापि औपचारिक-मात्र नही हो सकता। शिष्टाचार मे

औपचारिकता का स्थान तो अवश्य होता है, किन्तु शुभ कर्म सदैव वही होता है, जिसको व्यावहारिक जीवन मे सद्भावना से उतारा जाता है। अत: यह प्रश्न उठता है कि क्या सदाचार एक ऐसी कला है, जोकि किसी व्यक्ति मे कम और किसीमे अधिक पाई जाती है अथवा वह केवल एक ज्ञान है जिसके अध्ययन से व्यक्ति स्वत ही उदात्त, सच्चरित्र और सदाचारी बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अधिक सदाचारी इसलिए मान लिया जाए कि उसमे सदाचारी होने की अधिक दक्षता है, तो उसका अभिप्राय यह होगा कि आचार-विज्ञान एक कला है। इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए हमे विज्ञान तथा कला की तुलना करनी चाहिए।

हमने विज्ञान की सक्षिप्त व्याख्या पहले ही की है और यह बताया है कि विज्ञान किसी विषय का सुव्यवस्थित ज्ञान होता है। विज्ञान का उद्देश्य किसी विषय के प्रति स्पष्ट, संगत और नियमित ज्ञान प्रतिपादित करना है। दूसरे शब्दो मे, वह हमे किसी विषय की पूरी-पूरी जानकारी देता है। विज्ञान की विशेषता केवल जानने-मात्र एवं ज्ञान तक ही सीमित है। इसके विपरीत कला एक सुव्यवस्थित, दक्षता एव अभ्यास है, जिनका सम्बन्ध व्यावहारिक क्रिया से रहता है। यदि विज्ञान की विशेषता जानने-मात्र में है, तो कला की विशेषता किसी क्रिया के करने मे है। विज्ञान तथा कला का यह भेद, इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी भी विषय का विज्ञान तथा उसकी कला सदैव एक-दूसरे के साथ नही रह सकते। ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति किसी विषय के विज्ञान को भली भाति जानता हो, किन्तु वह उसी विषय की कला से सर्वथा अनभिज्ञ हो। उदाहरणस्वरूप एक भौतिक-शास्त्र का विद्वान, जल मे तैरने के भौतिक नियमो को भले ही जानता हो, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि वह तैरने की कला को भी जानता हो। सम्भवतया वह यदि जलाशय मे गिर जाए, तो तैरने के भौतिक नियमो को कण्ठस्थ करने के उपरान्त भी अपने-आपको डूबने से न बचा सके। इसके विपरीत एक अशिक्षित और मूर्ख गवार, जिसने कि भौतिक-विज्ञान का नाम भी न सुना हो, जल मे तैरने की कला मे निपुण हो सकता है। न ही केवल सैद्धान्तिक विज्ञानो मे, अपितु व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञानो मे भी, ज्ञान और कला का, सिद्धान्त और व्यावहारिकता का, तथा जानने और कार्यान्वित करने का यही अन्तर रहता है। उदाहरणस्वरुप चिकित्सा-विज्ञान मे जो छात्र सर्वप्रथम रहा हो, वह सदैव सफल चिकित्सक नही बन सकता। इसके विपरीत चिकित्सा-विज्ञान की कक्षा मे सबसे कम अक प्राप्त करनेवाला व्यक्ति, सबसे अधिक सफल और दक्ष चिकित्सक प्रमाणित हो सकता है। यही बात अध्यापको के प्रशिक्षण के सम्बन्ध मे भी सत्य प्रमाणित होती है। जो व्यक्ति अध्यापको के प्रशिक्षण मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर ले, सम्भवतया वह पढाने मे असफल हो सकता है। इस दृष्टि से कोई भी विज्ञान ऐसा नही है, जिसके अध्ययन से व्यक्ति उसी विज्ञान के विषय मे व्यावहारिक दक्षता भी प्राप्त कर ले। दूसरे शब्दो मे व्यावहारिक दक्षता का विशुद्ध विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही रहता। विज्ञान तथा कला के इस भेद के आधार पर हम आचार-विज्ञान को कदापि कला नही मान सकते।

उसका कारण यह है कि आचार-विज्ञान का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से सदाचारी, संत अथवा महात्मा नही वन सकता। इसके विपरीत सदाचारी, सत अथवा महात्मा आचार-विज्ञान के अध्ययन किए विना भी नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है और आचार-विज्ञान के पण्डित को आचार-सम्बन्धी शिक्षा दे सकता है।

आचार-विज्ञान कदापि कला नही माना जा सकता, क्योकि आचार का सम्बन्ध मनुष्य की सद्भावना से होता है, न कि किसी प्रकार की दक्षता से। तर्कशास्त्र भले ही कुछ सीमा तक वाद-विवाद करने की दक्षता पर निर्भर हो सकता है। इसी प्रकार सौंदर्य-शास्त्र भी ललित कलाओ से सम्वन्धित रहता है, किन्तु आचार-विज्ञान सकल्प पर आधारित होने के कारण कला से सर्वथा भिन्न है। सदाचारी व्यक्ति वह नही होता, जोकि सदाचार का आचरण कर सकता है, अपितु सदाचारी व्यक्ति वह है जोकि सद्भावना से प्रेरित होकर वास्तव मे सदाचार का आचरण करता है। इसके विपरीत एक अच्छा विचारक वही है, जोकि यथार्थ विचार कर सकता है, चाहे वह वास्तव मे ऐसा न भी कर रहा हो। इसी प्रकार अच्छा कलाकार वही है, जिसमे विशेप कला को प्रदर्शित करने की दक्षता है, चाहे वह वास्तव मे उस कला का प्रदर्शन न भी कर रहा हो। मैकन्ज़ी ने इसी समस्या का समाधान करते हुए यह वताया है कि आचार-विज्ञान इसलिए कला नही माना जा सकता कि सदाचार एव धर्म (Virtue) के दो ऐसे विशेष गुण है जो दक्षता एव कला मे कोई महत्त्व नही रखते।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते है कि सद्गुण क्रियाशीलता मे निहित होता है। हम किसी भी व्यक्ति को उस समय तक नैतिक नही कह सकते, जव तक कि वह वास्तव में नैतिकता के धर्म का अपने जीवन मे उपयोग न कर रहा हो, अर्थात् जब तक कि वह नैतिकता मे क्रियाशील न हो। किन्तु कला मे क्रियाशीलता की अपेक्षा केवल किसी दक्षता की उपस्थिति ही पर्याप्त होती है। मैकन्ज़ी के शब्दो मे "एक अच्छा चित्रकार वही है, जोकि सुचारु रूप से चित्र वना सकता है; पर एक सदाचारी व्यक्ति वह नहीं है जो सदाचार का आचरण कर सकता है, अपितु वह ऐसा व्यक्ति है, जो सदाचार का कर्म करता है। एक अच्छा चित्रकार उस समय भी अच्छा रहता है जवकि वह सो रहा हो अथवा यात्रा कर रहा हो अथवा जव वह किसी कारण अपनी कला मे प्रवृत्त न हो। सदाचारी मनुष्य जव सो रहा हो अथवा यात्रा पर हो, तव तक सदाचारी नही माना जा सकता, जव तक कि सोना अथवा यात्रा पर जाना सदाचार मे सम्मिलित न हो।"[1]

धर्म को यूनान के विख्यात दार्शनिक सुकरात ने एक प्रकार का ज्ञान माना है। उसके इस दृष्टिकोण का अभिप्राय यह था कि कोई भी व्यक्ति तव तक धार्मिक एव नैतिक नही हो सकता, जब तक कि वह यह न जानता हो कि धर्म क्या है। किन्तु हम धर्म को केवल ज्ञान तक ही सीमित नही रख सकते। अत अरस्तू ने यह कहा है, "धर्म एक प्रकार

---

१. A Manual of Ethics : By J S. Mackenzie, VI Edition, page 8-9.

का अभ्यास है, वह सकल्प द्वारा किया गया अभ्यास है।" दूसरे शब्दो मे धर्म, ज्ञान और प्रवृत्ति, चेतना और क्रियाशीलता एव विचार तथा सकल्प दोनो का समन्वय है। इसी कारण सस्कृत के किसी विद्वान ने अपूर्ण नैतिकता को निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति।"

अर्थात् "मैं धर्म को जानता तो हू, किन्तु उसमे सलग्न नही हू; मैं अधर्म को भी जानता हू, किन्तु उससे निवृत्त नही हू।" इस कथन का अभिप्राय यह है कि धर्म एव नैतिकता का सम्बन्ध केवल ज्ञान से नही है, अपितु क्रिया एव व्यवहार से है। कला मे भी दक्षता का सम्बन्ध व्यवहार से तो होता है, किन्तु वह सर्वथा व्यवहार पर निर्भर नही होती। अत आचार-विज्ञान कला से विपरीत है।

धर्म का दूसरा गुण यह है कि उसका विशेष लक्षण सकल्प मे है। धार्मिक एवं नैतिक कर्म वही होता है जोकि सकल्प द्वारा एवं निर्वाचन द्वारा किया जाता है। यदि किसी कर्म का सकल्प शुभ सकल्प न हो, तो उसे नैतिक नही माना जा सकता। सद्भावना और शुभ सकल्प नैतिकता के केन्द्र है। नैतिक कर्म का मूल्याकन पूर्णतया सद्भावना पर ही निर्भर रहता है। पश्चिम के विख्यात दार्शनिक एमेनुअल कांट ने शुभ सकल्प के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है .

"इस विश्व मे तथा इसके बाहर शुभ सकल्प के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जिसको कि हम निरपेक्ष रूप से शुभ एव श्रेयस्कर मान सकते हैं। शुभ सकल्प इसलिए शुभ नही माना जाता कि उसका परिणाम एव उसकी कृति क्या होती है। न ही उसका मूल्यांकन किसी उद्देश्य की पूर्ति की योग्यता से किया जाता है, अपितु उसके मूल्याकन का आधार सकल्प ही होता है।"[१] शुभ संकल्प का जितना महत्त्व धर्म एव नैतिकता मे है, उतना किसी कला मे नही होता। दुराचारी और दुष्ट व्यक्ति भी कलाकार हो सकता है, किन्तु उत्तम से उत्तम सद्भावना के द्वारा एव दृढ सकल्प के होते हुए भी कोई व्यक्ति अच्छा कलाकार नही बन सकता। कला में अन्तिम निर्णय क्रिया की सफलता के आधार पर दिया जाता है, जबकि नैतिकता के क्षेत्र मे कर्म का मूल्याकन अन्त प्रेरणा एव सकल्प पर किया जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सदाचार की कोई कला नही हो सकती। अत आचार-विज्ञान कला न होकर एक विज्ञान ही माना

---

१. "There is nothing good in the world, and even out of it, that can be regarded good without qualification, but goodwill .. a goodwill is good not because of what it performs or effects, not by its aptness for the attainment of some proposed end, but simply by virtue of the volition."

—Immanual Kant : Metaphysics of Morals, I.

जाएगा।

मूल्य की धारणा

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान मूल्यात्मक विज्ञान होने के कारण पूर्णतया मूल्य की धारणा पर आश्रित है। अत: इस विषय के विस्तार-पूर्वक अध्ययन से पूर्व मूल्य शब्द की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। वैसे तो आचार-विज्ञान की सभी समस्याए मूल्य की समस्याए है और उसके सभी सिद्धान्त व्यवहार के परम मूल्य के सिद्धान्त है। इन सभी सिद्धान्तो की व्याख्या तो यथास्थान की जाएगी, किन्तु यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि सभी मूल्यात्मक विज्ञानो मे, मूल्य शब्द का क्या आशय होता है। यदि हम किसी सामान्य व्यक्ति से मूल्य शब्द का अर्थ पूछें, तो वह हमे उत्तर देगा कि मूल्य वही है, जो हमारी किसी इच्छा को तृप्त करता है। रोटी एक मूल्य है क्योकि वह हमारी भूख को तृप्त करती है, इसी प्रकार जो भी वस्तुए मानवीय इच्छाओ को तृप्त करती है वे मूल्य हैं।

मूल्य की यह सरल परिभाषा सामान्य व्यक्ति के लिए तो ग्राह्य अवश्य है और प्राचीन काल मे नैतिकता के क्षेत्र मे भी इसी परिभाषा के आधार पर विभिन्न कर्मों एव सस्कारो का मूल्याकन किया जाता था। अत उन रीति-रिवाजो को शुभ माना जाता था जोकि किसी मानवीय इच्छा की पूर्ति करते थे। किन्तु मनुष्य के विचार के विकास के साथ-साथ मूल्य की परिभाषा भी विकसित होती गई है। मूल्य की पहली परिभाषा पर विचार करते हुए हम इस परिणाम पर पहुच सकते है कि जो वस्तु मनुष्य की इच्छा की पूर्ति करती है, वास्तव मे वह वही होती है जोकि उसके जीवन के लिए उपयोगी होती है। मूल्य की यह दूसरी परिभाषा भी विस्तृत परिभाषा नही है। आचार-विज्ञान के चिन्तको ने मूल्य की उच्चतम परिभाषा इस प्रकार दी है

"वही वस्तु अन्तिम रूप से तथा स्वलक्ष्य दृष्टि से मूल्यवान है, जोकि व्यक्तियो को विकास अथवा आत्मविकास की ओर ले जाती है।"[1] मूल्य की यह परिभाषा आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व रखती है, क्योकि सदाचार का सम्बन्ध उन सामान्य मूल्यो से नही है जोकि मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति करते हैं। इसके विपरीत नैतिक व्यक्ति तो विषय-भोग आदि और सवेदनात्मक तृप्ति से ऊपर उठ जाता है। हम उस व्यक्ति को नैतिक नही कहते, जोकि अपनी पाशवीय इच्छाओ, खाने-पीने तथा विषय-भोग आदि की तृप्ति मे सलग्न हो। ऐसा व्यक्ति तो अनैतिक ही कहा जाएगा। इसलिए भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन के चरम लक्ष्य की ओर सकेत करते हुए,

---

१. "That alone is ultimately and intrinsically valuable that leads to the development of selves or to self-realization."
—Fundamentals of Ethics by Urban, 1956 Edition, page 18.

विषय-भोग आदि की तृप्ति को आदर्श जीवन के विरुद्ध बताया है और कहा है कि इन पाशवीय प्रवृत्तियो मे सलग्न व्यक्ति नष्ट होता है और आत्मविकास एव आत्मानुभूति (Self-realization) को प्राप्त नही कर सकता। श्रीकृष्ण के शब्दो मे

"ध्यायतो विषयान् पुस सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते काम कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति समोह सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद्‌बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥"

अर्थात् "विषयो का चिन्तन करने से उनमे सगति हो जाती है सगति से काम-वासना पैदा होती है, काम से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, स्मृति के नाश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने से (मनुष्य) सब कुछ खो देता है।"

इस दृष्टिकोण से परम मूल्य और चरम लक्ष्य वही है जोकि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक होता है। प्रस्तुत पुस्तक मे हम पश्चिमीय आचार-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तो का मूल्याकन इसी परम मूल्य की दृष्टि से करेंगे । हमारी आलोचना निष्पक्ष रूप से इसी परम मूल्य की ओर लक्षित होगी। अन्त मे हमे भारतीय आचार-विज्ञान की तुलना भी करनी होगी। उसके पश्चात् ही हम परम मूल्य के स्वरूप-लक्षण को जान सकेंगे। इससे पूर्व कि हम पश्चिमीय आचार-विज्ञान के विभिन्न अगो का विवेचन करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम आचार-विज्ञान की अन्य विज्ञानों से तुलना करके और उनसे उसका सम्बन्ध बतलाकर आचार-विज्ञान के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से निर्धारित करे।

आचार-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

हमने ऊपर बताया है कि आचार-विज्ञान एक विशेष प्रकार का विज्ञान है और उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। क्योकि इस विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से है और व्यवहार ही मनुष्य के अनुभव का अधिकाश होता है, इसलिए आचार-विज्ञान का विषय इतना विस्तृत विषय है कि उसका सम्बन्ध ज्ञान की अनेक शाखाओ से होता है। अन्य विज्ञान तो मानवीय अनुभव के किसी विशेष अग से सम्बन्धित रहते है; किन्तु व्यवहार एव क्रिया मानवीय अनुभव का सर्वेसर्वा होने के कारण वास्तव मे एक सम्पूर्ण अनुभव हैं। अत आचार-विज्ञान को सकुचित दृष्टि से विज्ञान भी नही कहा जा सकता। वह तो व्यवहार-सबधी दर्शन है और ऐसा दर्शन है कि जिसका सम्बन्ध ज्ञान की सभी अन्य शाखाओ से एव विज्ञानो से रहता है। कुछ विज्ञान ऐसे है, जिनपर कि आचार-विज्ञान कुछ सीमा तक आश्रित रहता है, कुछ के साथ उसका समानता का सम्बन्ध है और कुछ विज्ञान आचार-विज्ञान पर निर्भर रहते है। हम आचार-विज्ञान और अन्य विज्ञानो का सम्बन्ध अपने ही क्रम से लेगे। सर्वप्रथम हम भौतिक-विज्ञान तथा आचार-विज्ञान के सम्बन्ध

की व्याख्या करेंगे ।

आचार-विज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान

हम यह जानते हैं कि भौतिक-विज्ञान का सम्बन्ध, द्रव्य की स्वरूप-व्याख्या करना तथा उसकी गतिविधि के नियमो को निर्धारित करना है । प्रथम दृष्टि से सम्भवतया सामान्य व्यक्ति यह कह सकता है कि भौतिक-विज्ञान का आचार-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही हो सकता और यदि कोई ऐसा सम्बन्ध हो भी तो वह केवल दूरवर्ती सम्बन्ध ही हो सकता है । मैकन्जी ने भी भौतिक-विज्ञान का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है, "निस्सन्देह आचार-विज्ञान का भौतिक-विज्ञान से उस सीमा तक परोक्ष सम्बन्ध है, जहा तक कि भौतिक नियमो का ज्ञान यह भविष्यवाणी करने मे समर्थ होता है कि उनका प्रभाव विभिन्न प्रकार के व्यवहार पर कैसा होगा । किन्तु इस प्रकार का ज्ञान केवल व्यवहार की विस्तृत व्याख्या पर ही प्रभाव डालता है और उन सामान्य नियमो पर नही, जोकि हमारे व्यवहार का निर्देश करते हैं । आधुनिक काल मे एक विद्वान व्यक्ति समुद्र तथा नक्षत्रो से कम भयभीत होगा और दूषित वायु तथा अशुद्ध जल से अधिक भयभीत होगा।"[1] किन्तु भौतिक-विज्ञानो मे और विशेषकर आकाश-सम्बन्धी भौतिक-विज्ञान मे जो नवीनतम प्रगति हुई है, उसका प्रभाव मनुष्य के व्यवहार तथा सदाचार पर अवश्य होता है । आज भौतिक-विज्ञान की खोज के कारण मनुष्य के पास इतनी असीम शक्ति सचित हो चुकी है कि वह यदि उस शक्ति का प्रयोग करे, तो मनुष्य-मात्र ही नही, अपितु इस पृथ्वी पर जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाए । अणुबम, उदजनबम आदि के आविष्कार आचार-सम्बन्धी प्रश्न उत्पन्न कर देते है । यदि सदाचार की अवहेलना की जाए और भौतिक-विज्ञान के आविष्कारो को आचार के नियमो से पूर्णतया मुक्त कर दिया जाए, तो थोडे ही समय मे मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति, उसकी सस्कृति एव उसकी युगो की पूजी नष्ट-भ्रष्ट हो जाए । अत भौतिक-विज्ञान तटस्थ रूप से अपने मार्ग पर नही चल सकता, क्योकि यह तटस्थता अमानवीय सिद्ध हो सकती है और पृथ्वी पर प्रलय का कारण बन सकती है । इस दृष्टि से भौतिक-विज्ञान को आचार-विज्ञान से प्रेरणा प्राप्त करनी होगी । आचार-विज्ञान का सम्बन्ध हमारी दृष्टि से भौतिक-विज्ञान से इतना घनिष्ठ है कि इस सम्बन्ध की अवहेलना करना मानव-मात्र को आणविक हत्या के मार्ग पर चलाना है ।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि भौतिक-विज्ञान का कारणता का नियम आचार-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है । कारणता का भौतिक नियम यह बताता है कि कारण और कार्य सदैव समान होते हैं, किन्तु आचार-विज्ञान मे हम सकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता को लेकर चलते है । यदि मनुष्य सकल्प करने मे स्वतन्त्र है तो उसका सकल्प भौतिक वातावरण मे परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण बन सकता है । किन्तु सकल्प

---

१. Manual of Ethics by Mackenzie, VI Edition, page 16

स्वय भौतिक नही है। अतः एक असमान कारण भौतिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। सकल्प की स्वतन्त्रता की यह सम्भावना भौतिक कारणता के नियम का विरोध करती है। इस प्रकार भौतिक-विज्ञान तथा आचार-विज्ञान इस सघर्ष के समाधान के लिए भी एक-दूसरे से सम्वन्धित होते हैं। अन्त मे यह कह देना भी उपयुक्त है कि भौतिक-विज्ञान हमे उस वातावरण को समझने मे सहायता देता है जिसमे नैतिक जीवन व्यतीत किया जाता है।

आचार-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान

जीव-विज्ञान एक प्राकृतिक एव स्वभाववादी विज्ञान है और उसका उद्देश्य जीवन-प्रक्रिया के स्वरूप का अध्ययन करना है। क्योकि आचार जीवित प्राणियो की प्रक्रिया होता है, इसलिए आचार-विज्ञान का सम्वन्ध, भौतिक-विज्ञान तथा रसायनशास्त्र की अपेक्षा जीव-विज्ञान से अधिक घनिष्ठ होता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि ये दोनो विज्ञान अत्यन्त निकटवर्ती है। मनुष्य की शरीर-सम्वन्धी एव जीवन-सम्वन्धी अनेक ऐसी आवश्यकताए हैं, जिनका मनुष्य की नैतिक भावनाओ से सम्वन्ध रहता है; उदाहरणस्वरूप मनुष्य की काम-वृत्ति अनेक नैतिक समस्याओ को जन्म देती है और इन्ही समस्याओ को सुलझाने के लिए मानवीय समाज मे विवाह आदि की प्रथाए प्रचलित हुई है। किन्तु जीव-विज्ञान और आचार-विज्ञान का यह सम्वन्ध एक परोक्ष-सम्वन्ध ही माना जाएगा।

जीव-विज्ञान मे पिछले सौ वर्षो से अनेक परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनो मे डारविन का विकासवाद विशेष महत्त्व रखता है। विकासवाद के अनुसार जीव-मात्र का कीटाणु से लेकर मनुष्य तक धीरे-धीरे विकास हुआ है और उस विकास मे जीव की अनेक प्रवृत्तियो तथा उसके विशेष व्यवहार का उसकी जीवन-सम्वन्धी आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन हुआ है। कुछ विद्वानो का कहना है कि शुभ-अशुभ का आदर्श भी जीवन के विकास से सम्बन्ध रखता है। शुभ वही है जो जीवन को प्रोत्साहन देता है और अशुभ वही है जो जीवन के लिए हानिकारक है। ऐसे आचार-विज्ञान के पण्डितो के अनुसार न्यून स्तर के जीवो मे भी नैतिक स्तर की उपस्थिति स्वीकार की जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी विकासवाद के सिद्धान्त का आचार-विज्ञान पर काफी प्रभाव पडा है।

जीव-विज्ञान का आचार-विज्ञान से सम्बन्ध होते हुए भी हम यह नही कह सकते कि इन दोनो विज्ञानो की समस्याए एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। हम नीचे के स्तरवाले जीवों के व्यवहार को नैतिक व्यवहार नही कह सकते। यदि जीवन को प्रोत्साहन देने-वाली क्रिया-मात्र को नैतिक मान लिया जाए, तो आचार-विज्ञान केवल एक प्राकृतिक विज्ञान ही वन जाएगा। इस बात का विस्तारपूर्वक विवेचन तो हम यथास्थान करेंगे, किन्तु यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि आचार-विज्ञान को जीव-विज्ञान पर

आधारित करना सर्वथा असंगत है। जीव-विज्ञान एक स्वभाववादी विज्ञान है और आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। जीव-विज्ञान का सम्बन्ध वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सभी प्रकार की जीवन-क्रिया के अध्ययन से है, जबकि आचार-विज्ञान केवल मानवीय शुभ-अशुभ-सम्बन्धी और सत्-असत्-सम्बन्धी व्यवहार का अध्ययन करता है।

आचार-विज्ञान तथा मनोविज्ञान

स्वभाववादी विज्ञानो में से आचार-विज्ञान का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान एक प्राचीन तथा नवीन विज्ञान है। वह प्राचीन इसलिए है कि उसका जन्म सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के समय से माना जाता है। वह नवीन इसलिए है कि बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे ही इस विज्ञान ने दर्शन से सम्बन्ध-विच्छेद करके प्राकृतिक विज्ञानो के क्षेत्र मे प्रवेश किया है। मनोविज्ञान की अनेक परिभाषाए हैं, जिनमे से एक के अनुसार यह माना जाता है कि मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है। अन्य परिभाषाए भी इस बात से सहमत है कि मनोविज्ञान का विषय मनुष्य की क्रियाए एव उसका व्यवहार है। हम यह जानते है कि आचार-विज्ञान का विषय भी मानवीय व्यवहार है। अत मनोविज्ञान की परिभाषा और उसका अध्ययन का विषय आदि स्पष्ट करते हैं कि मनोविज्ञान का सम्बन्ध आचार-विज्ञान से एक निकटवर्ती सम्बन्ध है।

हम यह कह सकते है कि आचार-विज्ञान का मनोविज्ञान से कम से कम उतना घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, जितना कि तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र का मनोविज्ञान से। मनोविज्ञान के विषय को अध्ययन की सरलता के लिए तीन भागो मे विभक्त किया जाता है, जो निम्नलिखित है ·

(१) ज्ञानात्मक व्यवहार (Knowing)
(२) भावात्मक व्यवहार (Feeling)
(३) क्रियात्मक व्यवहार (Willing or acting)

जब मनोविज्ञान हमे यह बतलाता है कि ज्ञान एव विचार का क्या स्वरूप है, तो हम जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि ज्ञान अथवा विचार को कैसे होना चाहिए। अत मनोविज्ञान का ज्ञानात्मक अग हमे एक ऐसे आदर्शवादी विज्ञान की स्थापना करने के लिए प्रेरित करता है, जिसका उद्देश्य विचार की यथार्थता को ढूढना और उसका आदर्श बताना है। यही आदर्शवादी विज्ञान, तर्कशास्त्र (Logic) कहलाता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान का भावात्मक अग हमे यह बतलाता है कि भावात्मक व्यवहार का क्या स्वरूप है। इससे प्रेरित होकर हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि हमारे भावो को कैसा होना चाहिए। अत मनोविज्ञान का यह अग भावो के आदर्शवादी विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) की स्थापना को सम्भव बनाता है। जब मनोविज्ञान मे हम स्वच्छन्द तथा सविकल्पक क्रिया एव कर्म के स्वरूप को जानने की चेष्टा करते है, तो हमे स्वाभाविक रूप से यह जानने की उत्सुकता होती है कि हमारे कर्म को कैसे होना चाहिए। इस

प्रकार मनोविज्ञान का क्रियात्मक अग आचार-विज्ञान को जन्म देता है, जिसका उद्देश्य मानवीय कर्म के आदर्श का प्रतिपादन करना है।

इसमे कोई सन्देह नही कि तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचार-विज्ञान तीनो मूल्याकन विज्ञान है और इन सबका उद्भव मनोविज्ञान से होता है। एक दृष्टि से ये तीनो आदर्शवादी विज्ञान अपने-अपने अध्ययन के विषय को मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय से प्राप्त करते है। अत इन तीनो का मनोविज्ञान से सम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि ये तीनो आदर्शवादी विज्ञान मनोविज्ञान की शाखाए-मात्र है। इन तीनो विज्ञानो का मनोविज्ञान से सम्बन्ध बतलाते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि मनोविज्ञान एक स्वाभाववादी विज्ञान है, जबकि तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचारशास्त्र अथवा आचार-विज्ञान आदर्शवादी विज्ञान है। अत आचार-विज्ञान तथा मनोविज्ञान परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी एक-दूसरे से विभिन्न हैं। सर्वप्रथम इन दोनो का दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। दूसरे स्थान पर इनके विषय का क्षेत्र भी विभिन्न है। मनोविज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार से सम्बन्ध रखता है, जबकि आचार-विज्ञान मनुष्य के क्रियात्मक व्यवहार के अध्ययन तक ही सीमित रहता है।

इन विभिन्नताओ के होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र भले ही मनोविज्ञान की अवहेलना करे, किन्तु आचार-विज्ञान, मनोविज्ञान से कदापि सम्बन्ध-विच्छेद नही कर सकता। एक तर्कशास्त्री, विचार के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना ही, तर्क मे प्रवीण हो सकता है। इसी प्रकार एक चित्रकार के लिए भी यह अनिवार्य नही है कि वह भावात्मक व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या जानता हो, किन्तु आचार-विज्ञान मनुष्य के क्रियात्मक व्यवहार की व्याख्या किए बिना व्यवहार का आदर्श प्रतिपादित नही कर सकता। मनोविज्ञान हमे यह बतलाता है कि मनुष्य के व्यवहार का क्या स्वरूप है, एव मनुष्य के क्रिया करने की क्षमताए कौन-कौन-सी है। आचार-विज्ञान हमे यह बताता है कि मनुष्य को क्रियात्मक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए। जब तक कि हम किसी व्यक्ति की क्रियात्मक क्षमता को न जान ले, हम उसके क्रियात्मक व्यवहार के लिए कोई आदर्श स्थापित नही कर सकते। यदि हम ऐसा करे तो यह न्याय-सगत नही होगा।

मनोविज्ञान के ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनेक ऐसी मनोवैज्ञा-निक व्याख्याए है, जोकि नैतिक समस्याओ से सम्बन्ध रखती है। मनुष्य के व्यवहार के लिए आदर्श स्थापित करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि मानवीय क्रिया का क्या स्वरूप है। उदाहरणस्वरूप आचार-विज्ञान मे नैतिक सुखवाद की यह धारणा है कि मनुष्य की इच्छाओ का आदर्श सुख ही होना चाहिए। कुछ नैतिक सुखवादी ऐसे है जो इस दृष्टि-कोण की पुष्टि मनोवैज्ञानिक सुखवाद से करते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार हमारी इच्छा स्वभाव से सुख को ही लक्ष्य बनाती है। यदि इच्छा का मनोवैज्ञानिक विश्ले-षण मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अप्रमाणित कर दे, तो उसपर आधारित नैतिक सुखवाद

भी अप्रमाणित हो जाता है। इच्छा, सकल्प, प्रेरणा तथा क्रिया आदि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, आचार-विज्ञान के लिए इतना आवश्यक है कि कुछ आचार-विज्ञान के विद्वानो ने इस अध्ययन को आचार-विज्ञान का अनिवार्य अग माना है। अत हम कह सकते है कि आचार-विज्ञान काफी सीमा तक अपनी समस्याओ को सुलझाने के लिए मनोविज्ञान पर निर्भर रहता है।

आचार-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान

मनोविज्ञान के पश्चात् आचार-विज्ञान यदि किसी अन्य विज्ञान की सहायता प्राप्त करता है, तो वह समाज-विज्ञान है। समाज-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य, मनुष्यो के समूह एक समाज का अध्ययन करना है। यह विज्ञान कुछ समय पहले ही पनपा है। इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है और इसकी समस्याए इतनी अनिश्चित है कि इसको सीमा-वद्ध करना बहुत कठिन हो जाता है। प्राय अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र की समस्याए भी समाज-विज्ञान की परिधि मे आ जाती है। किन्तु समाज-विज्ञान विशेषकर सामाजिक सस्थाओ, रीति-रिवाजो, विवाह, जाति तथा अन्य सामाजिक सस्कारो के विकास का अध्ययन करता है। अत. इसका दृष्टिकोण मुख्यतया ऐतिहासिक रहता है और यह विज्ञान स्वभाववादी विज्ञानो की श्रेणी मे रखा जाता है। आचार-विज्ञान, निस्सदेह आदर्शवादी विज्ञान होने के नाते, समाज-विज्ञान से विभिन्न अवश्य है, किन्तु दृष्टिकोण की विभिन्नता के होते हुए भी इन दोनो विज्ञानो मे, अध्ययन के विषय की समानताए सदृश अवश्य है। यदि नैतिकता के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए, तो आचार का सर्वप्रथम आदर्श हमे सामाजिक रीति-रिवाजो और जाति आदि के बन्धनो और रूढिवादी सस्कारो मे मिलेगा। इतिहास इस वात का साक्षी है कि मनुष्य मे तर्कात्मक नैतिकता का विकास धीरे-धीरे हुआ है। अत मानव-मात्र के नैतिक व्यवहार के लिए उचित आदर्श स्थापित करने से पूर्व, यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि अतीत मे सामाजिक नैतिकता के रूप मे मनुष्य किन आदर्शों के आधार पर व्यवहार करता चला आया है। दूसरे शब्दो मे, आचार-विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त तब तक प्रतिपादित नही किया जा सकता, जव तक कि समाज-विज्ञान की सहायता से अतीत तथा वर्तमान की सामाजिक सस्थाओ तथा सस्कारो का विस्तारपूर्वक अध्ययन न कर लिया जाए। इस दृष्टि से, आचार विज्ञान, समाज-विज्ञान पर काफी सीमा तक निर्भर रहता है।

आचार-विज्ञान का समाज-विज्ञान से इस प्रकार का निकटतम सम्वन्ध है कि आचार-विज्ञान पर लिखी गई प्रत्येक पुस्तक मे नैतिकता का सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत रहता है। यह कहा जा सकता है कि समाज-विज्ञान का दृष्टिकोण सामूहिक रहता है, जबकि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण सामान्य होते हुए भी इस दृष्टि से व्यक्तिगत होता है कि उसके द्वारा प्रतिपादित आदर्श, जनसाधारण पर व्यक्तिगत रूप से लागू होता है। समाज-विज्ञान मे सामूहिक रीति-रिवाजो का अध्ययन तो किया

जाता है, किन्तु उसमे इनके शुभ-अशुभ और सत्-असत् होने के प्रति आलोचना नही की जाती, क्योंकि समाज-विज्ञान मूल्यात्मक न होकर तथ्यात्मक होता है। आचार-विज्ञान मे जो आदर्श प्रतिपादित किए जाते है और जिनकी आलोचना की जाती है, वे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को उदात्त बनाने का साधन होते हैं। यदि आचार-विज्ञान के इस उद्देश्य का विश्लेषण किया जाए, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक होना, वास्तव मे समूह एव समाज की उन्नति के लिए उपयोगी होता है। आचार-विज्ञान मे जो आदेश व्यक्ति के लिए प्रस्तुत किया जाता है, वह वास्तव मे सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होता है।

नैतिकता की मुख्य समस्या सामाजिक समस्या कही जा सकती है। आचार-विज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्तव्य निर्धारित करता है और उन कर्तव्यों से सम्बन्धित, उनके अधिकारो को भी प्रतिपादित करता है। यह कर्तव्य और अधिकार वास्तव मे व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध और उत्तरदायित्व को अभिव्यक्त करते है। इसी प्रकार जब किसी नैतिक सिद्धान्त को वाछनीय प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है तो उसे समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध किया जाता है। उदाहरणस्वरूप नैतिक सुखवाद के समर्थक जे० एस० मिल का कहना है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य, अधिक से अधिक व्यक्तियो के लिए अधिक से अधिक सुख जुटाना है। सुखवादी नैतिक सिद्धान्त मे, व्यक्ति और समाज के विरुद्ध, सुख के विरोध की समस्या खड़ी हो जाती है। इसी प्रकार ग्रीन के आत्मानुभूति एव आत्मविकास के नैतिक सिद्धात मे भी व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। नैतिक सिद्धान्तो को प्रतिपादित करने के पश्चात्, आचार-विज्ञान का छात्र जब इन सिद्धान्तो को जीवन मे लागू करने की चेष्टा करता है, तो उसके सामने पारितोषिक और दण्ड, आत्महत्या, मृत्यु-दण्ड, विवाह आदि की सामाजिक समस्याए खड़ी हो जाती है। इन समस्याओ को सुलझाने के लिए समाज-विज्ञान का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

आचार-विज्ञान तथा तर्कशास्त्र

अभी तक हमने आचार-विज्ञान का सम्बन्ध केवल स्वभाववादी विज्ञानो से ही बतलाया है। इन सभी विज्ञानो का आचार-विज्ञान के लिए महत्त्व इसलिए है कि उनके अध्ययन से आचार-विज्ञान की समस्याओ को सुलझाने मे सुगमता रहती है। आदर्शवादी विज्ञानो मे से तर्कशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध आचार-विज्ञान से निकटतम माना जा सकता है। यो तो तर्कशास्त्र सभी विज्ञानो का आधार माना जाता है। उसका कारण यह है कि तर्कशास्त्र ही ऐसा विज्ञान है, जो हमे बतलाता है कि यथार्थ विचार के आधारभूत नियम क्या है। प्रत्येक विज्ञान चाहे, वह स्वभाववादी हो चाहे आदर्शवादी, यथार्थ विचार का प्रयोग करता है और इसलिए उसे तर्कशास्त्र की सहायता लेनी पडती है। इस दृष्टि से तो आचार-विज्ञान, अन्य विज्ञानो की भाति तर्कशास्त्र से सबधित

है ही। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से ही तर्कशास्त्र और आचार-विज्ञान का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि कुछ विद्वानो ने सदाचार को सदैव तर्क पर आधारित ही माना है।

सुकरात ने सर्वप्रथम विचारको का ध्यान नैतिकता एव धर्म की ओर आकर्षित किया। जैसाकि हमने पहले कहा है, सुकरात के अनुसार धर्म को ज्ञान ही माना गया है और यह ज्ञान तर्क पर आधारित बौद्धिक ज्ञान है। इसी प्रकार यूनानी काल के विख्यात नैतिक दार्शनिको 'स्टायक्स' ने तर्क (Reason) को ही जीवन का आदर्श स्वीकार किया। आधुनिक युग मे, यूरोप के उच्चतम दार्शनिक काट ने अपना सम्पूर्ण दर्शन तर्कात्मक आलोचना के आधार पर प्रतिपादित किया, विशेषकर मानव-मात्र के लिए नैतिक आदर्श प्रस्तुत करते समय काट ने केवल-मात्र तर्क को ही धर्म माना है। उसके अनुसार तर्क-सगत कर्म ही नैतिक कर्म है। जो कर्म तर्क-सगत नही है, वही अवाछनीय और अनैतिक है। हम आगे चलकर काट के इस महान सिद्धात का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि तर्क को अनेक विद्वानो ने सदाचार का आदर्श माना है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान और तर्कशास्त्र का परस्पर सम्बन्ध अभिन्न और अद्वितीय है। किन्तु इनके इस निकटतम सम्बन्ध से हमे इस भ्रात धारणा मे नही पड़ जाना चाहिए कि आचार-विज्ञान और तर्कशास्त्र एक-दूसरे के पर्यायवाची है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आचार-विज्ञान एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसी प्रकार तर्कशास्त्र भी आचार-विज्ञान से पृथक् स्वतत्र अस्तित्व रखनेवाला विज्ञान है। दोनो विज्ञान आदर्शवादी अवश्य है किन्तु तर्क का सम्बन्ध विचारों के अमूर्त नियमो से है, जबकि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध ठोस जीवन के मार्गदर्शन से है। तर्कशास्त्र सर्वथा सैद्धातिक है, जबकि आचार-विज्ञान व्यावहारिक दृष्टिवाला है। तर्कशास्त्र औपचारिक (Formal) है, जबकि आचार-विज्ञान मनुष्य के अन्त करण और सद्भावना से सम्बन्ध रखता है।

आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र

सौन्दर्यशास्त्र भी आदर्शवादी विज्ञान है और आचार-विज्ञान की भांति मूल्यात्मक दृष्टिकोण रखता है। इन दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि जहा आचार-विज्ञान शुभ एव शिव को चरम लक्ष्य मानकर चलता है, वहा सौन्दर्यशास्त्र सुन्दरम् एव सौन्दर्य को अन्तिम लक्ष्य मानता है। जैसाकि हमने आरम्भ से कहा है, तर्कशास्त्र, आचार-विज्ञान तथा सौन्दर्यशास्त्र तीनो क्रमश सत्य, शिव, सुन्दरम् को प्रतिपादित करते है। शिव एव परम शुभ का अध्ययन, सौन्दर्य के अध्ययन से सम्बन्ध अवश्य रखता है, सद्भावना को सुन्दर भावना, और सच्चरित्र को सुन्दर चरित्र कहा जाता है। यूनानी दार्शनिक तो शुभ और सुन्दर को एक ही धारणा के दो नाम मानते थे। आधुनिक काल मे भी जब

यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का जीवन सुन्दर है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि वह व्यक्ति नैतिक दृष्टिकोण से ऊचा है। किन्तु जब हम इस प्रकार सौन्दर्य और शुभ को समान मानते है तो सौन्दर्य का अर्थ भौतिक सौन्दर्य नही होता, अत. आचार-विज्ञान तथा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध इस प्रकार का नही कि हम सुन्दर तथा शुभ को अभिन्न मान ले। हम प्राय देखते हैं कि ससार मे जो कुछ बाहर से सुन्दर दीखता है, वह नैतिक विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्राय हानिकारक होता है। यदि हम सौन्दर्य का अर्थ आन्तरिक सौन्दर्य मानकर चलें, तो आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध वाछनीय माना जा सकता है। वास्तव मे सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक अग से होता है, जबकि शुभ का सम्बन्ध उसके क्रियात्मक अग से होता है।

एक सामान्य व्यक्ति मे भाव तथा कर्तव्य दोनो का समन्वय होना चाहिए। किन्तु यदि भाव और कर्तव्य मे सघर्ष हो जाए तो नैतिक दृष्टि से कर्तव्य को भाव से ऊचा माना जाएगा। यही कारण है कि कर्तव्यपरायण व्यक्ति को सौन्दर्य की अवहेलना भी करनी पडती है। निष्काम कर्मयोग मे वासनाओ का नियन्त्रण करके, सयम के आधार पर, फल की इच्छा को त्यागकर, कर्म करना ही सर्वोत्तम माना गया है। अत आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र एक-दूसरे के संघर्ष मे भी आ सकते है। उनके सघर्ष का अन्त तभी हो सकता है जब सौन्दर्य को भी भौतिक न मानकर अन्तरात्मक एव आध्यात्मिक मान लिया जाए। हमे यह नही भूलना चाहिए कि मनुष्य का जीवन ज्ञान, भाव तथा क्रिया तीनो का समन्वय है और उसके सर्वाङ्गीण विकास के लिए सत्य, शिव, सुन्दरम् तीनो का समान महत्त्व है। हम आगे चलकर देखेगे कि आचार-विज्ञान मे प्रतिपादित आत्मानुभूति का सिद्धान्त इसी प्रकार के समन्वयात्मक जीवन को ही सर्वोत्तम मानता है। भगवद्गीता मे ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग तीनो का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान-मार्ग सत्य को, भक्ति-मार्ग सुन्दर को और कर्म-मार्ग शिवं को आधार मानकर चलता है। किन्तु भगवद्गीता मे भी इन तीनो मार्गो को एक-दूसरे का विरोधी नही माना गया। उसका कारण यही है कि मनुष्य मे ज्ञान, भाव और कर्म तीनो उपस्थित होते हैं और इनमे से किसीको भी पृथक् नही किया जा सकता। अत. तर्कशास्त्र, आचार-विज्ञान तथा सौदर्यशास्त्र तीनो एकसाथ चलते है।

आचार-विज्ञान तथा अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र, सामाजिक विज्ञानो मे से एक महत्त्वशाली विज्ञान है। अर्थशास्त्र को राजनीतिक दर्शन का अभिन्न अग माना जाता है। अर्थशास्त्र की एक सर्वप्रिय परिभाषा के अनुसार "अर्थशास्त्र सम्पत्ति से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है।" दूसरे शब्दो मे, इस विज्ञान मे सम्पत्ति को जीवन का लक्ष्य माना जाता है। अत. इसका क्षेत्र सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग की समस्याओ को सुलझाना है। सम्पत्ति के उत्पादन का अर्थ उन वस्तुओ का उत्पादन करना है, जिनका कि मनुष्य के उद्देश्यो से

सम्बन्धित मूल्य हो, अर्थात् जो मनुष्य के विशेष उद्देश्यो की पूर्ति करते हो जैसाकि अन्न, कपडा, लोहा आदि। ऐसी वस्तुओ को अर्थशास्त्र मे गुड्ज (Goods) एव उद्देश्यात्मक सामग्री कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध, मनुष्य के सामान्य उद्देश्यो एवं लक्ष्यो से होता है। इसके विपरीत आचार-विज्ञान, जीवन के चरम लक्ष्य को प्रतिपादित करता है। अत अर्थशास्त्र के मूल्य साधन-मात्र होते है, जबकि आचारशास्त्र का मूल्य स्वलक्ष्य और ध्येय होता है। अर्थशास्त्र को इसलिए आचार-विज्ञान की अपेक्षा गौण माना जाता है। अर्थशास्त्र के मूल्य, भोजन, कपडा आदि इसलिए गौण हैं कि ये सभी जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन वन सकते है। आचार-विज्ञान और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्र ही आचार-विज्ञान पर निर्भर रहता है। अर्थशास्त्री के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिस देश एव समाज के लिए वह आर्थिक सिद्धान्त निर्धारित करना चाहता है, उस समाज का आचार कैसा है और उसके नैतिक उद्देश्य कैसे हैं।

अर्थशास्त्र के आचार-विज्ञान से सम्बन्ध की अवहेलना की गई है और इस भ्रान्ति को प्रश्रय दिया गया है कि सम्पत्ति एक स्वलक्ष्य उद्देश्य है। किन्तु यह भ्रामक धारणा आधुनिक वाणिज्य-सभ्यता (Commercial Civilization) का कारण वन गई है और सभ्य से सभ्य देश भी सम्पत्ति के मोह मे मानवता की हत्या कर रहे है। एक अमेरिकन दार्शनिक ने पश्चिमीय सभ्यता की निर्दयता को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा अभिव्यक्त किया है :

एक वार अमेरिका की सभी मोटर-कम्पनियो के सदस्यो के सम्मेलन मे यह प्रश्न उठा कि अमेरिका के बड़े-बडे नगरो की सडको मे दुर्घटनाओ को रोकने के लिए कुछ परिवर्तन कर दिए जाए, ताकि दुर्घटनाओ के द्वारा आहत लोगो तथा मृत व्यक्तियो के परिवारो को क्षति-पूर्ति के रूप मे धन न देना पडे। जव इस रोकथाम के लिए योजना बनाई गई, तो यह अनुमान लगाया गया कि जितना धन प्रत्येक वर्ष क्षति-पूर्ति के लिए दिया जाता था, उसकी अपेक्षा रोकथाम का प्रवन्ध करने के लिए कुछ सहस्र डालर का अधिक व्यय होगा। अत सम्मेलन ने दुर्घटनाओ की रोकथाम के प्रवन्ध करने के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इसके अतिरिक्त हम प्रतिदिन समाचारपत्रो मे पढते है कि कुछ पश्चिमीय देशो मे वाजार के भावो को ऊचा रखने के लिए लाखो मन धान तथा अन्य खाद्य-पदार्थों को नष्ट कर दिया जाता है। ऐसा करना अर्थशास्त्र की दृष्टि से भले ही उप-योगी हो, किन्तु जव विश्व के अनेक देशो मे दीनता और भूख हो, ऐसे प्रयासो को हम कदापि नैतिक नही कह सकते।

हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि सम्पत्ति मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य सम्पत्ति के लिए। मनुष्य खाने के लिए नही जीता, अपितु जीवित रहने के लिए खाता है। न ही केवल इतना अपितु इच्छाओ और वासनाओ की तृप्ति-मात्र ही मनुष्य को सुखी नही बनाती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए ही कहा गया है, "एक तृप्त सूअर होने की

अपेक्षा एक अतृप्त सुकरात बनना श्रेष्ठतर है।"[1] इस धारणा का प्रसार तभी हो सकता है जबकि अर्थशास्त्र को नैतिकता पर आधारित किया जाए और सम्पत्ति को लक्ष्य न मानकर साधन ही माना जाए। सौभाग्यवश अर्थशास्त्र की आर्थिक धारणाए परिवर्तित हो रही है। एक भारतीय अर्थशास्त्री डाक्टर मेहता ने यह नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओ को बढाना नही,अपितु उनको कम करना होना चाहिए। वास्तव मे यह आदर्श भारत की प्राचीन त्याग और अपरिग्रह की धारणा पर आधारित है। महात्मा गाधी ने भी आवश्यकताओ को कम करने के आदर्श को सर्वोत्तम आर्थिक आदर्श माना है। महात्मा गांधी का आर्थिक दृष्टिकोण निस्सन्देह आचार-विज्ञान पर आधारित है और केवल यही दृष्टिकोण विश्व को भविष्य मे युद्धो से मुक्त कर सकता है। आचार्य विनोवा भावे इसी आदर्श को लेकर ही भूदान यज्ञ के द्वारा जन-कल्याण मे प्रवृत्त हैं। पश्चिम ने यदि भारत से कुछ सीखना है, वह अपरिग्रह है। अपरिग्रह की भावना ही ससार को हिसात्मक साम्यवाद से सुरक्षित कर सकती है। साम्यवाद केवल अन्न तथा वस्त्र को मनुष्य की अन्तिम आवश्यकताए मानकर हिंसा का प्रयोग करके भी आर्थिक समानता का दम भरता है। इसके विपरीत, पूजीवाद निर्धनो तथा अतृप्त व्यक्तियो की अवहेलना करके आर्थिक होड़ को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानता है और इस प्रकार मानवीय मूल्यो की ओर से आखे मूद लेता है। किन्तु अपरिग्रह का सिद्धान्त मनुष्य को उदार होने की प्रेरणा देता है और विना हिंसात्मक रीतियो को अपनाए, आर्थिक साम्य तथा सामाजिक समता के उद्देश्यो की पूर्ति करने की चेष्टा करता है। इसी कारण यह नैतिकता पर आधारित आर्थिक दर्शन, साम्यवाद तथा पूजीवाद को समन्वित करने की चेष्टा करता है।

आचार-विज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र भी आचार-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यूनानी दार्शनिको के समय से ही राजनीतिशास्त्र को विशेष महत्त्व प्राप्त है। सुकरात के समय से पूर्व ही, एथेन्स नगर के निवासियो को अच्छे नागरिक बनने की शिक्षा दी जाती थी। धर्म के आचरण का उद्देश्य, व्यक्ति को समाज का आदर्श सदस्य बनाना माना जाता था। वास्तव मे अरस्तू का यह कहना सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अत हम व्यक्ति के कर्तव्यो को निर्धारित करते समय उस समाज की अवहेलना नही कर सकते जिससे कि वह सम्बन्धित है। जो आदर्श व्यक्ति के लिए निर्धारित किया जाता है वह समाज के अनुकूल होना चाहिए, जिसका कि यह व्यक्ति एक अभिन्न अग है। प्राचीन काल मे राजनीति को ही समाज तथा राज्य का विज्ञान माना जाता था। अरस्तू ने तो मनुष्य

१. "It is better to be a Socrates dissatisfied than to be a pig satisfied."

के सामाजिक अग पर इतना बल दिया है कि उसने आचार-विज्ञान को राजनीतिशास्त्र का अग माना है।

आधुनिक समय मे हम यह तो नही कह सकते कि आचार-विज्ञान राजनीतिशास्त्र का अंग है, क्योकि राजनीतिशास्त्र की आधुनिक परिभाषा उसे इतना व्यापक रूप नही देती, जितना कि अरस्तू के समय दिया जाता था। किन्तु राजनीतिशास्त्र का आधार निस्सन्देह दर्शन माना जाता है। राजनीति के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करनेवाले दार्शनिक प्लेटो, हाब्स, रूसो तथा कार्लमार्क्स जैसे विद्वान माने जाते है। इन विद्वानो ने समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए नैतिक प्रेरणा के आधार पर ही मनुष्य की समानता, स्वतन्त्रता तथा उसके भ्रातृभाव (Equality, Liberty, Fraternity) पर बल दिया। ये भावनाए ही राजनीतिक विचारधारा का आधार है। अत सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र आचार-विज्ञान पर आधारित सिद्ध होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी राजनीतिशास्त्र के लिए आचार-विज्ञान पर निर्भर रहना ही मानव-समाज के लिए कल्याणकारी है। आधुनिक समय मे राजनीति को इसलिए दूषित माना जाता है कि उसमे अनैतिकता तथा अन्याय प्रविष्ट हो गया है। इसलिए एक पश्चिमीय विद्वान ने कहा है, "एक दुष्ट व्यक्ति का अन्तिम आश्रय राजनीति ही होता है।"[१] इसमे कोई सन्देह नही कि राजनीति मे अनैतिकता की काफी मात्रा उपस्थित है और इसकी कडी आलोचना भी की जा रही है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि राजनीति को धर्म एव नैतिकता पर आधारित नही किया जा सकता। इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण है, जो इस बात को प्रमाणित करते है कि सत्य पर आधारित राजनीति अन्त मे विजयी होती है। भारत के सम्राट अशोक महान ने अहिंसा पर आधारित राजनीति का आचरण किया और उसने बिना युद्ध के एशिया-भर मे भारतीय साम्राज्य स्थापित किया। आधुनिक समय मे भी महात्मा गाधी के नेतृत्व मे भारतवासियो ने सत्य और अहिंसा पर आधारित राजनीति के द्वारा विदेशी साम्राज्य का अन्त किया। ये उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि नैतिकता पर आधारित राजनीति, सफल और सराहनीय राजनीति होती है। भारतीय सस्कृति के अनुसार राजनीति का अर्थ दृढतापूर्वक सन्मार्ग पर चलना है। श्री भर्तृहरि ने धैर्यवान राजनीतिज्ञ के लक्षणो को निम्नलिखित श्लोक मे अभिव्यक्त किया है·

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथ· प्रविचलन्ति पद न धीरा.॥"

अर्थात् "राजनीति मे निपुण लोग चाहे निंदा करे अथवा स्तुति, लक्ष्मी अपनी इच्छा के

१· "Politics is the last resort of a scoundrel."

अनुसार घर मे आए अथवा चली जाए; चाहे मृत्यु हो जाए चाहे युगो के वाद हो, धैर्य-वान नीतिज्ञ (इन परिस्थितियो मे) न्याय के मार्ग से एक पग भी पीछे नही हटते।"

वर्तमान शताव्दी मे, पिछले दो महायुद्धो ने राजनीतिज्ञो को विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए, सफल सस्थाओ का निर्माण करने पर वाध्य कर दिया है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था उस समय तक विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय भावना उत्पन्न नही कर सकती, जब तक कि वह मनुष्य की नैतिक प्रवृत्तियो को प्रेरित न करे। कुछ विद्वान विश्व-राज्य को विश्व-शान्ति का एकमात्र साधन मानते है, किन्तु विश्व-राज्य की स्थापना स्वय तभी हो सकती है जव मानव-मात्र की नैतिकता जागरित हो जाए। राजनीति और आचार-विज्ञान का सम्वन्ध ऐसा है कि हम राजनीति के द्वारा नैतिकता नही पनपा सकते। जैसाकि हमने पहले भी कहा है, "ससद् का विधान मनुष्य को नैतिक नही वना सकता। सच्ची नैतिकता अन्त करण से प्रवाहित होती है।"[१] दूसरे शव्दो मे नैतिकता राजनीति पर आधारित नही हो सकती, अपितु राजनीति नैतिकता पर आधारित हो सकती है और होनी चाहिए।

आचार-विज्ञान का तत्त्व-दर्शन से सम्बन्ध

अभी तक हमने आचार-विज्ञान का विभिन्न विज्ञानो से सम्वन्ध वतलाया है। आरम्भ मे आचार-विज्ञान का परिचय देते हुए, हमने आचार-विज्ञान की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर प्रकाश डाला था। उस पृष्ठभूमि और ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान, विज्ञान होने की अपेक्षा एक दार्शनिक अध्ययन है। अत. विषय-प्रवेश के अध्याय को तव तक पूर्ण नही माना जा सकता, जव तक कि आचार-विज्ञान का तत्त्व-दर्शन और धर्म (Metaphysics and Religion) से सम्वन्ध नही वतला दिया जाए। धर्म की अपेक्षा तत्त्व-दर्शन का आचार-विज्ञान से सम्वन्ध वतलाना इसलिए अधिक आवश्यक है कि आचार-विज्ञान, तत्त्व-दर्शन पर आधारित है, जवकि वह धर्म पर पूर्णतया आश्रित नही है। आचार-विज्ञान की अनेक ऐसी समस्याए है जो तत्त्वात्मक है, इसलिए आचार-विज्ञान तथा तत्त्व-दर्शन के सम्वन्ध को स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा करने के लिए हमे पहले सक्षिप्त मे तत्त्व-दर्शन के विपय पर प्रकाश डालना चाहिए।

तत्त्व-दर्शन का मुख्य विषय, विश्व की आधारभूत सत्ता के स्वरूप को प्रतिपादित करना है। दर्शन के इतिहास मे अनेक तत्त्वात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए है। इन सभी सिद्धान्तो ने विश्व की आधारभूत सत्ता के प्रति व्यापक से व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए है। किन्तु आज तक कोई भी दार्शनिक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत नही कर सका जो सर्वमान्य हो। तत्त्व-दर्शन की मुख्य समस्याएं एव प्रश्न ये हैं—क्या द्रव्य विश्व की आधार-

---

१. "Acts of parliament cannot make men moral. True morality rises from within."

भूत सत्ता है ? क्या आत्मा विश्व की आधारभूत सत्ता है ? क्या भौतिक मृत्यु के पश्चात् आत्मा बनी रहती है ? क्या मनुष्य का सकल्प स्वतन्त्र है ? क्या ईश्वर का अस्तित्व है ? इन समस्याओ मे से ईश्वर के अस्तित्व की समस्या, सकल्प की स्वतन्त्रता की आवश्यकता तथा आत्मा के अमरत्व की समस्या, तीन ऐसी समस्याए है, जिनका सम्बन्ध आचार-विज्ञान से रहता है। काट ने अपना नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय संकल्प की स्वतन्त्रता, ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा के अमरत्व को सदाचार की तीन आधारभूत मान्यताए माना है। उसका कहना है कि नैतिकता एक आदर्श है, जिसमे व्यक्ति से औचित्य की आशा रहती है। ऐसी आशा तभी हो सकती है जबकि व्यक्ति मे सकल्प की स्वतन्त्रता हो। काट के अनुसार, जब हम यह कहते है कि अमुक व्यक्ति को अमुक व्यवहार करना चाहिए, तो इसमे यह तथ्य निहित रहता है कि वह व्यक्ति अमुक व्यवहार करने की क्षमता रखता है, अर्थात् सकल्प की स्वतन्त्रता रखता है। इसी प्रकार काट का कहना है कि नैतिक कर्म के बदले मे, हमे अपने कर्मानुसार सुख या दु ख का फल मिलता है। अत' हमारे कर्मो का फल देने के लिए एक ऐसी उच्च बौद्धिक सत्ता होनी चाहिए, जो हमे हमारे कर्मो का फल प्रदान करती है। यह सत्ता निस्सन्देह ईश्वर है।

हमारे कर्मों का फल इतना अधिक होता है कि वह हमे एक ही जीवन मे नही मिल सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी हमारी आत्मा उपस्थित रहती है। अत आत्मा की अमरता भी नैतिक जीवन की आधारभूत मान्यता है। ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि तत्त्व-दर्शन का आचार-विज्ञान से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत आचार-विज्ञान, तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आश्रित रहता है। तत्त्व-दर्शन जब हमे विश्व के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करता है तो वही दृष्टिकोण हमारे आचार का भी मार्ग-दर्शन करता है। एक भौतिकवादी दर्शन 'खाने, पीने और मौज उडाने' की शिक्षा देता है, जबकि एक अध्यात्मवादी तत्त्व-दर्शन सयम के जीवन को आदर्श मानता है।

किन्तु आचार-विज्ञान तथा तत्त्व-दर्शन मे परस्पर विभिन्नताए भी है। तत्त्व-दर्शन मुख्यतया सैद्धान्तिक है, जबकि आचार-विज्ञान व्यावहारिक है। तत्त्व-दर्शन बाह्यात्मक जगत् की वास्तविकता जानने की चेष्टा करता है और आचार-विज्ञान मनुष्य के जीवन के मूल्य निर्धारित करता है। तत्त्व-दर्शन चिन्तनात्मक सिद्धान्त है, जबकि आचार-विज्ञान व्यवहार मे लागू किए जानेवाले आदर्शों तथा मूल्यो का अध्ययन है। प्रत्येक महान चिन्तनधारा तत्त्व-दर्शन से आरम्भ होती है और आचार-विज्ञान मे उसका अन्त होता है।

आचार-विज्ञान का धर्म से सम्बन्ध

धर्म, शब्द का अर्थ इस प्रकरण मे धार्मिक सिद्धान्त है। विश्व मे अनेक धर्म है। ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म आदि इन सभी धर्मों मे समानता

इस बात की है कि ये किसी न किसी रूप मे, दिव्य शक्ति को, विश्व का आधारभूत नियम मानते है। पश्चिम मे तो धर्म का अर्थ, ईश्वर को विश्व का नियन्ता मानकर, उसके अस्तित्व मे विश्वास रखना है। अत. जब हम आचार-विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध की चर्चा करते है, तो हमे यह निश्चय करना होता है कि नैतिकता ईश्वर के अस्तित्व से कहा तक सम्बन्धित है और यह कि क्या नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास रखना आवश्यक है। धर्म और आचार-विज्ञान के सम्बन्ध की व्याख्या करने से पूर्व उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देना नितान्त आवश्यक है।

कुछ विचारको का मत है कि नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए न ही केवल ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास रखना अनावश्यक है, अपितु यह विश्वास सदाचार के मार्ग मे बाधक भी हो सकता है। ईश्वर की धारणा मे यह विश्वास किया जाता है कि वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है, जोकि सम्पूर्ण विश्व का संचालन कर रहा है और जिसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नही हिल सकता। यदि विश्व की सभी घटनाए और सभी व्यक्तियो के सकल्प एव उनकी क्रियाए ईश्वर के अधीन है और ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती है, तो मनुष्य को सत्-असत् और शुभ-अशुभ कर्म के लिए दोषी नही ठहराया जा सकता। यदि ईश्वर ही विश्व का एकमात्र कर्ता है, तो कोई भी व्यक्ति दुराचारी नही कहा जा सकता और न ही किसी कर्म को दुष्कर्म माना जा सकता है। ईश्वर की इच्छा ही मनुष्य का सकल्प हो जाती है। अत सकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध हो जाता है और सकल्प की स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति मे औचित्य (Ought) का कोई अर्थ नही रह जाता। यदि मनुष्य को सकल्प की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाए, तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी ईश्वर की धारणा एक अपूर्ण ईश्वर की धारणा रह जाती है। अत नैतिकता और धर्म इस दृष्टि से एकसाथ नही रह सकते।

ऊपर दिए गए दृष्टिकोण को सत्य मान लेना तर्क की सीमाओ का उल्लंघन करना है। ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास रखना, नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। इसके विपरीत, नास्तिक व्यक्ति सदाचारी जीवन व्यतीत करने मे कठिनाई का अनुभव करता है। जो व्यक्ति ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी स्वीकार करता है और इस स्वीकृति मे दृढ विश्वास रखता है, वह कदापि किसी व्यक्ति से अन्याय नही करेगा और न ही एकान्त मे अनैतिक कर्म करेगा। यदि कुछ समय के लिए यह मान लिया जाए कि इस विश्व का कोई नियन्ता नही है और न ही विश्व स्थिर है, और यदि आज विश्व के सभी नागरिको को यह कह दिया जाए कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु नही है और विश्व एक सप्ताह मे नष्ट हो जाएगा, और विश्व के सभी लोग इस बात को सत्य मान लें, तो सम्भव है कि कुछ समय के लिए अत्याचार और अनैतिकता विश्वव्यापी हो जाए। अंग्रेजी की एक उक्ति है, "ईश्वर के भय से ही ज्ञान का आरम्भ होता है।"[1]

---

१. "Fear of the Lord is the beginning of wisdom."

मानवता से प्रेम तभी हो सकता है, जब ईश्वर को सभी मनुष्यो का पिता स्वीकार कर लिया जाए और उस पिता के भय को ही भ्रातृभाव का प्रेरक मान लिया जाए। हिन्दी के विद्वान और सत कवि तुलसीदास ने भी यही कहा है कि "भय बिनु होइ न प्रीति।" हम ईश्वर को विश्व का नियन्ता मानते हुए भी मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकते है। इसमे कोई सन्देह नही कि ईश्वर विश्व के आदि, अन्त और मध्य को जानता है और उसीकी माया जीवो को जन्म देती है और उनके कर्मानुसार विशेष परिस्थितियो मे उन्हे उत्पन्न करती है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि जीवन के सचालन मे मनुष्य को स्वतन्त्रता नही है। मनुष्य की बुद्धि, चैतन्य अव्यय पुरुप ईश्वर का प्रतिबिम्ब अवश्य है, किन्तु जीवधारी मनुष्य उस बुद्धि के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार सत् अथवा असत्, शुभ अथवा अशुभ मे विवेक कर सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस विवेक का सफलतापूर्वक उपयोग करने के लिए मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना भी करता है। उपनिषदो मे ऋषि-प्रज्ञा ने यही नैतिकता की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की है

"असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृत गमय।"

अर्थात् "हे ईश्वर हमे असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर करो।" इसका अभिप्राय यह नही कि ईश्वर मे अन्धविश्वास रखकर और अपनी विवेकशक्ति की अवहेलना करके, मनुष्य अकर्मण्य हो जाए अथवा अनैतिकता का ईश्वर के नाम पर आचरण करे। यह दृष्टिकोण तो उन व्यक्तियो का होता है, जो अपना दोष किसी अन्य व्यक्ति पर थोपना चाहते है। आसुरी वृत्ति मे पडकर दिव्य शक्ति को ही उसका दोषी ठहराना, अपनी अनैतिकता को छिपाने का प्रयत्न करना है। एक उर्दू के कवि ने यथार्थ कहा है ·

"हसी आती है मुझे इस हज़रते-इन्सान पर।
फेलेबद तो खुद करे, लानत करे शैतान पर॥"

इसके विपरीत वास्तविक धर्म और ईश्वर का सच्चा प्रेम मनुष्य को अनायास सन्मार्ग पर ले जाते है। ससार के जितने भी मुख्य धर्म है, वे सत्य, अहिसा, जनसाधारण की सेवा, भ्रातृभाव आदि जैसे सद्गुणो को जीवन के आधारभूत नियम और ईश्वर-प्राप्ति के साधन मानते है। सत्य तो यह है कि सामान्य व्यक्ति, अपने धर्म के नियमो को जानता तक नही। धर्म के ठेकेदार, उसे केवल एक आवरण मानते हैं और धर्म के नाम पर हर प्रकार की अनैतिकता और अत्याचार का आचरण करते है। हमारे देश मे ही १९४७ मे धर्म के नाम पर राष्ट्र का बटवारा हुआ तथा स्त्रियो, शिशुओ और युवको पर घोर अत्याचार हुआ। धर्म के नाम से घृणा जागरित की गई और साम्प्रदायिकता के कारण लाखो निर्दोष व्यक्ति मारे गए। किन्तु ऐसी गलत प्रेरणा केवल अज्ञान के कारण ही मिली।

न तो हिन्दू धर्म और न ही इस्लाम घृणा का उपदेश देता है। धर्म के इसी वास्तविक अर्थ को उर्दू के कवि डाक्टर मोहम्मद इकबाल ने निम्नलिखित पक्तियो मे अभिव्यक्त किया है :

"मज़हब नही सिखाता, आपस मे वैर रखना,
हिन्दी है हमवतन है हिन्दोस्ता हमारा।"

धर्म का मुख्य उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है और ईश्वर को न्याय का स्वरूप माना गया है, उसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध आचार, उदारता और मैत्री-भाव रखना नितान्त आवश्यक है। एक नैतिक व्यक्ति भले ही नास्तिक हो, किन्तु एक धार्मिक व्यक्ति तब तक धर्मात्मा नही माना जा सकता, जब तक कि वह सदाचारी न हो। भगवद्गीता मे ईश्वर-प्राप्ति का साधन स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञ वही होता है जो सयमी है, जो न किसीकी निन्दा करता है, न किसीसे द्वेष रखता है और न किसीसे ईर्ष्या करता है। इसी प्रकार ईसाई धर्म मे भी चोरी न करना, झूठ न बोलना आदि नैतिक नियम, ईश्वर-प्राप्ति के साधन माने गए है। अत. धर्म मे हमे नैतिकता का आदर्श मिलता है। पश्चिम मे तो मध्य-काल मे धर्म का, न ही केवल आचार-विज्ञान पर, अपितु समस्त दर्शनशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। उस समय मे यह मान्यता प्रचलित थी, "दर्शन धर्म की दासी है।"[1] आधुनिक युग मे भी पश्चिमीय दर्शन पर और विशेषकर आचार-विज्ञान पर धर्म का काफी प्रभाव पडा। स्पाइनोज़ा का दर्शन, जोकि तत्त्वशास्त्र से आरम्भ होकर, आचार-विज्ञान मे पराकाष्ठा पर पहुचता है, वास्तव मे एक धर्मवादी दर्शन है। इसी प्रकार काट का दर्शन, जोकि मूलतया नैतिक दर्शन है, वस्तुत ईसाई धर्म से पूर्णतया प्रभावित है। पश्चिमीय दर्शन के इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि धर्म और आचार-विज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्म और आचार-विज्ञान का सम्बन्ध वास्तव मे एक प्रकार का समानता का सम्बन्ध है। हम यह नही कह सकते कि धर्म आचार-विज्ञान पर आश्रित है अथवा आचार-विज्ञान, धर्म पर आश्रित है। उसका कारण यह है कि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है, जबकि धर्म एक व्यावहारिक वस्तु है। जैसाकि हमने पहले कहा है, आचार-विज्ञान का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति, नैतिक सिद्धान्तो का ज्ञान भले ही रखता हो, किन्तु उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह उन सिद्धान्तो को व्यावहारिक जीवन मे भी लागू करने की सामर्थ्य रखता हो। इसके विपरीत एक सच्चा धर्मात्मा एव ईश्वरभक्त भले ही आचार-विज्ञान का विद्वान न हो, किन्तु उसका व्यावहारिक जीवन सफल और उदात्त होता है, वह स्वय नैतिकता का प्रतीक होता है। इस प्रकार आचार-विज्ञान मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का जानना, धार्मिक व्यक्ति को लाभदायक हो सकता है और यदि आचार-विज्ञान का छात्र धर्म का आचरण करता हो तो उसकी यह व्यावहारिक नैतिकता उसके सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने मे लाभदायक हो सकती है। अत धर्म और आचार-विज्ञान विभिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित एव एक-दूसरे के पूरक हैं।

१ "Philosophy is the hand-made of religion."

दूसरा अध्याय

आचार-विज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार

(Psychological Basis of Ethics)

हमने आचार-विज्ञान का मनोविज्ञान से सम्बन्ध बतलाते हुए यह कहा था कि अनेक ऐसी नैतिक समस्याए है, जिनका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक समस्याओ से है। न ही केवल इतना अपितु कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्याए ऐसी है जिनका अध्ययन किए बिना आचार-विज्ञान का अध्ययन असम्भव एव असगत है। आचार-विज्ञान, व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करता है, किन्तु वह आदर्श तब तक उपयोगी नही हो सकता, जब तक कि व्यवहार की मनोवैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या न कर दी जाए। आचार-विज्ञान से यह जानना आवश्यक है कि सकल्प (Will) तथा व्यवहार (Conduct) का क्या अर्थ है और यह कि उद्देश्य (Intention) तथा प्रेरक (Motive) क्या है और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। हम सर्वप्रथम सकल्प का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करेगे। सकल्प मनुष्य मे धीरे-धीरे विकसित होता है। शैशव काल मे व्यक्ति की संकल्प-शक्ति तो होती है, किन्तु वह विकसित रूप मे नही होती। सकल्प निस्सन्देह हमारी इच्छाओ तथा आकाक्षाओ का परिणाम होता है और हमारे सविकल्पक कर्म का कारण होता है। अत सकल्प, कर्म करने की प्रवृत्ति एव उसका चैतन्य कारण है। इसमे कोई सन्देह नही कि यह सविकल्पक प्रवृत्ति, केवल मनुष्य मे ही, विकसित आत्मचेतन रूप मे उपस्थित होती है जबकि अन्य जन्मजात प्रवृत्तियां पशुओ तथा मनुष्यो मे समान होती है। सकल्प का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उससे नीचे के स्तर की प्रवृत्तियो की व्याख्या आवश्यक है। इसलिए हम इस अध्याय मे वनस्पतियो की आवश्यकता रूपी जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति से आरम्भ करके मनुष्यो तथा पशुओ की भूख आदि मूल प्रवृत्तियो की व्याख्या करते हुए, इच्छा तथा आकाक्षा का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे। इसके पश्चात् ही हम संकल्प तथा सविकल्पक कर्म का अध्ययन कर सकेंगे। इस क्रम की आवश्यकता इसलिए है कि पश्चिमीय दर्शन तथा विज्ञान के दृष्टि-कोण से, जीव-मात्र का धीरे-धीरे विकास हुआ है और इस विकास के क्रम मे वनस्पति जीव का प्रथम स्थान है।

वनस्पति-आवश्यकता का स्वरूप

आधुनिक विज्ञान के अनुसार वनस्पति-जीवन, जीव का प्रथम स्तर और नमूना

है। जीव द्रव्य की विशेषता यह होती है कि उसका उद्भव होता है, विकास होता है और उसमे अपने जैसे अन्य जीव उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। उस व्यापक दृष्टिकोण से वनस्पति निस्सन्देह प्रारम्भिक जीव है। भारत मे यह धारणा प्राचीन दर्शन मे भी उपलब्ध हे। जैन दर्शन के अनुसार वनस्पतिकाय जीव का अस्तित्व यथार्थ माना गया है। भारत के विख्यात वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वोस ने तो वनस्पतियो मे मानसिक जीवन की उपस्थिति को भी प्रमाणित कर दिया है। वनस्पति-जीवन मे यद्यपि चेतनक्रिया उपस्थित नही है, अपितु उसमे अचेतन अथवा अर्धचेतन प्रवृत्तिया अवश्य हे। जब एक वनस्पति का मुख सूर्य के प्रकाश की ओर होता है तो इस प्रकाश की किरणो के द्वारा वनस्पति की जीवन-सम्वन्धी आवश्यकता की पूर्ति हो रही होती है। अत वनस्पति की यह प्रवृत्ति आवश्यकता-मात्र (Want) कहलाती है। यहा आवश्यकता का अर्थ, वह अचेतन प्रेरणा एव प्रवृत्ति है, जोकि किसी जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करती है, किन्तु भोजन ढूढना, उत्सुकता, लडना आदि मूल प्रवृत्तियो की भाति चेतन नही होती। इस प्रकार की अचेतन आवश्यकताए, पशुओ तथा मनुष्यो मे भी होती है। उदाहरणस्वरूप श्वास-प्रश्वास की क्रियाए तथा रुधिर-सचार आदि पशुओ तथा मनुष्यो मे ऐसी ही अचेतन आवश्यकताएं है। आचार-विज्ञान का सम्वन्ध, ऐसी प्रवृत्तियो से नही होता, क्योकि ये प्रवृत्तिया यन्त्रवत् चलती रहती है। कोई व्यक्ति या चैतन्य प्राणी, जान-बूझकर इन क्रियाओ को नही करता, किन्तु ये क्रियाए स्वत ही मानो प्रकृति की इच्छा के द्वारा ही सचालित रहती है। ऐसी क्रियाओ को शुभ-अशुभ व सत्-असत् नही कहा जा सकता, यद्यपि इनके द्वारा जीवन का विकास होता रहता है। ये क्रियाएं जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अवश्य करती है, किन्तु यह पूर्ति, प्राणी व वनस्पति के द्वारा सकल्प से निर्वाचित नही होती। ये एक प्रकार की जीवन के उद्देश्य की पूर्ति करनेवाली अन्धप्रवृत्तिया होती हैं। अत इनको मूल प्रवृत्तियो, इच्छाओ तथा सविकल्पक क्रियाओ की भाति उद्देश्यात्मक नही कहा जा सकता।

भूख अथवा मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का स्वरूप

वनस्पति-आवश्यकता क्रियाशीलता का न्यूनतम स्तर है। इसके पश्चात् हम भूख अथवा मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के स्तर को ले सकते हैं। क्षुधा एव भूख एक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया है। भूख मे पशु किसी उद्देश्य की ओर केवल अचेतन से प्रवृत्त नही होता, अपितु उसमे कुछ सीमा तक चेतना स्पष्ट रूप से उपस्थित होती है। यह चेतना ज्ञानात्मक तथा भावात्मक होती है। भूख की ज्ञानात्मक चेतना का अर्थ, उस वस्तु का धुधला ज्ञान होता है, जोकि प्राणी की भूख को तृप्त करता है। जव एक पशु भूखा होता है, तो उसके मन मे उस खाद्य-पदार्थ की धुधली-सी चेतना अवश्य होती है, जोकि उसकी भूख को तृप्त करती है। मनुष्य मे तो स्पष्ट रूप से उस खाद्य-पदार्थ की चेतना रहती है, जोकि भूख को तृप्त करती है। भूख की तृप्ति मे, मुह मे जो लार वहता है, वह पूर्णतया चेतन क्रिया न होते हुए भी सीखने के द्वारा परिवर्तित की जाने योग्य है। रूस के विख्यात शरीर-

विज्ञान के पण्डित पैवलाव ने कुत्तो पर प्रयोग करके यह प्रमाणित किया है कि भूख से सम्बन्धित, लार बहने की सहज क्रिया भी, कृत्रिम प्रेरक से सम्बद्ध की जा सकती है। साधारणतया भोजन के मुह मे आते ही लार बहने लगता है। पैवलाव ने यह अनुभव किया कि कुत्ते के मुह से लार बहना, भोजन के देखते ही आरम्भ हो जाता था। अतः उसने अनेक प्रयोगो द्वारा, बार-बार भूखे कुत्ते को भोजन देने से पूर्व, एक घण्टी बजाना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भोजन की प्राप्ति से कई मिनट पूर्व, ज्योही घण्टी बजती, कुत्ते के मुह से लार बहना आरम्भ हो जाता। यह प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि सहज क्रिया जैसी अचेतन प्रवृत्ति मे भी, ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तन किया जा सकता है। अत भूख की प्रवृत्ति तो इस सहज क्रिया से भी श्रेष्ठ है। उसमे न ही केवल ज्ञानात्मक अग उपस्थित होता है, अपितु सुख-दु:ख का भाव भी जुडा रहता है। जब भूख की तृप्ति होती है, तो प्राणी अथवा मनुष्य सुख का अनुभव करता है और जब उसकी तृप्ति नही होती, तो वह दु खद भावना का अनुभव करता है। यही भावना अन्य मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ मे भी स्पष्ट रूप से उपस्थित रहती है। इन प्रवृत्तियो की तृप्ति से जो भावना उत्पन्न होती है उसीको ही वास्तव मे सुख कहा जा सकता है। कुछ लोग केवल तृप्ति को ही सुख कह देते है। हम तृप्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न सुखद अवस्था के भेद के विषय मे अन्य स्थान पर चर्चा करेंगे। यहा हमे केवल यह स्मरण रखना चाहिए कि भूख तथा अन्य मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाए, वनस्पति-आवश्यकता की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ है कि उनमे चेतना तथा सुख-दु ख की भावना स्पष्ट रूप से उपस्थित होती है।

इच्छा

व्यक्ति के मानसिक जीवन मे, इच्छा का स्थान, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया से ऊचा माना जाता है। इच्छा इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमे लक्षित विषय की चेतना तथा सुख और दु ख की भावना के साथ-साथ उस विषय के प्रति, शुभ तथा अशुभ-सम्बन्धी विवेक की भी उपस्थिति होती है, जिसकी प्राप्ति से इच्छा की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दो मे, इच्छा न ही केवल चैतन्य प्रवृत्ति है, अपितु तर्कात्मक तथा मूल्यात्मक प्रक्रिया है। अत इच्छा मे, प्रज्ञा एव बुद्धि का तत्त्व सदैव उपस्थित रहता है। उदाहरणस्वरूप, एक ज्वर मे ग्रस्त व्यक्ति को जब भूख लगती है, तो वह भोजन को ज्वर के लिए हानिकारक मानकर, खाने की इच्छा नही करता। सामान्य व्यक्ति अनेक बार भूख, प्यास, उत्सुकता, लडना आदि अनेक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ की तृप्ति इसलिए नही करता कि वह उन्हे विशेष परिस्थितियो के कारण वाछनीय नही समझता, उनकी भूख के होते हुए भी, वह उनकी इच्छा नही करता। यह स्पष्ट है कि इच्छा मे किसी उद्देश्य की पूर्ति का तत्त्व एव औचित्य का ज्ञान स्पष्ट रूप से उपस्थित रहता है। आचार-विज्ञान का सम्बन्ध केवल भूख और मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओ से इसलिए नही रहता कि उनमे मूल्यात्मक तत्त्व की उपस्थिति नही होती। किन्तु आचार-विज्ञान इच्छा की अवहेलना इसलिए नही कर सकता कि उसमे

इच्छा करनेवाले व्यक्ति का दृष्टिकोण निहित रहता है, और इसलिए किसी व्यक्ति की इच्छाओ को जानकर, हम उसके नैतिक जीवन के प्रति ज्ञान प्राप्त कर सकते है। इसके विपरीत भूख आदि प्रवृतिया हमे ऐसा कोई भी ज्ञान नही दे सकती, वे तो पशुओ मे, मनुष्यो मे, मूर्खो मे, विद्वानो मे, पापाचारियो मे तथा धर्मात्माओ मे समान रूप से विद्यमान होती है। उनके निरीक्षण से हम यह अनुमान नही लगा सकते कि अमुक व्यक्ति नैतिक है या अनैतिक। किन्तु किसी व्यक्ति की इच्छाओ को जानकर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसका नैतिक स्तर कौन-सा है। किसी व्यक्ति के भोजन ढूढने की प्रवृत्ति हमे यह नही बता सकती कि वह नैतिक है अथवा अनैतिक, किन्तु उसकी लोभ की प्रवृत्ति एव आवश्यकता से अधिक भोजन करने की प्रवृत्ति, इच्छा होने के कारण उसके चरित्र के विषय मे अवश्य ज्ञान देती है। इसी प्रकार मनुष्य की अन्य इच्छाए उसके चरित्र की द्योतक होती है। यही कारण है कि व्यक्ति-व्यक्ति की इच्छाए, उसके चरित्र के अनुसार विभिन्न होती है। एक धर्मात्मा की इच्छाएं दुराचारी व्यक्ति से भिन्न होती है। इसी प्रकार एक कृपण व्यक्ति की इच्छाए उदार व्यक्ति की तुलना मे विभिन्न होती है। यह विभिन्नता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि इच्छाए उस दृष्टिकोण पर आधारित होती है जोकि एक व्यक्ति अपने जीवन मे अपनाता है। दूसरे शब्दो मे, इच्छाए व्यक्ति के चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। अत नैतिक दृष्टिकोण से इच्छाओ का भारी महत्त्व है। इच्छाओ के व्यापक अध्ययन से हमे यह ज्ञान होता है कि व्यक्ति मे इच्छाए अनेक समूह बनाकर उपस्थित रहती है। इच्छाओ के इस समूह को, जोकि किसी न किसी विशेष दृष्टिकोण मे केन्द्रित होता है, इच्छाओ का व्यूह (Universe of desire) कहा जा सकता है। इच्छाओ के व्यूह का विस्तृत अध्ययन नितान्त आवश्यक है, क्योकि इस अध्ययन से इच्छाओ के सघर्ष का विषय समझना सरल हो जाता है।

इच्छाओ के व्यूह का दृष्टिकोण, आचार-विज्ञान के क्षेत्र मे, मैकन्जी ने सुचारु रूप से प्रस्तुत किया है। उसने इसे अग्रेजी भाषा मे Universe of desire कहा हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ 'इच्छा का विश्व' है। हमने इसके अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए 'विश्व' के स्थान पर 'व्यूह' शब्द का प्रयोग किया हैं। यहा पर व्यूह शब्द का अर्थ एक विशेष क्षेत्र हैं। मैकन्जी का कहना है कि प्रत्येक इच्छा अपने-अपने विशेष क्षेत्र मे महत्त्व रखती है। यदि उसको उस क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाए तो उसका कोई महत्त्व नही रहता। उसका यही विशेष क्षेत्र एव विश्व ही उसके महत्त्व का आधार है। उदाहरण-स्वरूप हम अपने परिवार के क्षेत्र मे कुछ इच्छाओ की पूर्ति करते हैं, किन्तु वे ही इच्छाए परिवार के बाहर अवाछनीय प्रमाणित होती है। हम अपने घर मे पुस्तक पढते हुए लेटने की इच्छा भी कर सकते हैं, किन्तु कोई भी वकील न्यायालय मे, न्यायाधीश के समक्ष पुस्तक पढते हुए, लेटने की इच्छा नही कर सकता। उसकी यह इच्छा घर के क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है न कि न्यायालय के क्षेत्र से। प्रत्येक व्यक्ति विशेष क्षेत्र मे ही विशेष इच्छाओ का स्वागत करता है और उस क्षेत्र से बाहर न ही उन इच्छाओ का अनादर

करता है, अपितु उनसे विपरीत इच्छाओ को उचित समझता है। उसका कारण यह है कि इच्छाओ का क्षेत्र एव व्यूह मनुष्य के चरित्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यो तो प्रत्येक व्यक्ति मे एक से अधिक इच्छाओ के व्यूह होते है, उदाहरणस्वरूप कुटुम्ब-सम्बन्धी इच्छाओ का व्यूह एक है, समाज-सम्बन्धी इच्छाओ का व्यूह दूसरा है, नैतिक कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओ का व्यूह तीसरा है और धर्म-सम्बन्धी इच्छाओ का व्यूह चौथा है आदि-आदि। किन्तु ये अनेक इच्छाओ के व्यूह, समय और परिस्थितियो के अनुसार, व्यक्ति के चरित्र पर छा जाते है। सामान्यतया व्यक्ति समय के परिवर्तन से एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे प्रकार की इच्छाओ के व्यूह मे प्रवेश करता है। उसकी इच्छाओ के व्यूह का यह परिवर्तन वर्षों मे, मासो मे, सप्ताहो मे, दिनो मे और घण्टो मे भी हो सकता है। यही कारण है कि व्यक्ति की इच्छाए घडी मे कुछ और घडी मे कुछ और हो जाती है। जर्मन भाषा मे एक कथन है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि व्यक्ति जो इच्छा युवावस्था मे वाछनीय समझता है, वह वृद्धावस्था मे उसी इच्छा का तिरस्कार करता है। शैशवावस्था मे व्यक्ति सुन्दर खिलौनो से खेलने की प्रवल इच्छा करता है और उसी इच्छा को ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है, किन्तु प्रौढावस्था मे खिलौनो की इच्छा करना, उसी व्यक्ति के लिए एक अपमानजनक बात हो जाती है। प्राय इच्छाओ की यह परिवर्तनशीलता काफी समय लेती है। इच्छाओ के अनेक क्षेत्रो की शृखला तो मनुष्य मे होती ही है, किन्तु इन अनेक क्षेत्रो के होते हुए भी एक न एक ऐसा इच्छाओ का क्षेत्र होता है जो आयु-पर्यन्त व्यक्ति पर प्रभुत्व रखता है। ऐसा ही विजयी इच्छाओ का व्यूह वास्तव मे मनुष्य के चरित्र को अभिव्यक्त करता है। जो व्यक्ति कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओ के क्षेत्र से इतना प्रभावित होता है कि उसकी उपस्थिति मे वह अन्य सभी इच्छाओ का त्याग कर देता है, उस व्यक्ति के चरित्र को हम कर्तव्यपरायण चरित्र कह सकते है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन मे सचय-सम्बन्धी इच्छाओ का क्षेत्र सबसे अधिक प्रभुत्त्व रखता है, ऐसे व्यक्ति को कृपण चरित्रवाला व्यक्ति कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से चरित्र का अर्थ, किसी विशेष इच्छाओ के व्यूह की आयु-पर्यन्त प्रधानता है।

चरित्र की यह परिभाषा, वास्तव मे व्यक्ति के दृष्टिकोण की स्थिरता की ओर सकेत करती है। इसमे कोई सन्देह नही है कि हमारे समाज के प्रति दृष्टिकोण, वेशभूषा के प्रति दृष्टिकोण एव धन एकत्र करने के प्रति दृष्टिकोण, विशेष परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तित होते रहते है। कुछ लोग तो परिवर्तनशीलता को ही व्यक्तित्व मानते हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि चरित्रवान व्यक्ति, अपने दृष्टिकोणो को नित्य-प्रति परिवर्तित ही करता चला जाए। आवश्यकता से अधिक परिवर्तनशीलता वास्तव मे चरित्र का निषेध है। हम चरित्रवान व्यक्ति उसे कहते हैं जो दृढसकल्प होता है और जो प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी अपने दृष्टिकोण एव आदर्श का कदापि त्याग नही करता। चरित्र के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने कहा है .

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैं,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥"

अर्थात् "जो लोग विघ्नो के भय के कारण, किसी कार्य को आरम्भ ही नही करते, वे नीच श्रेणी के होते है, जो आरम्भ करके विघ्नो के आने पर किसी कार्य को छोड देते है, वे मध्यम श्रेणी के हे, किन्तु उत्तम श्रेणी के लोग वे है,जो वार-वार विघ्नो के आने पर भी, आरम्भ किए गए कार्य का त्याग नही करते।" दूसरे शब्दो मे विशेष दृष्टिकोण की दृढता एव विशेष इच्छाओ के व्यूह की व्यापकता का दूसरा नाम चरित्र है। चरित्रहीन व्यक्ति वही है, जिसके सकल्प और जिसकी इच्छाए क्षण-क्षण मे परिवर्तित होती रहती है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इच्छाओ के सघर्ष मे मनुष्य की क्या परिस्थिति होती है और उसके चरित्र का इस सघर्ष मे क्या महत्त्व होता है ?

इच्छाओं का संघर्ष

इच्छाओ का व्यूह विशेष प्रकार की रुचियो पर आधारित होता है और वे रुचिया केवल विशेष परिस्थितियो मे ही महत्त्व रखती है। दूसरे शब्दो मे, इच्छाओ का व्यूह विशेष परिस्थितियो मे एक प्रकार का दृष्टिकोण है जो विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न हो जाता है। एक मनुष्य मे इस प्रकार भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते है और मनुष्य का आधार उन सबसे प्रभावित होता रहता है। उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति का एक दृष्टिकोण कुटुम्व के हित से सम्बन्ध रखता है, उसका दूसरा दृष्टिकोण उसके सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है; उसका तीसरा दृष्टिकोण उसके देश के हित से सम्बन्ध रखता है और उसका चौथा दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय हित से सम्बन्ध रखता है। इन सभी दृष्टिकोणो पर आधारित इच्छाए भी विभिन्न ही होती है। कई वार इन विभिन्न इच्छाओ का परस्पर सघर्ष हो जाता है। ऐसा सघर्ष ही नैतिक समस्या उत्पन्न करता है। उस सघर्ष का सर्वोत्तम उदाहरण हमे भगवद्गीता के प्रथम अध्याय मे मिलता है। अर्जुन अपने देश के हित के लिए कुरुक्षेत्र मे अत्याचारियो के विरुद्ध युद्ध करने की इच्छा से उपस्थित होता है, किन्तु ज्योही वह कौरवो और पाण्डवो की सेनाओ के बीच मे खड़ा होकर यह देखता है कि दोनो ओर उसके सम्वन्धी और कुटुम्बवाले ही एक-दूसरे का सहार करने पर तुले हुए है, तो उसकी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि वह अपने कुटुम्व को नष्ट होने से वचा ले। इसी प्रकार उसके राष्ट्र-सम्वन्धी हित और कुटुम्ब-सम्बन्धी हित पर आधारित इच्छाओ का सघर्ष हो जाता है। हम अनेक वार ऐसे सघर्षो का अनुभव करते हैं।

जव दो इच्छाओ का परस्पर सघर्ष होता है तो मनुष्य की अवस्था अनिश्चित-सी होती है। उसके मन मे एक प्रकार का युद्ध उत्पन्न हो जाता है और वह उस सघर्ष के कारण किसी भी निर्णय पर नही पहुच सकता। इस संघर्ष मे व्यक्ति का अपने-आपसे

ही युद्ध होता है। वह स्वय ही युद्ध का क्षेत्र होता है, स्वय ही विरोधी दल होता है और स्वय ही युद्ध होता है। सघर्ष की इस अवस्था का वर्णन करते हुए प्रोफेसर ड्यूई ने अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक मे लिखा है

"यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह युद्ध अथवा सघर्ष वह है जो मनुष्य के अन्दर घटित होता है। यह आत्मा का आत्मा से सघर्ष है। यह आत्मा का किसी ऐसी वस्तु से सघर्ष नही है जोकि उससे बाहर हो, न ही वह एक प्रेरणा का दूसरी प्रेरणा से ऐसा सघर्ष है जिसमे वह स्वय एक ऐसा तटस्थ दर्शक हो, जोकि युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा हो। इच्छाओ के सघर्ष की यथार्थता इसमे है कि मनुष्य अपने-आपसे सघर्ष करता हुआ अभिव्यक्त होता है, वह स्वय ही विरोधी दल होता है और स्वय ही युद्ध-क्षेत्र होता है।"[1]

इच्छाओ के सघर्ष मे उस समय तक अनिश्चितता और तनाव की स्थिति बनी रहती है, जब तक कि उन दो इच्छाओ मे से किसी एक की विजय नही हो जाती। तनाव की अवस्था एक चिन्ता की अवस्था होती है, जिसमे व्यक्ति समस्या के दोनो पक्षो पर चिन्तन करता है और दोनो पक्षो के गुण-दोषों के प्रति तर्क-वितर्क करता है। इस अवस्था के पश्चात् जब दो इच्छाओ मे से एक विजयी होती है और दूसरी पराजित, तो विजयी इच्छा को आकाक्षा कहा जाता है। आकाक्षा को भी सकल्प नही कहा जा सकता, क्योकि वह केवल दो सघर्षग्रस्त इच्छाओ मे से एक विजयी इच्छा होती है। आकाक्षा और सकल्प का भेद हम आगे चलकर बतलाएगे। यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि दो सघर्षग्रस्त इच्छाओ मे से कौन-सी इच्छा विजयी होती है और क्यो होती है। जनसाधारण इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहेगा कि अधिक प्रबल इच्छा विजयी होती है, जबकि दुर्बल इच्छा पराजित होती है। किन्तु वास्तव मे यह बात नही होती। इच्छाओ के सघर्ष मे वही इच्छा विजयी होती है जोकि शक्तिशाली इच्छाओ के व्यूह से सम्बद्ध होती है। एक इच्छा स्वय प्रबल होते हुए भी इसलिए विजयी नही हो सकती कि वह उस इच्छाओ के व्यूह का अग है, जोकि व्यक्ति-विशेष के लिए प्रभावशाली नही है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक महाविद्यालय का आचार्य, जोकि अनुशासनप्रिय है, इस दुविधा मे पड़ जाता है कि वह अपने पुत्र को, जिसने कि महाविद्यालय का अनुशासन भग किया है, दण्ड दे या न दे।

---

१. "It is important to notice that it is a strife or conflict which goes on in the man himself, it is a conflict of himself with himself It is not a conflict of himself with something external to him, nor of one impulse with another impulse, he meanwhile remaining a passive spectator awaiting the conclusion of the struggle What gives the conflict of desires its whole meaning is that it represents the man at strife with himself He is the opposing contestants as well as the battlefield" —John Dewey, Psychology, Pages 364-65

इस उदाहरण मे, आचार्य के मन मे दो इच्छाओ का सघर्ष उत्पन्न होता है। एक इच्छा उसके वात्सल्य से सम्बन्ध रखती है और दूसरी इच्छा उसके कर्तव्य से। अपने पुत्र के प्रति प्रेम से सम्बद्ध इच्छा, निस्सन्देह एक शक्तिशाली इच्छा है। किन्तु उसका सम्बन्ध जिस इच्छाओ के व्यूह से है, यदि वह व्यूह उस आचार्य-विशेष के लिए शक्तिशाली होगा, तभी वह अपने पुत्र को दण्ड देने की इच्छा को विजयी नही होने देगा। यदि इसके विपरीत, आचार्य का कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओ का व्यूह अधिक शक्तिशाली होगा, तो वात्सल्य से सम्बन्धित पुत्र पर दया करने की इच्छा स्वय प्रबल होते हुए भी विजयी नही हो सकेगी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य, आचार-विज्ञान के लिए, इसलिए महत्त्व रखता है कि यह प्रत्येक कर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति को मनुष्य के चरित्र पर आधारित होना सिद्ध करता है। हम आगे चलकर, सकल्प की स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हुए इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेगे।

आकाक्षा और सकल्प के भेद की व्याख्या करने से पूर्व, उन इच्छाओ के प्रति दो शब्द कह देना आवश्यक है, जोकि मानसिक सघर्ष मे पराजित हो जाती है। सामान्य व्यक्ति का यह दृष्टिकोण है कि जो इच्छा पराजित हो जाती है, वह सदा के लिए हमारे जीवन से विच्छिन्न हो जाती है, अर्थात् उसका हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नही रहता। किन्तु मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने यह प्रमाणित किया है कि पराजित इच्छाए हमारे अचेतन मन मे अव्यक्त रूप मे उपस्थित रहती है और वे सदैव चेतन मन मे आने का प्रयास करती रहती है। वे सदा के लिए लुप्त नही हो जाती। इसके विपरीत वे छिपे हुए शत्रुओ की भाति इस ताक मे रहती हैं कि अवसर प्राप्त हो और वे पुन. चेतना मे प्रवेश करे। मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे जो अनुसन्धान हुए हैं, उनके अनुसार हमारा असामान्य व्यवहार, हमारे स्वप्न, हमारी लिखने व बोलने मे भूले, सभी उन अचेतन इच्छाओ के कारण होती है, जिनका दमन किया गया होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार हमारा मानसिक जीवन स्वतन्त्र नही है, अपितु अचेतन इच्छाओ के द्वारा नियत है। दमित इच्छाओ का आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व तो नही है, किन्तु इसका कुछ सबध सकल्प की स्वतन्त्रता से अवश्य है। यहा पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि पराजित इच्छाए, सम्भवतया काफी समय तक अचेतन मन मे उपस्थित रहती हैं।

आकांक्षा और संकल्प

जैसाकि हमने ऊपर कहा है कि इच्छाओ के सघर्ष मे जो इच्छा विजयी होती है वही आकांक्षा कहलाती है। किन्तु आकाक्षा, सकल्प के स्तर से न्यून होती है। संकल्प का अर्थ, न ही केवल एक इच्छा को पराजित करना और दूसरी को वाछनीय स्वीकार करना है, किन्तु उसका अर्थ, विजयी इच्छा के सभी परिणामो को भी स्वीकार करना है, जोकि उस इच्छा के पूर्ण होने पर घटित होगे। दूसरे शब्दो मे, सकल्प मे भविष्य का पूरा विचार कर लिया जाता है और यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विजयी

इच्छा की पूर्ति, न ही केवल आकांक्षित है, अपितु सम्भव भी है। यह सम्भावना केवल कल्पित नही होती, अपितु निश्चित होती है। अत हमारी अनेक आकाक्षाए इसलिए पूर्ण नही हो पाती कि उनको स्वीकार करते समय हमने सभी परिणामो का अनुमान नही लगाया होता। इसके अतिरिक्त विजयी इच्छा, कई वार ऐसी भी होती है कि जिसको हम अपनी विवशता के कारण सकल्प मे परिवर्तित ही नही कर सकते। उदाहरणस्वरूप, विश्वविद्यालय का एक नवयुवक छात्र भारत का राष्ट्रपति वनने की आकाक्षा कर सकता है, किन्तु वह उसका सकल्प उस समय तक नही कर सकता, जव तक कि वह इस वात को स्वीकार न कर ले कि भारतीय विधान के अनुसार उसमे वे सभी गुण उपस्थित है, जोकि राष्ट्रपति वनने के लिए आवश्यक है। जव हमारा कोई मित्र अथवा सम्बन्धी किसी रोग मे ग्रस्त होता है, हम उसके शीघ्र स्वस्थ होने की आकाक्षा कर सकते है, किंतु सकल्प नही कर सकते। हमारे जीवन मे अनेक ऐसे उदाहरण देखने मे आते हैं, जिनमे कि हमारी विजयी इच्छाए आकाक्षा की सीमा से आगे नही वढ पाती। सकल्प का अर्थ सभी गुण-दोषो का पूर्ण निरीक्षण करके, इच्छा को कार्यरूप मे परिणत करने का अतिम निश्चय कर लेना है। सकल्प का आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व है।

हमने पहले अध्याय मे धर्म (Virtue) की व्याख्या करते हुए यह वताया था कि आचार-विज्ञान कला इसलिए नही हो सकता, क्योकि सदाचार एव धर्म का विशेष लक्षण सकल्प है, जवकि कला की निपुणता मे केवल सकल्प का कोई महत्त्व नही है। हम किसी भी व्यक्ति के आचार को तव तक सदाचार नही मान सकते, जव तक कि उसने उस कार्य को सकल्प के द्वारा न किया हो। सुकरात के अनुसार, धर्म एक प्रकार का ज्ञान है, उसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि अनजाने मे धर्म का आचरण नही किया जा सकता। यहा पर जानने का अर्थ, तर्क के द्वारा निश्चय कर लेना एव सकल्प कर लेना होना चाहिए। यही कारण है कि अरस्तू ने धर्म की व्याख्या करते हुए यह वतलाया, "धर्म एक सविकल्पक आदत है, अर्थात् धर्म का आधार सविकल्पक निर्वाचन एव सकल्प है। जो व्यक्ति किसी शुभ कार्य को करने का दृढ सकल्प कर लेता है और कुछ आकस्मिक परिस्थितियो के कारण वह उस सकल्प को कार्य मे परिणत नही कर सकता, तव भी हम उस व्यक्ति को दुराचारी नही कहेगे। इस विषय पर हम इसी अध्याय मे आगे चलकर प्रकाश डालेगे। यहा पर इतना कह देना उचित है कि आकाक्षा सकल्प की अपेक्षा न्यून स्तर पर है, किन्तु इच्छा की अपेक्षा ऊचे स्तर पर है।

संकल्प तथा कर्म

सकल्प का अर्थ, जैसाकि हमने ऊपर देखा है, किसी कार्य को करने का मानसिक निश्चय एव निर्णय है। इससे यह स्पष्ट है कि सकल्प किसी कर्म को करने से पहले की अवस्था है। सकल्प किसी भविष्य के उद्देश्य से सम्बन्धित निश्चय है। कभी-कभी यह उद्देश्य निकटवर्ती होता है और कभी दूरवर्ती। दोनो अवस्थाओ मे किया गया सकल्प

कर्म मे परिवर्तित हो भी सकता है और नही भी हो सकता। इसमे कोई सन्देह नही कि सकल्प का आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व है। जो व्यक्ति सत्कर्म का दृढ सकल्प करता है वह सराहनीय अवश्य है, किन्तु केवल सकल्प करने-मात्र को सदाचार नही कहा जा सकता। सदाचार का अर्थ, शुभ संकल्प को केवल मानसिक स्तर तक ही सीमित करना नही है, किन्तु उसको कार्यरूप मे परिवर्तित करने का सतत प्रयत्न करना है। अनेक वार हमारा किया गया सकल्प, समय तथा परिस्थितियो के परिवर्तन के कारण, कार्यान्वित नही हो सकता। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक व्यक्ति प्रात काल उठने का दृढ सकल्प कर लेता है। जब उठने का समय आता है, वह आखे खोलता है, किन्तु प्रात काल की शीतल वायु तथा निद्रा का आनन्द उसे अपने सकल्प को कार्यान्वित नही करने देता। सकल्प करते समय व्यक्ति उन कठिनाइयो का केवल मानसिक अनुमान लगाता है, जोकि सकल्प को कार्यरूप मे परिणत करते समय वाधक होती है। कर्म करते समय सम्भावित परिस्थितिया जब वास्तव मे सामने आती है, तो वे विभिन्न हो सकती हैं। अत. कर्म करने की अवस्था सकल्प की अवस्था से भिन्न है। दृढ सकल्प व्यक्ति को निस्सन्देह इच्छित कर्म को करने मे सहायता अवश्य देता है। दृढ सकल्पवाला व्यक्ति भविष्य मे घटित होनेवाली परिस्थितियो का सामान्य रूप से अनुमान लगा लेता है और सकल्प को कर्म मे परिवर्तित करते समय परिस्थितियो के साधारण परिवर्तन की परवाह नही करता।

प्रेरक तथा उद्देश्य

आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण से सकल्प तथा कर्म की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि विशेष महत्त्व इसलिए रखती है कि हम नैतिक निर्णय केवल सामान्य व्यक्ति के सविकल्पक कर्म पर ही देते हैं, न कि उसके निर्विकल्पक व्यवहार पर अथवा उसकी अचेतन जीवन-सम्बन्धी सहज क्रियाओ पर। हम उस कर्म को शुभ अथवा अशुभ कह सकते है, जोकि एक सामान्य व्यक्ति के द्वारा उसकी सामान्य चेतना मे सकल्प की प्रक्रिया से निर्वाचित किया गया हो। जब एक व्यक्ति ऐसा कर्म करता है, तो उस कर्म में उद्देश्य होता है। अत उद्देश्य (Intention) तथा उससे सम्बन्धित प्रेरणा, जोकि कर्म को उत्तेजित करती है, दो ऐसे मनोवैज्ञानिक अग है, जिनका विश्लेषण आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व रखता है।

साधारणतया उद्देश्य हमारे सकल्प का वह अग है, जो उस घटना की ओर निर्देश करता है, जिसको कि हम अपने कर्म के द्वारा घटित करना चाहते हैं, किन्तु जो कुछ भी हम कर्म द्वारा घटित करना चाहते है, वह प्राय एक जटिल परिणाम ही होता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि मै दिल्ली जाना चाहता हू। दिल्ली जाना मेरा उद्देश्य है। यदि मैं इस उद्देश्य का गम्भीर विश्लेषण करू, तो मैं इस परिणाम पर पहुचूगा कि यह उद्देश्य भी एक जटिल वस्तु है। यदि मैं यह प्रश्न करू कि मैं दिल्ली क्यो जाना चाहता हू, अर्थात् मेरे दिल्ली जाने के उद्देश्य को प्रेरित करनेवाली एव उसको उत्तेजित करनेवाली वस्तुए कौन-कौन-सी है, तो मुझे इस प्रश्न के अनेक उत्तर मिलेगे। सम्भवतया, मैं

लालकिला देखने के लिए दिल्ली जा रहा हू, उसके साथ-साथ किसी मित्र को मिलना भी मेरे उद्देश्य मे सम्मिलित है। सम्भवतया, अपने प्रकाशक से मिलकर उससे कुछ धन प्राप्त करना भी दिल्ली जाने का एक कारण है। दिल्ली जाने के ये सभी कारण वास्तव मे मेरे उद्देश्य के प्रेरक है। यदि उद्देश्य का अर्थ वह घटना है जोकि हम करना चाहते है, तो प्रेरक का अर्थ वह वस्तु है जोकि हमे उस कर्म को करने के लिए उत्तेजित करती है अथवा प्रेरित करती है। वास्तव मे उद्देश्य और प्रेरक एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के दो अग है, जो एक-दूसरे से पृथक् तो नही, किन्तु जिनका भेद अवश्य जाना जा सकता है। प्रेरक उद्देश्य का केन्द्र होता है, जबकि उद्देश्य प्रेरक के कारण ही उत्पन्न होता है। प्रेरक और उद्देश्य के भेद को समझने के लिए उद्देश्य के भिन्न प्रकारो की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

उद्देश्यो के विभिन्न प्रकारो के विषय मे मैकन्जी ने सर्वोत्तम व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके अनुसार उद्देश्यो को पाच विभिन्न जोडो मे विभाजित किया जा सकता है, जो निम्नलिखित है[1] :

(१) वर्तमान तथा दूरवर्ती उद्देश्य (Immediate and remote intentions)
(२) बाह्यात्मक तथा अन्तरात्मक उद्देश्य (Outer and inner intentions)
(३) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य (Direct and indirect intentions)
(४) चेतन तथा अचेतन उद्देश्य (Conscious and unconscious intentions)
(५) सैद्धान्तिक तथा भौतिक उद्देश्य (Formal and material intentions)

अब हम उद्देश्य के इन प्रकारो की सक्षिप्त व्याख्या करेगे।

वर्तमान तथा दूरवर्ती उद्देश्य

जैसाकि उद्देश्य के इन प्रकारो के नाम से विदित हो रहा है, वर्तमान उद्देश्य वह उद्देश्य है जोकि किसी कर्म के तुरन्त घटित होनेवाले परिणाम से सम्वन्धित है, जबकि दूरवर्ती उद्देश्य का सम्बन्ध किसी भविष्य मे घटित होनेवाले परिणाम से सम्बन्ध रखता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि चलती हुई गाडी मे से एक आदमी गिरता है और उसे दो विभिन्न व्यक्ति देख रहे हैं। दोनो तुरन्त जजीर खीचकर गाडी रुकवा देते है। उन दोनो व्यक्तियो मे से एक का उद्देश्य तो उस वेचारे को वापस गाडी पर बिठाना है, जबकि दूसरे का उद्देश्य उसको पुलिस को सौपने का है, क्योकि वह व्यक्ति उसके साथी का बटुआ लेकर गाडी से कूद रहा था। इस उदाहरण मे रेलगाडी के जजीर खीचने के

१ Mackenzie, A Manual of Ethics, Pages 48, 49, 50

कर्म का वर्तमान उद्देश्य तो एक है, किन्तु उन दोनो व्यक्तियो के दूरवर्ती उद्देश्य विभिन्न है। दोनो गाडी तो अवश्य रोकना चाहते है, यह उनका वर्तमान उद्देश्य है, किन्तु एक व्यक्ति गिरते हुए व्यक्ति को बचाने के लिए और दूसरा उसे पुलिस को सौंपने के लिए गाडी रुकवाता है। अत उनके दूरवर्ती उद्देश्य विभिन्न है। हम उद्देश्यो के इस प्रकार के भेद के सम्बन्ध मे, यह निश्चित रूप मे नही कह सकते कि केवल दूरवर्ती उद्देश्य ही प्रेरक होता है। सम्भवतया अधिकाश उदाहरणो मे दूरवर्ती उद्देश्य को ही प्रेरक माना जाएगा। इसके सम्बन्ध मे हम आगे चलकर व्याख्या करेंगे।

बाह्यात्मक तथा अन्तरात्मक उद्देश्य

बाह्यात्मक उद्देश्य प्राय वह उद्देश्य होता है, जोकि किसी कर्म के वास्तविक करने से सम्बन्ध रखता है, जबकि अन्तरात्मक उद्देश्य, उस कर्म के अव्यक्त कारण से सम्बन्ध रखता है। इन दो प्रकार के उद्देश्यो को स्पष्ट करने के लिए, प्राय. अमेरिका के विख्यात प्रधान अब्राहम लिंकन के उस कार्य का उदाहरण दिया जाता है, जिसमे कि उसने अपने बाल्यकाल मे एक सूअर को कूडे-कर्कट से भरे हुए गड्ढे मे बाहर निकलने मे सहायता दी थी। जब लोगो ने उसके इस कार्य की सराहना की तो अब्राहम लिंकन ने कहा, "मैंने इस पशु को केवल गड्ढे से बचाने के लिए ही सहायता नही की, बल्कि मैंने यह कार्य अपने मन से उस तनाव की अवस्था को हटाने के लिए किया है, जोकि उस पशु के दु ख को देखकर मेरे मन मे उत्पन्न हो गई थी।" इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि अब्राहम लिंकन का बाह्यात्मक उद्देश्य सूअर को बचाना था, किन्तु उसका अन्तरात्मक उद्देश्य अपने मानसिक तनाव को हटाना था। हमारे जीवन मे अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमे हमारे कर्म का बाह्यात्मक उद्देश्य एक होता है और अन्तरात्मक उद्देश्य दूसरा। जब हम किसी दुर्घटना मे ग्रस्त बुरी तरह से आहत व्यक्ति को उठाकर तुरन्त डाक्टर के पास पहुचाने का कर्म करते हैं, तो उसमे हमारा बाहरी उद्देश्य तो उस व्यक्ति को दु ख से बचाना होता है, किन्तु हमारा आन्तरिक उद्देश्य हमारे मन मे स्थित उस दु ख की भावना से निवृत्त होने का भी होता है, जोकि उसकी दयनीय अवस्था को देखकर हमारे मन मे उत्पन्न हो जाती है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य

प्रत्यक्ष उद्देश्य तो हमारे कर्म का वास्तविक लक्ष्य होता है, किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ ऐसी अवाछनीय परिस्थितिया भी होती है, जोकि उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य होती है। हमारे लक्ष्य से सम्बन्धित यह वाछनीय परिस्थितिया एव परिणाम, हमारी अनिच्छा होते हुए भी, हमारे उद्देश्य मे सम्मिलित होते हैं और यह ही अप्रत्यक्ष उद्देश्य कहलाते है। उदाहरणस्वरूप, जब भारत के नेताओ ने स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय भारत के विभाजन को स्वीकार किया, तो उनका ऐसा करना दो प्रकार के उद्देश्यो

को अभिव्यक्त करता था। उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य तो राष्ट्र को स्वतन्त्र करना था, किन्तु ऐसा करने के लिए देश के बटवारे को स्वीकार करना, अवाछनीय होते हुए भी, उनके उद्देश्य मे सम्मिलित था, क्योकि उसके बिना अग्रेजी साम्राज्य का भारत मे अन्त नही हो सकता था। इसी प्रकार भारत की स्वतन्त्रता के सग्राम मे, चन्द्रशेखर आजाद ने एक बार वाइसराय की गाडी को बम के द्वारा उडा देने का निश्चय किया। ऐसा करने मे यह स्पष्ट था कि वाइसराय के साथ-साथ उसके भारतीय सेवक भी मारे जाएगे। चन्द्रशेखर आज़ाद के इस संकल्प मे भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य उपस्थित थे। उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य तो विदेशी साम्राज्यवादी वाइसराय को मारना था, किन्तु उसके साथ-साथ उसके सेवको का मरना भी अनिवार्य होने के कारण उसका अप्रत्यक्ष उद्देश्य था।

चेतन तथा अचेतन उद्देश्य

चेतन उद्देश्य का अर्थ वह लक्ष्य है जोकि कर्म करनेवाला व्यक्ति अपने सामने रखता है और उसे जान-बूझकर स्वीकार करता है। इसके विपरीत अचेतन उद्देश्य एक अव्यक्त लक्ष्य होता है, जिसको कि व्यक्ति चेतनावस्था मे स्वीकार नही करता। वह उद्देश्य अचेतन तथा अस्पष्ट रहता है। समाज-सेवा मे प्रवृत्त व्यक्ति, परोपकार का कार्य करते समय, समाज के कल्याण का उद्देश्य तो स्पष्ट रूप से सामने रखता ही है, अत समाज का कल्याण उसके कर्म का चेतन उद्देश्य है। किन्तु समाज-कल्याण के उद्देश्य के साथ-साथ सम्भवतया उसके अचेतन मन मे यह इच्छा भी छिपी रहती है कि समाज-सेवा से उसको ख्याति प्राप्त हो जाए। उसका यह अव्यक्त उद्देश्य अचेतन उद्देश्य कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक परोपकारी व्यक्ति, नि स्वार्थ सेवा करते हुए भी अचेतन रूप से किसी न किसी आत्मविकास-सम्बन्धी अचेतन उद्देश्य से प्रेरित होकर ही अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ निरुद्देश्य कर्म नही है, उसका उद्देश्य निस्सन्देह कोई न कोई आत्मविकास-सम्बन्धी अचेतन प्रेरणा होता है। हम आगे चलकर देखेगे कि भगवद्गीता का नि स्वार्थ एव निष्काम कर्मयोग अचेतन रूप से मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति के अचेतन उद्देश्य पर आधारित रहता है।

सैद्धान्तिक तथा भौतिक उद्देश्य

सैद्धान्तिक उद्देश्य, जैसाकि उसके नाम से स्पष्ट है, हमारे कर्म के उस आधारभूत सिद्धान्त एव नियम की ओर सकेत करता है जिसको कि कर्म करनेवाला व्यक्ति एक वाछनीय आदर्श मानता है। अत सैद्धान्तिक उद्देश्य का अर्थ व्यक्ति का वह दृष्टिकोण है जोकि उसे विशेष प्रकार का कर्म करने पर प्रेरित करता है। इसके विपरीत भौतिक उद्देश्य का अर्थ, किए जानेवाले कर्म का ठोस परिणाम है। अत सिद्धान्त का अर्थ अन्तरात्मक आदर्श से है, जबकि भौतिक उद्देश्य का सम्बन्ध घटना के ठोस परिणाम से है। दो व्यक्ति एक ही कर्म को करते समय भौतिक उद्देश्य मे भले ही समान हो, किन्तु

सैद्धान्तिक उद्देश्य की दृष्टि से उनकी विभिन्नता हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि हमारी ससद् के चुनाव मे, दो व्यक्ति साम्यवादी दल के एक ही प्रतिनिधि को निर्वाचन मे परास्त करना चाहते है। उनमे से एक तो उनका विरोध इसलिए करता है कि साम्यवादी दल किसी विदेशी नीति से प्रेरित होता है और दूसरा इसलिए विरोध करता है कि साम्यवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन करता है। इस उदाहरण मे दोनो व्यक्तियो का भौतिक उद्देश्य तो एक ही है और वह है साम्यवादी दल को परास्त करना, किन्तु उनके सैद्धान्तिक उद्देश्य भिन्न है। एक व्यक्ति का सैद्धान्तिक उद्देश्य, राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण पर आधारित है और दूसरे का दृष्टिकोण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। अत. उन दोनो का भौतिक उद्देश्य एक होते हुए भी सैद्धान्तिक उद्देश्य विभिन्न है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि उद्देश्य का सम्बन्ध प्रेरक से रहता है। वास्तव मे प्रेरक किसी कर्म के उद्देश्य का अग होता है। इस दृष्टि से प्रेरक और उद्देश्य मे भेद करना बहुत कठिन हो जाता है। प्रेरक हमारे कर्म का कारण अवश्य होता है; किंतु कारण केवल निमित्त ही नही होता, अपितु लक्ष्य की ओर भी सकेत करता है। अत प्रेरक उसीको कह सकते हैं, जो हमे विशेष रूप से कर्म करने के लिए प्रेरित (Impels) करता है अथवा बाध्य (Induces) करता है। उदाहरणस्वरूप, जब हम घृणा, भय, दया आदि के कारण कर्म करते हैं, तो हम उनसे, इन भावो से प्रेरित होते है। किन्तु सदैव भावना से प्रेरित होना एक चरित्रवान व्यक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से उचित नही है। यही कारण है कि आचार-विज्ञान मे हम प्रेरक उसीको मान सकते हैं, जोकि हमे कर्म को विशेष प्रकार से करने के लिए बाध्य करता है। इस दृष्टि से, जब हम किसी व्यक्ति को दयनीय अवस्था मे देखते है, तो हम केवल दया के लिए ही उसकी दशा सुधारने की चेष्टा नही करते, अपितु उसके साथ-साथ उसके उत्थान के उद्देश्य को भी ध्यान मे रखते है। यदि हम केवल दया से ही प्रेरित होकर रह जाए, तो अधिक से अधिक हम उसके लिए आसू बहा सकते हैं, किन्तु जब हम उसकी दशा सुधारने की चेष्टा करते है, तो हम केवल भावना से ही प्रेरित नही होते, अपितु कर्म करने पर बाध्य होते हैं। अत प्रेरक, जोकि हमे कर्म करने पर बाध्य करता है, वास्तव मे वाछनीय उद्देश्य का विचार है। यही कारण है कि हमने प्रेरक को उद्देश्य मे अग माना है। प्राय· प्रेरक मे दूरवर्ती उद्देश्य का अधिकाश होता है और निकटवर्ती उद्देश्य का अधिक भाग उसमे नही होता। इसी प्रकार उसमे प्रत्यक्ष उद्देश्य होता है जबकि अप्रत्यक्ष उद्देश्य नही होता। प्राय उसमे अधिकाश सैद्धान्तिक उद्देश्य का होता है और भौतिक उद्देश्य का अधिक अंश नही होता। उसमे कभी बाह्यात्मक, कभी अन्तरात्मक, कभी चेतन, कभी अचेतन उद्देश्य उपस्थित रहते है। उद्देश्य तथा प्रेरक का यह सम्बन्ध और स्वरूप, आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। इस महत्त्व की व्याख्या करने के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है कि क्या नैतिक निर्णय उद्देश्य पर दिया जाता है अथवा प्रेरक पर।

नैतिक निर्णय का विषय

जब हम किसी व्यक्ति के कर्म का नैतिक मूल्याकन करते है, अर्थात् जब हम उसको शुभ अथवा अशुभ, सत् अथवा असत् घोषित करते है, तो ऐसा करते समय या तो कर्म के प्रेरक के आधार पर या उसके उद्देश्य के आधार पर निर्णय देते है। दूसरे शब्दो मे, नैतिक निर्णय का विषय उद्देश्य भी हो सकता है और प्रेरक भी। आचार-विज्ञान के चिन्तको मे नैतिक निर्णय के विषय के आधार पर दो सिद्धान्त प्रचलित है, जो निम्नलिखित है :

(१) उद्देश्यात्मक अथवा उपयोगवादी सिद्धान्त (Utilitarian view-point)

(२) अन्तरात्मक सिद्धान्त (Intuitive view-point)

प्रयोगवादियों के अनुसार, नैतिक निर्णय का विषय उद्देश्य (Intention) माना गया है और अन्तरात्मवादियो के अनुसार नैतिक निर्णय प्रेरक से ही सम्बन्ध रखता है। हम पहले उपयोगितावादी दृष्टिकोण की व्याख्या करेंगे और तत्पश्चात् अन्तरात्मवादी दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। उपयोगितावादियो का मुख्य दृष्टिकोण जे० एस० मिल के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, जब हम किसी कर्म पर नैतिक निर्णय देते हैं, तो हम उस कर्म के प्रेरक की ओर विशेष ध्यान नही देते। इसके विपरीत हम उस परिणाम की ओर ध्यान देते है, जोकि उस कर्म का उद्देश्य होता है। प्रेरक तो केवल कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और वह प्रेरणा अच्छे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है, बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है एव तटस्थ भी हो सकती है। इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए हम उत्सुकता-रूपी प्रेरक का उदाहरण दे सकते है। एक बालक उत्सुकता से प्रेरित होकर शुभ कर्म भी कर सकता है, अशुभ कर्म भी कर सकता है तथा तटस्थ कर्म भी कर सकता है। यदि उत्सुकता से प्रेरित होकर वह एक उपयोगी पुस्तक पढता है, तो उसका यह कर्म शुभ माना जाएगा, यदि वह उत्सुकता के कारण एक पागल कुत्ते को लोगो के समूह की ओर धकेल देता है, तो वह बुरा कर्म करता है और यदि वह उसी प्रेरणा के कारण अपने लट्टू को घुमाता है, तो उसका यह कर्म तटस्थ हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरणो के आधार पर मिल यह घोषणा करता है, "किसी कर्म की नैतिकता, पूर्णतया उद्देश्य पर अर्थात् उस परिणाम पर निर्भर है जिसको फलित करने का सकल्प किया जाता है। किन्तु प्रेरक अर्थात् वह भावना, जोकि कर्ता को इस प्रकार का सकल्प कराती है, न तो उस कर्म मे परिवर्तन करती हैं और न उसकी नैतिकता का निर्णय देती है, यद्यपि वह कर्ता के प्रति नैतिक अनुमान लगाने मे अवश्य महत्त्व रखती है।"[१]

इस दृष्टिकोण को हम शत-प्रतिशत तो सगत नही मान सकते। कुछ सीमा तक यह कहना ठीक है कि केवल प्रेरक ही किसी कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक नही बना सकता। यदि ऐसा होता तो हम विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न प्रेरको के आधार पर

१. J. S. Mill : Utilitarianism, Chapter II, Page 27, note.

ही किसी कर्म को अच्छा या बुरा मानते। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ईश्वर के भय के कारण पाच हज़ार रुपया निर्धनो को दान देता है और दूसरा केवल दया से प्रेरित होकर ऐसा करता है। यदि हमारे नैतिक निर्णय मे प्रेरक ही प्रधान होता, तो हम ईश्वर के भय से प्रेरित होनेवाले कर्म को तथा दया से प्रेरित होनेवाले कर्म को नैतिकता की दृष्टि से विभिन्न मानते, किन्तु वास्तव मे हम ऐसा नही करते। इन दो प्रकार के प्रेरको से प्रेरित होनेवाले व्यक्ति के चरित्र के प्रति हम अवश्य भिन्न निर्णय दे सकते हैं। हम पहले व्यक्ति को दयालु और दूसरे को धार्मिक वृत्तिवाला कह सकते हैं, किन्तु नैतिक दृष्टि से हम उन दोनो के कर्म को समान रूप मे शुभ ही मानेगे।

ऊपर दिए गए उदाहरणो मे प्रेरक को केवल मूल प्रवृत्ति एव भावना-मात्र ही माना गया है, किन्तु हम यह जानते है कि प्रेरक का अर्थ केवल उत्तेजना देनेवाली प्रवृत्ति ही नही है, अपितु उसका अर्थ वह प्रेरणा है, जोकि हमे विशेष रीति से कर्म करने पर वाध्य करती है। उदाहरणस्वरूप, जब एक धनवान व्यक्ति आयकर से वचने के लिए लाखो रुपये व्यय करके चिकित्सालय बना देता है, तो उसका यह कर्म उसके प्रेरक के कारण नैतिक नही माना जाएगा। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि नैतिक निर्णय का सम्वन्ध अशत प्रेरक से अवश्य होता है। उसका कारण यह है कि नैतिक निर्णय केवल घटना पर अथवा कर्म के परिणाम पर ही नही दिया जाता, अपितु कर्ता के संकल्प को ध्यान मे रखते हुए, उसके प्रेरक तथा उद्देश्य दोनो पर दिया जाता है। यदि नैतिक निर्णय का सम्वन्ध केवल घटना अथवा परिणाम से होता, तो हम भूकम्प तथा वृष्टि आदि पर भी नैतिक निर्णय देते। किन्तु हम वास्तव मे ऐसा नही करते। नैतिक निर्णय मे हम सामान्य व्यक्ति के व्यवहार एव चरित्र (Conduct) का मूल्याकन करते हैं। इसलिए अनेक वार हम नैतिक निर्णय मे परिणाम की उपेक्षा कर देते है। जब एक शल्य-चिकित्सक, रोगी की शल्य-चिकित्सा करते हुए उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है, तो हम चिकित्सक के इस कर्म को अनैतिक नही कहते, यद्यपि उसका परिणाम एक व्यक्ति की मृत्यु होता है। इसी प्रकार जव एक दुष्ट वालक भीख मागनेवाले को कष्ट पहुचाने की दृष्टि से उसका सिर फोडने के लिए एक रुपया फेकता है, किन्तु वह मुद्रा याचक को न छूकर पृथ्वी को लग जाती है और वह उसे उठाकर अपने भूखे वच्चो के लिए अन्न खरीदता है, तो हम उस वालक के इस कर्म को दुष्प्रेरणा के कारण अशुभ ही कहेगे, यद्यपि उसका परिणाम शुभ ही होता है।

चरित्र के मूल्याकन मे व्यक्ति का प्रेरक उसके सकल्प को अभिव्यक्त करता है। जो सकल्प सद्भावना पर आधारित होता है उसीको शुभ सकल्प कहा जाता है और शुभ सकल्प पर आधारित क्रिया सदैव शुभ मानी जाती है। इसी दृष्टि से ही कांट ने शुभ सकल्प को स्वलक्ष्य मूल्य (Intrinsic value) माना है। हमने पहले अध्याय मे ही काट के इस दृष्टिकोण की चर्चा की है। इसके विपरीत उपयोगितावादियो का कहना है कि यदि शुभ सकल्प शुभ परिणाम मे फलित नही होता, तो उसे नैतिक नही मानना चाहिए।

उनका ऐसा कहना भी शत-प्रतिशत संगत नही है। कभी-कभी शुभ सकल्प, शुभ परिणाम मे परिणत नही होता, किन्तु सामान्यतया दृढ सकल्पवाला व्यक्ति सद्भावना को सत्कार्य मे परिणत करने मे अवश्य सफल रहता है। अग्रेजी भाषा मे कहा गया है कि "जहा चाह तहा राह।"[1] यदि प्रेरक भी शुभ हो और परिणाम भी शुभ हो, तो कर्म को निस्सन्देह नैतिक ही माना जाएगा। नैतिक निर्णय देते समय हम न केवल प्रेरक को और न ही केवल उद्देश्य को महत्त्व देते है, अपितु इन दोनो का इसलिए मूल्याकन करते हैं, क्योकि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध केवल परिणाम से नही होता अर्थात् की गई घटना-मात्र से नही होता, अपितु उस व्यक्ति के चरित्र से होता है, जिसपर कि कर्म करने का उत्तरदायित्व है।

अन्तरात्मवादी विचारक व्यक्ति के सकल्प पर एवं कर्म के आन्तरिक अग पर अधिक बल देते हैं, जबकि उपयोगितावादी कर्म के भौतिक परिणाम पर अधिक बल देते हैं। अन्तरात्मवादियो का दृष्टिकोण नैतिक नियम को मनुष्य के अन्तस् मे निहित मानता है, जबकि उपयोगितावादियो का दृष्टिकोण बाहरी परिस्थितियो को मनुष्य के कल्याण एवं सुख के लिए जुटाने-मात्र को नैतिक आदर्श मानता है। हम आगे चलकर देखेगे कि ये दोनो दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक है। अन्तरात्मवादी दृष्टिकोण अशत सत्य है, इसी प्रकार उपयोगितावादी दृष्टिकोण अशत यथार्थ है। इन दोनो का सुन्दर समन्वय ही यथार्थ नैतिक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। हम इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण की चर्चा यथास्थान करेगे। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र से होता है और उसका चरित्र, प्रेरक तथा उद्देश्य, साधन तथा लक्ष्य, आन्तरिक सकल्प तथा परिणाम, सद्भावना तथा सुख की अनुभूति दोनो मे समान रूप से अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि हम नैतिक निर्णय देते समय, न केवल प्रेरक को और न केवल उद्देश्य को मूल्याकन का आधार मानते हैं, अपितु इन दोनो को समान महत्त्व देते है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

हमने ऊपर बताया है कि नैतिक निर्णय का विषय व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र होता है। जब हम किसी व्यक्ति के कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक, शुभ अथवा अशुभ घोषित करते है, तो हम एक तटस्थ दृष्टिकोण से यह आकने की चेष्टा करते है कि उस व्यक्ति का प्रेरक तथा उसका उद्देश्य दोनो नैतिक दृष्टि से क्या मूल्य रखते है। कुछ विचारको ने ऐसी धारणा प्रस्तुत की है कि हर व्यक्ति के कर्म का एकमात्र प्रेरक सुख ही है। यदि यह सिद्धान्त यथार्थ मान लिया जाए, तो किसी प्रकार के अन्य नैतिक आदर्श की आवश्यकता नही रहती। यदि सुख ही मनुष्य के सब प्रकार के कर्मों का प्रेरक है और यह तथ्य एक अनिवार्य स्वाभाविक सत्य है, तो मनुष्य को किसी अन्य आदर्श की प्राप्ति

१. "Where there is a will, there is always a way"

के लिए कठिन और दु खद मार्ग पर चलाना न ही केवल अनुचित होगा, अपितु असम्भव भी होगा। अत आचार-विज्ञान के मुख्य विषय मे प्रवेश करने से पूर्व, इस समस्या का निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि क्या वास्तव मे हमारी इच्छा का एकमात्र उद्देश्य सुख की प्राप्ति होता है? जो लोग सुख को ही इच्छा का आधार मानते है, वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) के समर्थक माने जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या देने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि यह सुखवाद नैतिक सुखवाद से किस प्रकार भिन्न है। सुखवाद का अर्थ सुख को लक्ष्य एव उद्देश्य मानना है। पश्चिमीय दर्शन मे, सुखवाद की उत्पत्ति यूनानी विचारको के समय से मानी गई है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध विशेषकर एपिक्योरियनवाद (Epicureanism) से माना गया है। एपिक्योरस एक विख्यात यूनानी दार्शनिक था, जिसके अनुयायी 'खाओ, पियो और मौज उडाओ'[१] को ही जीवन का उद्देश्य मानते थे। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे सुखवाद के दो भेद माने गए हैं—(i) मनोवैज्ञानिक सुखवाद, (ii) नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)। दोनो सुखवाद, सुख की प्राप्ति को ही इच्छा अथवा कर्म का लक्ष्य मानते हैं, किन्तु उनमे अन्तर केवल इतना है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार सुख को इच्छा का लक्ष्य मानना एक स्वाभाविक तथ्य है, जबकि नैतिक सुखवाद के अनुसार सभी इच्छाओ तथा कर्मों को केवल सुख की प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करना ही नैतिक दृष्टि से उचित है एव नैतिक आदर्श है। जहा तक नैतिक सुखवाद का सम्बन्ध है, हम इसकी व्याख्या उचित स्थान पर करेगे। क्योकि इस अध्याय का सम्बन्ध आचार की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से है, इसलिए यहा पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दो मुख्य समर्थक बैन्थम तथा जे० एस० मिल है। बैन्थम के अनुसार, "प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दु ख के साम्राज्य के अधीन रखा है। हमारे सभी विचार इन्ही (सुख और दु ख) पर आधारित हैं। हम अपने सभी निर्णय तथा जीवन के सभी सकल्प इन्हीसे सम्बन्वित करते हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको इसी आधिपत्य से पृथक् करने का बहाना करता है, वह यह नही जानता कि वह क्या कह रहा है। उसका एकमात्र ध्येय सुख का अनुसरण करना और दु ख से निवृत्ति प्राप्त करना है। जब वह अधिक से अधिक सुखो का तिरस्कार करके कठिन दु खो को भी अपनाता है, तब भी वह सुख को ही ध्येय बना रहा होता है। नैतिक व्यक्ति के लिए तथा विधान बनानेवाले के लिए, यह शाश्वत अनिवार्य स्थायी भाव अध्ययन का मुख्य विषय होना चाहिए। उपयोगिता का सिद्धान्त सब कुछ इन दो प्रेरको के अधीन कर देता है।"[२] इसी प्रकार जे० एस० मिल भी सुख को ही इच्छा का एकमात्र उद्देश्य मानता है। वह

---

१ 'Eat, drink and be merry.'

२ Bentham. Principles of Legislation, Chapter I.

तो इच्छा तथा सुख दोनो को एक मानता है और इन दोनो के पार्थक्य को स्वीकार नही करता। उसके अनुसार इच्छा तथा सुख, अनिच्छा तथा दु.ख एक ही तथ्य के दो नाम है। मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए उसकी पुस्तक उपयोगितावाद मे से निम्न-लिखित पक्तियो को उद्धृत करना आवश्यक है·

"अब यह निश्चय करना है कि क्या यह वास्तव मे सत्य है; क्या मनुष्य-मात्र इसके अतिरिक्त किसी चीज की इच्छा नही करते, जोकि उनके लिए सुख हो अथवा जिसमे दु ख की अनुपस्थिति हो। हम निस्सन्देह ऐसे तथ्य और अनुभव के प्रश्न पर पहुच गए है, जोकि अन्य ऐसे प्रश्नो की भाति साक्षी पर निर्भर है। इसका निर्णय केवल अनुभवी आत्मचेतना तथा ऐसे आत्मनिरीक्षण के द्वारा दिया जा सकता है, जिसको कि दूसरे लोगो के निरीक्षण से भी सहायता प्राप्त हो। मेरा यह विश्वास है कि यदि साक्षी के इन स्रोतो का तटस्थ रूप से अध्ययन किया जाए, तो वे प्रमाणित करेंगे कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद अनुभव करना, उसकी अनिच्छा करना तथा उसे दु खद समझना, ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णतया अभिन्न हैं अथवा एक ही तथ्य के दो अग है, सकीर्ण भाषा मे वे एक ही तथ्य को अभिव्यक्त करने के दो विभिन्न रूप है।"[1]

मिल के उपर्युक्त कथनो से यह स्पष्ट है कि उसने इच्छा तथा सुख को अभिन्न एक ही तथ्य मानकर न ही केवल एक मनोवैज्ञानिक भूल की है, अपितु इस तथ्य को अनुभव के द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करके उसने यथार्थता का उल्लघन किया है और इस प्रकार वह स्वय तर्काभास का शिकार हुआ है। एक ओर तो मिल किसी वस्तु की इच्छा करने तथा उसको सुखद मानने को एक ही तथ्य की दो विभिन्न भाषा-सम्बन्धी अभिव्यक्तिया मानता है और दूसरी तरफ वह यह स्वीकार करता है कि इस समस्या का समाधान अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा किया जा सकता है। एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति भी मिल के इस विरोधाभास की ओर सकेत कर सकता है। यदि सुख और इच्छा एक ही है, तो हम अनुभव के द्वारा उनको पृथक् कैसे कर सकते हैं? और यदि वे पृथक् नही है, तो उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियो और विभिन्न नामकरण की क्या आवश्यकता है? इससे यह सिद्ध होता है कि मिल का यह दृष्टिकोण भ्रान्त धारणा पर आधारित है।

इससे पूर्व कि हम मिल के मनोवैज्ञानिक सुखवाद की विस्तृत आलोचना करे, बैन्थम के उपर्युक्त कथनो के प्रति भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। जब बैन्थम अपनी उत्कृष्ट भाषा मे यह घोषित करता है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दु ख के साम्राज्य के अधीन रखा है, तो वह एक क्षण के लिए यह भूल जाता है कि उसकी यह घोषणा और उसकी यह अलकृत भाषा मे अभिव्यक्ति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि मनुष्य मे सुख और दु ख की भावना के अतिरिक्त तर्क एव बुद्धि का तत्त्व भी उपस्थित है और यह

---

१ J S Mill Utilitarianism, Book II, Chapter IV

तत्त्व ही उसको अन्य प्राणियो की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाता है। यदि केवल सुख की भावना-मात्र ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होती, यदि विषय-भोग आदि ही मनुष्य के जीवन का सार होते, तो आज मनुष्य बौद्धिक विकास के द्वारा सभ्य और सुसस्कृत न होता, न ही वह विज्ञान के चमत्कारी आविष्कार कर सकता और वह केवल पाशवी स्तर पर अन्य प्राणियो की भाति बुद्धिहीन मूलप्रवृत्त्यात्मक जीवन ही व्यतीत करता। सस्कृत मे किसी विद्वान ने कहा है

"आहारनिद्राभयमैथुन च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो,
ज्ञानेन हीना पशुभि समाना ॥"

अर्थात् "पशुओ तथा मनुष्यो मे आहार, निद्रा, भय तथा काम आदि की प्रवृत्तिया समान रूप से उपस्थित रहती है। मनुष्यो मे ज्ञान ही एकमात्र विशेष तत्त्व है (जोकि मनुष्य को श्रेष्ठ बनाता है)। जो मनुष्य ज्ञान से वचित है, वह पशुओ के समान है।" बैन्थम इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य का जीवन केवल रोटी पर ही निर्भर नही है (Man does not live by bread alone) और वह अन्य पशुओ की भाति केवल मूल प्रवृत्तियो की तृप्ति के आधार पर ही जीवन व्यतीत नही करता। इसके विपरीत, अपने आदर्श की पूर्ति के लिए मनुष्य दु ख और कठिनाइयो से सघर्ष करने मे अपने को धन्य समझता है। नैतिक वीर वही माना जाता है जो विषय-भोग आदि का त्याग करके, वासनाओ का तिरस्कार करके और क्षणिक सुख तथा दु ख की अवहेलना करके परम शुभ एव श्रेयस् की ओर अग्रसर होता है। प्रत्येक उच्च कोटि के धर्म मे तथा सुसस्कृत समाजो मे सयम को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वास्तव मे मानव-समाज का विकास सयम का विकास है। मानव-मात्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक, सक्षिप्त मे उसकी समस्त सास्कृतिक उन्नति उसके विवेक और सयम की देन है। यह विवेक और सयम उसे स्वार्थ से ऊपर उठाते हैं और उसकी सद्भावनाओ को प्रेरित करके सहानुभूति और समाज-सेवा मे प्रवृत्त करते है। मनुष्य की यह परोपकार की प्रवृत्ति निस्सन्देह एक ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसके बिना मानव को मानव नही कहा जा सकता। एक उर्दू के कवि ने ठीक ही कहा है ·

"हमदर्दी के लिए पैदा किया इन्सान को,
वर्ना इताअत के लिए कम न थे फरिश्ते।"

अर्थात् "ईश्वर ने मनुष्य को सहानुभूति दर्शाने के ही लिए उत्पन्न किया है, वरन उसकी (ईश्वर की) आज्ञा का पालन करने के लिए देवता पर्याप्त थे।" मनुष्य परोपकार और सहानुभूति के लिए दु खो को सहन करता है और सुखो का त्याग करता है। बैन्थम मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप और उसके आन्तरिक, बौद्धिक, नैतिक एव आध्यात्मिक स्वभाव को भूल जाता है। अत वह मनुष्य के स्वभाव का केवल एकपक्षीय दृष्टिकोण

प्रस्तुत करता है। मानव की सभी इच्छाओ, प्रवृत्तियों तथा क्रियाओं को सुख-दु ख की भावनाओ के अन्तर्गत करना मनुष्य के दैवी स्वरूप को दानवी स्वरूप मे परिवर्तित करना है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद न ही केवल मनुष्य के बौद्धिक अग की अवहेलना करता है, अपितु वह सुख (Pleasure) शब्द के अर्थ करने मे भी भूल करता है। अंग्रेजी भाषा मे प्लैजेंट (सुखद) शब्द का अर्थ है, वह वस्तु या कार्य जिसके करने मे हमे प्रसन्नता प्राप्त होती है। अत जब हम यह कहते हैं कि कोई व्यक्ति अमुक क्रिया करने मे सुख का अनुभव करता है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि वह उस क्रिया के निर्वाचन मे अपने सकल्प का प्रयोग करता है और यही सकल्प का प्रयोग करना ही उसकी प्रसन्नता है अर्थात् उसके सुख का कारण है। दूसरे शब्दो मे, सुखद शब्द का अर्थ वह तत्त्व है, जोकि हमारे संकल्प पर विशेष आकर्षक शक्ति का प्रभाव डालता है। इस दृष्टिकोण से, सुखद वस्तु को ही इच्छा का नाम दे देना एव उनको एक मान लेना, इच्छा की व्याख्या नही करता। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की इच्छा तथा सुख को एक ही तथ्य स्वीकार करने की धारणा, भ्रान्त और असगत धारणा है। इस दोष के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद मे निम्नलिखित भ्रान्तिया है

(१) सुखवाद का विरोधाभास,
(२) आवश्यकताओ का तृप्ति से पूर्व होना,
(३) सुखद वस्तुओ तथा सुख की भावना मे अन्तर न करना।

सुखवाद का विरोधाभास

पश्चिम के विख्यात आचार-विज्ञान के विद्वान सिजविक (Sidgwick) ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद की बहुत सुन्दर आलोचना की है। उसने मनोवैज्ञानिक सुखवादियो की भ्रान्त धारणा मे निहित विरोधाभास को अभिव्यक्त करते हुए यह बताया है कि हम क्रिया करते समय किसी लक्ष्य की इच्छा करते है, न कि उस लक्ष्य से सम्बद्ध सुखद भावना की। यदि हम अपनी सविकल्पक क्रिया का विश्लेषण करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि यदि हम सुखद वस्तु की भी इच्छा करते हैं तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम साधन यही है कि हम उसकी प्राप्ति की चेष्टा करते समय उसके सुखद तत्त्व को भूल जाए। दूसरे शब्दो मे, सुख की प्राप्ति उस समय तक नही हो सकती, जब तक कि मनुष्य सुख की भावना को पूर्णतया विस्मृत करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे निष्काम और नि स्वार्थ रूप से जुट नही जाए। सुख की प्राप्ति के लिए सुख को विस्मृत करना नितान्त आवश्यक है, उदाहरणस्वरूप, विद्या की प्राप्ति को सर्वोत्तम इसलिए माना गया है कि वह हर प्रकार के सुखो का स्रोत है। भर्तृहरि ने यथार्थ कहा है, "विद्या भोगकरी यश सुखकरी।" अर्थात् "विद्या हर प्रकार के भोग और सुख को देनेवाली है।" जब एक विद्या मे सलग्न छात्र उच्चतम उपाधि को प्राप्त करता है, तो उसकी वह प्राप्ति निस्सन्देह परम

सुखदायिनी होती है, किन्तु यह प्राप्ति तभी हो सकती है जब विद्यार्थी इससे पूर्व इस इच्छा की पूर्ति के लिए सुख को त्याग दे। विश्राम और सुख की प्रवृत्तिवाला छात्र कदापि सफल विद्यार्थी नही बन सकता। इसी दृष्टिकोण को सस्कृत के निम्नलिखित कथन मे सुचारु रूप से अभिव्यक्त किया गया है·

"सुखार्थिन कुतो विद्या,
विद्यार्थिन कुत. सुखम्।"

अर्थात् "सुख की इच्छा मे सलग्न रहनेवाले व्यक्तियो को विद्या प्राप्त नही हो सकती और सच्चे विद्यार्थी को सुख एव विश्राम प्राप्त नही हो सकता।"

सिजविक ने सुख की प्राप्ति के इस विरोधाभास को अनेक उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया है। मान लीजिए कि हम किसी ऐसे खेल का उदाहरण देते है, जिसमे कि विजय की आकाक्षा रहती है। ऐसे खेल मे आरम्भ मे कोई भी खिलाडी विजय की इच्छा पर अपने ध्यान को केन्द्रित नही करता, कम से कम खेल के संघर्ष मे प्रवृत्त होने से पूर्व उसके लिए आकाक्षित विजय प्राप्त करने के पश्चात् सुख की कल्पना-मात्र भी करना उस समय सहज नही होता। यदि वह खेल मे रुचि लेने की अपेक्षा कल्पित विजय के सुख मे ध्यान लगाए, तो वह कदापि खेल मे विजयी नही हो सकता। अत उस समय उसकी इच्छा सघर्ष के जोश की इच्छा अवश्य होती है। इस इच्छा मे वह इतना मग्न होता है कि उसे उस सुख को विस्मृत करना पडता है, जोकि उसे अन्त मे प्राप्त होनेवाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कला की कृति मे, कलाकार के लिए तटस्थ रूप से अपने कार्य मे प्रवृत्त होना नितान्त आवश्यक है। मिल यह भूल जाता है कि वास्तविक आनन्द कर्म मे इतना विलीन हो जाने मे है कि व्यक्ति अपने-आपमे खो जाए। अग्रेजी के विख्याल लेखक इरविंग ने यथार्थ कहा है, "आनन्द का मूल तत्त्व आत्मविस्मृति है।"[१] यहा पर इन उदाहरणो का आशय यह है कि यह कहना कि इच्छा का लक्ष्य सदैव सुख ही होता है, एक भ्रान्ति है। सुखवाद का विरोधाभास यह प्रमाणित करता है कि इच्छा सुख की अपेक्षा अन्य विषयो की ओर लगाई जा सकती है।

आवश्यकताओं का तृप्ति से पूर्व होना

यदि हम इच्छाओ तथा उनकी तृप्ति का निष्पक्ष विश्लेषण करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि अनेक सुखद इच्छाए ऐसी होती हैं, जिनमे हमे उस समय तक सुख की अनुभूति नही हो सकती, जब तक कि उन इच्छाओ को पहले अनुभूत नही कर लिया गया हो। ऐसी अवस्था मे कुछ इच्छाओ की अनुभूति की आवश्यकता पहले होती है और उसके पश्चात् ही उनमे निहित सुख का अनुभव होता है। ऐसी सुखद इच्छाओ मे हमारा लक्ष्य सर्वप्रथम कोई वास्तविक कर्म होता है, जिसके बिना उस इच्छा का कोई महत्त्व

१. "Self-forgetfulness is the essence of enjoyment."

नही होता। उदाहरणस्वरूप, उदारता और परोपकार के सुख को ले लीजिए। जिस व्यक्ति ने दूसरो के कल्याण की इच्छा कभी नही की, वह कदापि उदारता और परोपकार मे निहित सुख को प्राप्त नही कर सकेगा और न ही कभी उस सुख की इच्छा कर सकेगा। हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि सुख का उपभोग तभी होता है जब कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दो मे, इच्छा की पूर्ति मे जो तृप्ति मिलती है, वह आवश्यकता से पूर्व नही होती। यदि आवश्यकता तृप्ति से पूर्व है, तो यह कहना एक भ्रान्ति है कि हमारी सभी इच्छाओ का लक्ष्य सुख ही होता है। हम इसी तथ्य को अनेक उदाहरणो द्वारा स्पष्ट कर सकते है। जिस व्यक्ति ने कभी कॉफी नही पी हो, उसे कदापि स्वाद की प्राप्ति के लिए कॉफी पीने की इच्छा नही होगी। इसके विपरीत, आरम्भ मे यदि कॉफी न पीनेवाले व्यक्ति को एक प्याला कॉफी भेट किया जाए, तो वह उसे लेने के लिए कदापि तत्पर नही होगा। यदि उसके जाने विना उसके दूध के गिलास मे थोडी-सी कॉफी मिला दी जाए, तो सम्भवतया दूसरे दिन वह उसी प्रकार के स्वादवाले दूध की इच्छा करेगा। यदि कई दिनो तक, उस व्यक्ति को दूध मे इस प्रकार कॉफी मिलाकर दी जाए कि धीरे-धीरे उसकी (कॉफी की) मात्रा अधिक कर दी जाए, तो वह कॉफी न पीनेवाला व्यक्ति कॉफी पीने की इच्छा प्रकट करने लगेगा। अब उसकी यह इच्छा कॉफी पीने से तृप्ति प्राप्त करने के कारण होगी। इसी प्रकार खाने-पीने की सभी आदते यह प्रमाणित करती है कि इच्छा के सम्बन्ध मे आवश्यकताए तृप्ति से पूर्व होती हैं।

सुखद वस्तुओ तथा सुख की भावना मे अन्तर न करना

मनोवैज्ञानिक सुखवादियो की सबसे बडी भूल यह है कि वे सुख की भावना अर्थात् किसी इच्छा की पूर्ति के पश्चात्, तृप्ति की भावना तथा सुखद विषय अथवा वस्तु मे जो भेद होता है, उसकी अवहेलना करते है। सुख शब्द के दो अर्थ है, एक दृष्टि से सुख का अर्थ वह सुख की भावना एव अनुभूति है, जोकि प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के पश्चात् हमे अनुभूत होती है। सुख का दूसरा अर्थ, कोई भी ऐसा विषय अथवा वस्तु है, जोकि हमे सुख की भावना प्रदान करती है। पहली दृष्टि से सुख को केवल एकवचन मे ही लिया जाता है, अत इसे अग्रेजी भाषा मे Pleasure अर्थात् सुख कहा जाता है। यहा पर सुख एक प्रकार की अमूर्त तृप्ति की भावना है जोकि वास्तव मे किसी न किसी विषय से सम्बद्ध रहती है। सुख का दूसरा अर्थ बहुवचन मे लिया जाता है, जिसका आशय वे सभी विषय अथवा वस्तुए हैं, जिनकी प्राप्ति तृप्ति की सुखद भावना प्रदान करती है। इस दृष्टि से ही हम यह कहते है .

"पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख पास मे माया" इत्यादि। धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि इसी दृष्टि से सुख कहे जाते है। यदि सुख का अर्थ सुखद विषय मान लिया जाए, तो यह कहना कि हम सदैव सुख की इच्छा करते है, इस तथ्य का द्योतक है कि हम

सुखो की इच्छा करते है अर्थात् उन विषयों की इच्छा करते है, जिनकी प्राप्ति से हमे सुख मिलता है। इस प्रकार का कथन यह प्रमाणित नही करता कि हमारी इच्छा का लक्ष्य अमूर्त दृष्टि से सुख ही होता है। यह कथन तो केवल इतना प्रमाणित करता है कि हम उस वस्तु की ही इच्छा करते हैं, जिसकी कि हम इच्छा करते है, क्योकि इच्छित वस्तु, जिसकी प्राप्ति सुखद होती हैं, वही सुख कहलाती है। यह आवश्यक नही कि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है वह अपने-आपमे सुखद हो। वह तो केवल इच्छा करनेवाले व्यक्ति के लिए ही सुखद होती है। अपने-आपमे वह सम्भवतया दु खद भी हो सकती है। एक बिल्ली के लिए चूहे को मारना सुखद है, किन्तु किसी जीव की हिंसा करना अपने-आपमे सुखद नही है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की हत्या करना सुखद नही कहा जा सकता, किन्तु हत्या करनेवाले के लिए वह इसलिए सुखद है कि उस हत्या से उसे तृप्ति प्राप्त होती है। वास्तव मे हम सुख की इच्छा नही करते, अपितु विशिष्ट सुख की इच्छा करते है। विशिष्ट सुख (Qua-pleasure) का अर्थ कोई भी वस्तु अथवा घटना है, जिसकी पूर्ति से कर्म करनेवाले व्यक्ति को तृप्ति मिलती है और वह तृप्ति उसका व्यक्तिगत सुख होता है।

रेशडाल ने भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं और जिसे अन्य वस्तु से अधिक सुखद मानते है, वह अपने-आपमे कोई मूल्य नही रखती। इसके विपरीत उसका मूल्यांकन एव उससे प्राप्त होनेवाली सुख की मात्रा उस व्यक्ति पर निर्भर रहती है, जो उस वस्तु की इच्छा करनेवाला होता है। एक शराबी, जोकि शराब के नशे मे अपनी पत्नी को पीटने मे सुख प्राप्त करता है, नशे के उतर जाने पर अनुभव करता है कि पत्नी को पीटना वास्तव मे सुखद नही है। शराब पीते समय भी, यदि वह निष्पक्ष रूप से विचार करे, तो वह स्वय इस बात को स्वीकार करेगा कि पत्नी को पीटने की अपेक्षा उसके लिए शराब का एक प्याला पीना अधिक सुखकारी है, किन्तु जब वह शराबी अपनी आदत के अनुसार पत्नी को पीटना आरम्भ करता है, उस समय उसे एक प्याला शराब प्रस्तुत कीजिए, वह उसे स्वीकार नही करेगा और पत्नी को पीटना ही अधिक सुखकारी समझेगा। इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि हमारी इच्छा का लक्ष्य अपने-आपमे दु खद भी हो सकता है, किन्तु वह इच्छा करनेवाले के लिए इसलिए सुखकारी प्रतीत होता है कि इच्छा करनेवाले व्यक्ति का दृष्टिकोण उसे वाछनीय प्रमाणित करता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवादी इस बात को भूल जाते हैं कि इच्छा करने की प्रक्रिया एक जटिल मानसिक परिस्थिति होती है और इच्छा का लक्ष्य भी एक जटिल घटना एव परिस्थिति होती है, जिसमे ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। सुख की भावना तो उस जटिल इच्छित घटना का एक अश-मात्र है। अत वह स्वय पृथक् रूप से सम्पूर्ण लक्ष्य नही बन सकती। कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि वह अमूर्त सुख का अनुभव कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि उसे सुख एव प्रसन्नता हो रही है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसे किसी विषय की प्राप्ति के कारण अथवा

किसी विचार के कारण ही ऐसा सुखद अनुभव हो रहा है। यदि ऐसे व्यक्ति से पूछा जाए कि वह क्यो प्रसन्न है एव क्यो सुख का अनुभव कर रहा है, तो उसका उत्तर यह नही होगा कि वह प्रसन्नता के कारण ही प्रसन्न है अथवा सुख के कारण ही सुख का अनुभव कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि वह अकारण ही प्रसन्न होता है और अकारण ही सुख का अनुभव करता रहता है, तो ऐसे व्यक्ति को पागल ही माना जाएगा। सुख, जैसाकि हमने पहले भी कहा है, कोई पृथक् अमूर्त तत्त्व नही है जिसका कि एकान्त अनुभव किया जा सके, वह तो स्वय किसी घटना एव परिस्थिति से सम्बद्ध तत्त्व है। यदि सुख का पृथक् अस्तित्व नही है, तो यह कहना कि हम केवल सुख की ही इच्छा करते हैं, सर्वथा असगत और असम्भव बात है। जब हम धन, शक्ति, ख्याति, सगीत, स्वास्थ्य आदि की भी इच्छा करते है, तो हम इन सबको पृथक् सुख की भावना मानकर नही चलते। इनकी प्राप्ति मे सुख निहित अवश्य रहता है और वह सुख, इनकी प्राप्ति से जो जटिल चेतन अनुभव होता है, उसका एक अश-मात्र होता है। जब हम इन सभी विषयो की इच्छा करते है, तो हम यह कह सकते है कि हम सुखो की एव उन वस्तुओ की इच्छा करते है, जिनकी उपलब्धि से हमे तृप्ति के कारण सुख अनुभूत होता है। इसका अभिप्राय यह नही कि हम कभी भी अपने सामान्य अनुभव मे सुख नाम की अमूर्त भावना को इच्छा का उद्देश्य एव लक्ष्य स्वीकार करते हैं।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सर्वथा भ्रान्त और असगत धारणा है, जिसका आधार तर्कात्मक और मनोवैज्ञानिक विरोधाभास है। हमने ऊपर बताया है कि बैन्थम का दृष्टिकोण मनुष्य के स्वभाव की यथार्थ अभिव्यक्ति नही है। इसी प्रकार मिल का दृष्टिकोण भी इच्छा के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विपरीत है। सामान्य व्यक्ति भी इस दृष्टिकोण को अपने अनुभव के विपरीत ही पाता है। अत आचार-विज्ञान मे मनोवैज्ञानिक सुखवाद को स्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद को असगत प्रमाणित करने पर भी हम यह नही कह सकते कि नैतिक सुखवाद भी इन्ही कारणो से अप्रमाणित किया जा सकता है। नैतिक सुखवादी यह कह सकते है कि सुख को ही कर्म का लक्ष्य बनाना भले ही मनुष्य के स्वभाव मे न हो, किन्तु हमे चाहिए कि हम अधिक से अधिक सुख को ही आचार का चरम लक्ष्य माने। नैतिक सुखवाद की इस धारणा की व्याख्या तथा आलोचना हमे आगे चलकर करनी होगी।

तीसरा अध्याय

आचार-विज्ञान की आधारभूत मान्यताएं

(The Pre-suppositions of Ethics)

आचार-विज्ञान की परिभाषा देते हुए हमने यह स्वीकार किया था कि पश्चिमीय दृष्टिकोण के अनुसार, आचार-विज्ञान वह आदर्शवादी विज्ञान है, जोकि मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य एव परम श्रेयस् का अध्ययन करता है। प्रत्येक विज्ञान एक सुव्यवस्थित अध्ययन होने के कारण कुछ आधारभूत मान्यताए लेकर चलता है। उन्ही मान्यताओ के आधार पर ज्ञान का व्यवस्थित, क्रमबद्ध तथा विधियुक्त रूप बनता है। ये मान्यताए ऐसी होती है कि जिनके विना विज्ञान-विशेष का विषय पूर्ण रूप से जाना नही जा सकता और न ही उस विज्ञान मे तर्कसगत सिद्धान्तो को निर्धारित किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, किसी भी विषय का अध्ययन तब तक वैज्ञानिक नही हो सकता, जब तक कि उस अध्ययन को आरम्भ करने के लिए कुछ मान्यताओ को स्वीकार न किया जाए। आचार-विज्ञान मे तो आधारभूत मान्यताओ का महत्त्व अन्य विज्ञानो की अपेक्षा और भी अधिक है। इसका कारण यह है कि अन्य विज्ञानो मे, विशेषकर भौतिक-विज्ञानो मे, किसी भी विषय का अध्ययन तटस्थ एव उदासीन दृष्टिकोण से किया जा सकता है, किन्तु आचार-विज्ञान का सम्बन्ध हमारे जीवन से है और यदि जीवन के संचालन के लिए मनुष्य के सामने कोई मान्यता न हो, तो उसका जीवन नीरस और निष्क्रिय ही हो जाएगा। विना विश्वास और निष्ठा के किसी भी आदर्श को व्यावहारिक जीवन मे कार्यान्वित नही किया जा सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर, यूरोप के आधुनिक युग के विख्यात नैतिक दार्शनिक काट ने आचार-विज्ञान की निम्नलिखित तीन आधारभूत मान्यताओ को स्वीकार किया है .

(१) सकल्प का स्वातन्त्र्य (Freedom of will)
(२) आत्मा का अमरत्व (Immortality of soul)
(३) ईश्वर का अस्तित्व (Existence of God)

इस अध्याय मे हम इन तीन मान्यताओ का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। इससे पूर्व कि इन तीनो तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी, आचार-विज्ञान की मान्यताओ की व्याख्या की जाए, यह बता देना भी नितान्त आवश्यक है कि एमेनुअल काट ने किस आधार पर इन तीन मान्यताओ को नैतिकता की आधारशिलाए एव अनिवार्य मान्यताए स्वीकार किया

है। ऐसी पृष्ठभूमि देने के पश्चात् ही हम तीनो मान्यताओ का पृथक्-पृथक् आलोचनात्मक अध्ययन कर सकेगे। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि काट ही केवल ऐसा दार्शनिक है, जो अपने विचार मे तथा आचार मे उच्चतम नैतिक (Moral par excellence) माना जा सकता है। यदि हम उसे पश्चिमीय आचार-विज्ञान का जन्मदाता भी कह दे, तो हमारा यह कथन पश्चिमीय दर्शन के सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति नही होगा।

कांट का दृष्टिकोण

काट न ही केवल एक नैतिक विचारक था, अपितु वह एक महान दार्शनिक भी था। उसने समस्त ज्ञान तथा विज्ञान को अपने विचार की परिधि मे लिया, इसके साथ ही साथ उसका चिन्तन इतना सम्पूर्ण था कि उसने विश्व-सम्बन्धी तथा व्यक्ति-सम्बन्धी सभी समस्याओ को एक अद्वितीय आलोचनात्मक चिन्तन के अधीन किया। नैतिकता की उपर्युक्त तीन मान्यताओ का प्रतिपादन काट ने अपनी विख्यात कृति 'व्यावहारिक तर्क की आलोचना' (The Critique of the Practical Reason) मे किया है। उसका यह मत है कि सकल्प का स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व तथा ईश्वर का अस्तित्व ऐसी वास्तविक मान्यताए हैं, जो नैतिकता के लिए वैसी ही आवश्यक और अनिवार्य है, जिस प्रकार कि भौतिक-विज्ञान के लिए कुछ सैद्धान्तिक तर्क के नियम। भौतिक-विज्ञानो मे आधारभूत मान्यताए कुछ ऐसे सत्य होते है, जिनको स्वयसिद्ध माना जाता है। इन स्वयसिद्ध (Axiom) नियमो के आधार पर ही स्वभाववादी विज्ञानो का ढाचा खडा होता है। हम यह भी कह सकते है कि भौतिक तथा व्याख्यात्मक विज्ञान, प्रकृति के सारूप्य तथा विश्वव्यापी कारणता की दो मान्यताओ को स्वीकार करते है। वैज्ञानिक क्षेत्र मे इन दो मान्यताओ को स्वयसिद्ध ही माना जाता है और कहा जाता है कि इनकी अभिव्यक्ति अनुभव द्वारा नही की जा सकती, किन्तु अनुभव द्वारा इनकी मान्यता को स्वीकार किया जाता है। विज्ञान की इन दो मान्यताओ को पहले तो स्वयसिद्ध तर्कात्मक सत्य एव स्वयसिद्ध नियम माना जाता था, किन्तु अब इन्हे केवल मान्यताए ही स्वीकार किया जाता है। नैतिकता की आधारभूत मान्यताए भी स्वयसिद्ध नियम नही मानी जा सकती, अपितु वे आधारभूत मान्यताए स्वीकार की जा सकती है। अन्य विज्ञानो मे उपस्थित स्वयसिद्ध नियमो तथा मान्यताओ का नैतिक मान्यताओ से महान अन्तर है।

अन्य विज्ञानो की आधारभूत मान्यताए, विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक तर्क होती है और उनका उद्देश्य केवल तथ्यो की व्याख्या करना ही होता है। उदाहरणस्वरूप, रेखागणित मे कुछ सत्यो को मान्यता दी जाती है और उन्हे स्वयसिद्ध नियम कहा जाता है। इन्ही स्वयसिद्ध नियमो एव सत्यो के आधार पर रेखागणित का ढाचा खडा किया जाता है। प्रकृति का सारूप्य (Uniformity of Nature) तथा विश्वव्यापी कारणता का नियम भी भौतिक-विज्ञानो की मान्यताएं हैं। किन्तु ये स्वयंसिद्ध सत्य और स्वयंसिद्ध

मान्यताए हमारे जीवन तथा व्यवहार की दृष्टि से विशेप सम्बन्ध नही रखते अर्थात् इनका प्रभाव हमारे व्यावहारिक जीवन पर नही पडता। किन्तु नैतिकता के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित आधारभूत मान्यताए विशेष प्रकार की मान्यताएं होती हैं। उनका सीधा सम्बन्ध जीवन से होता है। काट के शब्दो मे, "मान्यता हमारे व्यावहारिक तर्क की आवश्यकता है, वह कर्तव्य पर किसी सकल्प के विषय को इस प्रकार परम श्रेयस् बनाने की चेष्टा पर आधारित होती है कि उस श्रेयस् को हर प्रकार की शक्तियो के प्रयोग से प्रवृद्ध किया जाए।"[१]

काट ने ईश्वर, स्वतन्त्रता तथा आत्मा के अमरत्व मे विश्वास को व्यावहारिक जीवन के लिए ही अनिवार्य माना है और कहा है कि विज्ञान के क्षेत्र में इस विश्वास की आवश्यकता नही है। इसके विपरीत विज्ञान मे ऐसा विश्वास कई वार अवाछनीय एव असंगत माना जा सकता है, किन्तु व्यवहार के क्षेत्र मे यह विश्वास नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। काट इस दृष्टिकोण पर एक विशेष क्रमवद्ध तर्क के द्वारा पहुचता है। काट का यह कहना है कि नैतिक आदेश, एक ऐसा अनिवार्य आदेश है जोकि सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू होता है। किसी भी व्यक्ति को नैतिकता की परिधि से एव कर्तव्य से मुक्त नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, नैतिकता के नियम का आचरण सर्वमान्य और शाश्वत है। जब हम कर्तव्य एव नैतिक औचित्य (Ought) को मानव-मात्र के लिए अनिवार्य मानते हैं, तो हमारी इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि सभी मनुष्यो मे सकल्प की स्वतन्त्रता है। यदि सकल्प की स्वतन्त्रता एव कर्म करने या न करने की क्षमता न हो, तो औचित्य एव कर्तव्य निरर्थक शब्द ही माने जाएगे। इसलिए काट ने कहा है कि "औचित्य मे क्षमता निहित है।"[२] अत. सकल्प का स्वातन्त्र्य नैतिक आचरण का आधार है। यदि मनुष्य मे नैतिक-कर्म को निर्वाचित करने की, अर्थात् उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की क्षमता न हो, यदि उसके सभी कर्म भौतिक घटनाओ की भाति यन्त्रवत् घटित होते हो, तो उसको हम नैतिक दृष्टिकोण से उत्तरदायी नही मान सकते। सकल्प के स्वातन्त्र्य के विना नैतिक उत्तरदायित्व सर्वथा निरर्थक है। हम इसी अध्याय मे सकल्प के स्वातन्त्र्य का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे। यहा पर केवल इतना कह देना आवश्यक है कि ऊपर दिए गए तर्क के आधार पर काट ने सकल्प के स्वातन्त्र्य को नैतिकता की प्रथम मान्यता स्वीकार किया है।

काट के अनुसार नैतिक कर्तव्य को किसी अन्य उद्देश्य के लिए नही अपनाना चाहिए, क्योकि नैतिकता एक स्वलक्ष्य गुण है। "धर्म स्वय अपना पारितोषिक है।"[3] दूसरे शब्दो मे, कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए ही है न कि किसी फल की प्राप्ति अथवा इच्छा की पूर्ति के लिए। काट का यह दृष्टिकोण भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग से मिलता-

१. Kant · The Critique of the Practical Reason, Section VIII.
२. "Ought implies can"
३ "Virtue is its own reward."

जुलता है। आगे चलकर हम उसके इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे। यहा पर काट के नैतिकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण की एक अन्य विशेषता वताना आवश्यक है। काट कर्तव्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी अपनी कृति 'व्यावहारिक तर्क की आलोचना' मे यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके शुभ-अशुभ एव सत्-असत् कर्म का फल अवश्य मिलता है। वह इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहता है कि एक ही जीवन मे कर्म के शुभ एव अशुभ फल को सम्भवतया नही भोग सकते। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को अपने नैतिक कर्मों का फल भोगने के लिए शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना पडता है। दूसरे शव्दो मे, नैतिकता हमे आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करने के लिए वाध्य करती है। अत आत्मा का अमरत्व नैतिकता की दूसरी आधारभूत मान्यता है। काट व्यावहारिक दृष्टि से ही आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करता है। अत वह न तो आत्मा के अमरत्व का कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करता है और न ही अमरत्व की कोई अन्य व्याख्या करता है। हम यह कह सकते हैं कि काट का सिद्धान्त भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त से मिलता-जुलता भले ही हो, किन्तु तत्त्वात्मक दृष्टिकोण से निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त अधिक सगत और तर्कात्मक है। भगवद्गीता की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि सुदृढ है। उसमे आरम्भ मे ही आत्मा को विश्व की अविनाशी, शाश्वत तथा आधारभूत सत्ता माना गया है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय मे स्पष्ट रूप से लिखा है·

"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिद ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥"

अर्थात् "तू उस सत् (आत्मा) को अविनाशी ही जान, जिसके आधार पर यह विश्व खडा है, उस अव्यय आत्मा का विनाश कोई व्यक्ति नही कर सकता।" इसी प्रकार भगवद्गीता मे, सर्वप्रथम अर्जुन को यह शिक्षा दी गई है कि आत्मा अविनाशी हैं, शाश्वत है और शारीरिक मृत्यु से उसका कोई सम्वन्ध नही है। अनेक बार जन्म लेने पर भी वह परिवर्तित नही होती। अत. कर्तव्य करने का उद्देश्य आत्मानुभूति एव भगवत्प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त कर्म का कोई लक्ष्य नही है अर्थात् सत् कर्म निष्काम कर्म ही है। काट की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि नैतिकता का आधार होने की अपेक्षा उसका तर्कात्मक परिणाम मानी गई है। भगवद्गीता मे आत्मा के अमरत्व के लिए ही नैतिकता का आचरण करना आवश्यक माना गया है। इसके विपरीत काट के अनुसार नैतिक आचरण के लिए ही आत्मा के अमरत्व को स्वीकार किया गया है। अत काट आत्मा के अमरत्व की तर्कात्मक चिन्तन द्वारा पुष्टि नही कर सका। वह आत्मा के अमरत्व को केवल व्यावहारिक आवश्यकता कहकर रह जाता है। उसका यह सिद्धात न तो स्वयसिद्ध है और न ही विशुद्ध तर्क के द्वारा उसको पुष्ट किया जा सकता है। इसी कारण काट का 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' एक अमूर्त सिद्धात ही वनकर रह जाता है। हम काट के नैतिक सिद्धान्त की आलोचना आगे चलकर करेंगे।

काट नैतिकता की तीसरी आधारभूत मान्यता को भी आत्मा के अमरत्व की भाति एक व्यावहारिक सत्ता (Pragmatic Reality) स्वीकार करता है। उसके अनुसार धर्मपरायण व्यक्ति को, उसके शुभ कर्म के अनुसार सुख की प्राप्ति होती है और अनैतिक व्यक्ति को, उसके अशुभ कर्मों के अनुसार अधर्म का दण्ड मिलता है। नैतिकता के क्षेत्र मे, ससार के सभी व्यक्तियो के कर्म के अनुसार सुख-दुख, पारितोषिक अथवा दण्ड देने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम एक ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करे, जिसकी आज्ञा के अनुसार सबको कर्मो का फल प्राप्त होता है। अत ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना इसलिए आवश्यक और अनिवार्य है कि इसके विना हम सत् कर्म तथा उसके फल की प्राप्ति, असत् कर्म तथा उससे सम्वन्धित दण्ड की समस्या का समाधान नही किया जा सकता। काट ईश्वर के अस्तित्व के प्रति तत्त्वात्मक प्रमाणो तथा विश्व के मूल कारण-सम्वन्धी प्रमाणो को विशुद्ध तर्क के आधार पर अस्वीकार करता है। वह उद्देश्यात्मक प्रमाण (Teleological proof) को भी तर्कसगत नही समझता। किन्तु वह नैतिक आवश्यकता को ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण मानता है। इस दृष्टि से भी काट की नैतिकता की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि भगवद्गीता के आचार-दर्शन की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि की अपेक्षा फीकी दिखाई देती है। यही कारण है कि काट का नैतिक सिद्धान्त, निष्काम कर्म का आदेश देते हुए भी अमूर्त और अव्यावहारिक सिद्ध होता है। जहा भगवद्गीता मे नैतिकता को साधन और ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य माना गया है, वहा काट के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता का एक साधन-मात्र है।

काट का ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसके समय के ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से प्रभावित है, इसलिए वह तर्क पर आधारित ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विरोध करता है और ईश्वर के विश्वव्यापी एव विश्व मे निहित होने (Immanence) के तथ्य की अवहेलना करता है। केवल व्यावहारिक आवश्यकता के लिए ही वह ईश्वर के व्यक्तिगत स्वरूप को मान्यता देता है और इस प्रकार तत्त्व की अपेक्षा उपयोगिता, वास्तविकता की अपेक्षा व्यवहार और ईश्वर के अन्तर्यामी होने की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत स्वरूप पर एव उसकी कार्य-कुशलता पर अधिक बल देता है। इसके विपरीत, भगवद्गीता मे ईश्वर को विश्व का मूल कारण, अव्यक्त, अचिन्त्य, नित्य, शाश्वत, स्थाणु, आधारभूत सत्ता माना गया है और उसकी अनेक विभूतियो को उसकी वाह्यात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है। मनुष्य मे ईश्वर की सत्ता उपस्थित होने के कारण ईश्वर-प्राप्ति सहज मानी गई है, किन्तु इस ईश्वर-प्राप्ति का साधन निष्काम कर्मयोग पर आधारित नैतिक जीवन है। इस दृष्टिकोण मे मनुष्य की श्रेष्ठता को आघात नही पहुचाया गया और न ही ईश्वर को मनुष्य की आवश्यकताओ को पूरा करने का साधन माना गया है।

काट उपयोगितावाद के प्रभाव मे और तर्क पर आवश्यकता से अधिक विश्वास रखने के कारण एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत करता है, जिसमें विरोधाभास स्पष्ट रूप से

दिखाई देता है। एक ओर तो हम काट के दर्शन को मूल्यात्मक और उद्देश्यात्मक कह सकते है और दूसरी ओर हम उसपर, ईश्वर को साधन-मात्र बना देने और इस प्रकार उसे स्वलक्ष्य न मानकर उद्देश्यहीन बना देने का आरोप लगा सकते हैं। नैतिकता का सरक्षक और मूल्यो का समर्थक काट, मनुष्य को तो अपना लक्ष्य स्वय ही मानता है और कहता है, "मनुष्य को, चाहे वह स्वय हो चाहे कोई अन्य व्यक्ति हो, कभी भी साधन मत समझो, अपितु उसे स्वय ही अपना लक्ष्य स्वीकार करो"[1] किन्तु अत्यन्त दुर्भाग्य की बात यह है कि विश्व-मात्र को उद्देश्यो का एक साम्राज्य (Kingdom of ends) माननेवाला और मनुष्य के शुभ सकल्प को उच्चतम मूल्य एव स्वलक्ष्य धर्म माननेवाला, पश्चिमीय आचारशास्त्र का प्रवर्तक काट ईश्वर को मनुष्य के सुख की प्राप्ति का साधन-मात्र मानकर उच्चतम सत्ता को गौण स्थान देने की चेष्टा करता है।

काट की यह भूल, पश्चिमीय दर्शन के इतिहास मे तत्त्वात्मक द्वैतवाद (Metaphysical Dualism) को जन्म देती है और इस प्रकार तथ्य तथा मूल्य, भौतिक जगत् तथा वस्तुओ का अपने-आपमे अस्तित्व, विज्ञान तथा धर्म को सदा के लिए पृथक् करने की चेष्टा करती है। पश्चिमीय दर्शन आज तक भी वैज्ञानिक जगत् तथा धार्मिक जगत् को पृथक् मानता है। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार, ईश्वर को भौतिक जगत् का अव्यक्त कारण मानकर और विश्व को उसकी भौतिक अभिव्यक्ति मानकर, हम तत्त्वात्मक द्वैतवाद का अन्त कर सकते है। जहा तक शुभ-अशुभ कर्मो के फल का सम्बन्ध है, भारतीय दर्शन का कर्म-सिद्धान्त इस समस्या को सुलझाने के लिए पर्याप्त है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधान, भारतीय दर्शन के अद्वैतवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है। यदि ईश्वर विश्व की आधारभूत सत्ता है और यदि विश्व उसकी भौतिक अभिव्यक्ति है, तो वह ईश्वर एक सीमित व्यक्ति न होकर निस्सदेह अव्यक्त, शक्तिमान, सर्वव्यापी, सत्, चित् और आनन्दस्वरूप परमात्मा एव ब्रह्म ही हो सकता है। ऐसा ईश्वर ही तथ्य और मूल्य, विज्ञान और धर्म, भौतिक जगत् और आध्यात्मिक सत्ता—दोनो के समन्वय का स्रोत बन सकता है। ईश्वर की ऐसी धारणा ही वैज्ञानिक विश्लेषण और तर्कात्मक आलोचना की कसौटी पर यथार्थ प्रमाणित हो सकती है।

इसमे कोई सदेह नही कि नैतिक जीवन के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। वह ईश्वर काट के दृष्टिकोण से न्यायकारी, सगुण, व्यक्तिगत, सर्वज्ञ ईश्वर माना गया है। सम्भवतया काट ने ईश्वर को अन्तर्यामी इसलिए नही माना कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का रूप मान लिया जाए और व्यक्ति के कर्म को ईश्वर से प्रेरित स्वीकार किया जाए, तो सकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं। किन्तु वास्तव मे ईश्वर के अस्तित्व की धारणा और सकल्प की स्वतन्त्रता मे परस्पर विरोध नही है। यह कथन तभी सिद्ध हो सकता है, जब ईश्वर के विश्वातीत एव निर्गुण

१. "Never treat man either in thine own person or in that of others as a means, but always as an end in himself."

तथा उसके विश्वव्यापी एव सगुण स्वरूप को स्वीकार किया जाए। ईश्वर की ऐसी धारणा हमे शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त मे उपलब्ध होती है। कांट ईश्वर को केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्वीकार करता है और इसलिए उसे सगुण और व्यक्तिगत मानता है। शकराचार्य के अनुसार निर्गुण ब्रह्म, विश्व की वह आधारभूत सत्ता है, जिसको हम सत्यं, ज्ञान, अनन्तम् कहते है। इस रूप में, ईश्वर विश्व के सभी द्वद्वो से, सत्-असत्, शुभ-अशुभ, दिक् और काल से परे एव विश्वातीत है। उसके इसी रूप का अश प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा मे उपस्थित है। उस सत्ता का सगुण स्वरूप वह ईश्वर है, जो विश्व का स्रष्टा, नियन्ता और सहारकर्ता माना गया है। यही सगुण ईश्वर काट ने स्वीकार किया है। यदि वह ईश्वर के निर्गुणस्वरूप ब्रह्म को भी स्वीकार कर लेता, तो मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता, जोकि आत्मा को कर्म-बन्धन मे डालकर जीव के आवागमन का कारण वनती है, ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रमाणित न होती। किन्तु काट ईसाई धर्म की ईश्वर-सम्वन्धी वैयक्तिक धारणा से प्रभावित होने के कारण, अन्तर्यामी ब्रह्म की धारणा नही वना सका। अत उसने उद्देश्यात्मक विश्व मे ईश्वर को एक व्यावहारिक सत्ता ही स्वीकार किया है।

ईश्वर की वैयक्तिक धारणा का मनुष्य के सकल्प की स्वतत्रता से जो सघर्ष हुआ, मध्ययुग के ईसाई पादरियो ने उसका निवारण करने की चेष्टा की। उन्होने ऐसा करने के लिए अपनी धार्मिक पुस्तक वाइवल की तर्कात्मक व्याख्या की। यदि ईश्वर पूर्णतया शुभ और नैतिक विश्व-नियन्ता है और यदि 'मनुष्य ईश्वर की प्रतिमा है'[1] तो शुभ तथा अशुभ कर्म से उत्पन्न दु.ख की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस समस्या के समाधान के लिए मध्यकालीन धर्मशास्त्रियो ने दो सुझाव प्रस्तुत किए। पहले सुझाव के अनुसार, यह स्वीकार किया गया कि जब ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है, तो वह निस्सदेह आदि मे मूलतया शुभ ही है अर्थात् उसमे अशुभ की प्रवृत्ति नही है। दूसरे सुझाव के अनुसार, उसमे वर्तमान अवस्था मे उसी प्रकार अशुभ की प्रवृत्ति है, जिस प्रकार कि अग्नि की लपटो मे ऊपर की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। इस अवस्था मे यह प्रश्न होता है कि मनुष्य मे अशुभ भावना उत्पन्न कैसे हुई ? इसका उत्तर देने के लिए धार्मिक चिन्तको के पास केवल एक ही उपाय था और वह यह था कि मनुष्य को ही अशुभ का उत्तरदायी माना जाए। जब ईश्वर ने मनुष्य मे प्राण फूके और मनुष्य एक जीवित आत्मा बना, उस समय वह शुद्ध और पवित्र था, पाप से अछूता था और अशुभ प्रवृत्तियो से अनभिज्ञ था। पहला मानव आदम अपने सकल्प की स्वतन्त्रता के कारण, ईश्वर के आदेश की अवहेलना करके, नरक मे गिरा और उसके साथ समस्त मानव-जाति का पतन हुआ। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अशुभ का अर्थ अशुभ पाप है और पाप का अर्थ ईश्वर की इच्छा का उल्लघन करना एव ईश्वर के आदेशो का पालन न करना है। क्योकि मनुष्य के सकल्प ने ईश्वर की इच्छा का उल्लघन किया, इसलिए विश्व मे अशुभ का आरम्भ हुआ। मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता ही अशुभ का प्रवेश-द्वार है।

---

१. 'Man is the image of God'

सम्भवतया काट ईसाई धर्म के इस सिद्धात से प्रभावित था। उसने स्पष्ट रूप से तो इस धार्मिक ग्रशुभ-सम्बन्धी व्याख्या को स्वीकार नही किया, किन्तु पूर्णतया तर्कवादी होने के कारण ग्रौर तर्क को ही परम सत्य की खोज का एकमात्र साधन मानने के कारण काट ने ईश्वर को मनुष्य से ग्रधिक शक्तिशाली, नैतिक तथा न्यायकारी तो माना है, किंतु ग्रशुभ का उत्तरदायित्व पूर्णतया मनुष्य को देते हुए उसने संकल्प की स्वतन्त्रता को प्रथम स्थान दिया है ग्रौर शुभ सकल्प को परम सत्य माना है। शुभ सकल्प को निरपेक्ष सत्ता एव स्वलक्ष्य मूल्य घोषित करने के पश्चात् उससे उत्पन्न शुभ कर्म तथा उसकी ग्रवहेलना से उत्पन्न ग्रशुभ कर्म का फल प्रदान करने के लिए उसने ईश्वर को साधन एवं व्यावहारिक सत्ता के रूप मे स्वीकार किया है। इसमे कोई सदेह नही कि काट की ग्रावश्यकता से ग्रधिक व्यावहारिकवादिता, उस तत्त्वात्मक तथा ज्ञानात्मक द्वैतवाद (Metaphysical and Epistemological Dualism) का कारण बनी है, जो ग्राज तक पश्चिमीय दर्शन पर छाई हुई है ग्रौर जिससे कारण धर्म तथा तत्त्वशास्त्र, विज्ञान तथा दर्शन, तर्क तथा धार्मिक निष्ठा का पार्थक्य किया जाता है। ग्रब हम नैतिक दृष्टिकोण से, नैतिकता की प्रथम एव सबसे ग्रधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता सकल्प से स्वातन्त्र्य का व्याख्यापूर्वक ग्रध्ययन करेंगे। ऐसा ग्रध्ययन ग्राचारशास्त्र के समझने के लिए नितान्त ग्रावश्यक है।

संकल्प के स्वातन्त्र्य की समस्या यूनानी विचारको के समय मे नही थी, क्योकि यूनानी दार्शनिक यह स्वीकार करके चलते थे कि मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है। मध्य-काल मे, ग्रपितु इससे भी पूर्व, ईसाई धर्म की मान्यताग्रो के कारण यह प्रश्न उत्पन्न हुग्रा कि क्या मनुष्य सकल्प करने मे स्वतन्त्र है या नही ? जैसाकि हमने उपर्युक्त विवेचन मे व्याख्या की है, इस समस्या का मूल कारण ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानना था। यदि मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार न किया जाए, तो धार्मिक चेतना का कोई ग्रर्थ नही रहता। ईसाई धर्म के ग्रनुसार भक्तो को इस प्रकार कहना पडता है, "हमारे सकल्प हमारे है, हम उन्हे तुम्हारा सकल्प बनाना चाहते है।" ईसाई धर्म के ग्रनुसार प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ईश्वर की इच्छा को विश्व मे प्रसारित करने की चेष्टा करे। प्रथम दृष्टि मे सम्भवतया हम यह कह सकते है कि सकल्प की स्वतन्त्रता तथा ईश्वर की इच्छा को परम सत्य मानना दो विरोधी बाते है, किन्तु वास्तव मे ऐसा विचार करना एक भूल है। भक्त ग्रपने सकल्प को ईश्वर के सकल्प के ग्रधीन इसलिए करना चाहता है कि उसके सकल्प की स्वतन्त्रता उससे कई बार ग्रवाछनीय कर्म कराती है। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि मनुष्य शुभ-ग्रशुभ को निर्वाचित करने मे स्वतन्त्र है। किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता उसके मोक्ष-मार्ग मे बाधक सिद्ध होती है। इसलिए भक्त ईश्वर की इच्छा के सामने ग्रात्मसमर्पण करता है। ग्रात्मसमर्पण का ग्रर्थ सकल्प के स्वा-तन्त्र्य को ग्रस्वीकार करना तो नहीं, ग्रपितु उसे बाधक समझना ग्रवश्य है।

ग्राचारशास्त्र के क्षेत्र मे सकल्प के स्वातन्त्र्य की समस्या प्रधान समस्या है, क्योकि इसका सम्बन्ध नैतिक उत्तरदायित्व से है। धार्मिक क्षेत्र मे तो ग्रात्मसमर्पण के

द्वारा व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व से भी निवृत्त हो सकता है और जीवन-मुक्त व्यक्ति सम्भवतया सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ से ऊपर भी उठ सकता है। किन्तु आचार के क्षेत्र मे ऐसा सम्भव नही है। जब तक कि मनुष्य को कर्म के निर्वाचित करने की स्वतन्त्रता न हो, तब तक वह सत्-असत् और शुभ-अशुभ के प्रति उत्तरदायी नही माना जा सकता। इस सम्बन्ध मे हमने काट के दृष्टिकोण का प्रकरण ऊपर दिया है। उसके अनुसार कर्म के औचित्य मे सकल्प की स्वतन्त्रता निहित है। जब तक मनुष्य मे सकल्प की स्वतन्त्रता है, तब तक ही हम उसे कर्तव्यपरायण होने पर बाध्य कर सकते है। इसलिए काट ने सकल्प के स्वातन्त्र्य को आचारशास्त्र की आधारभूत मान्यता स्वीकार किया है। किन्तु सकल्प के स्वातन्त्र्य को केवल स्वयसिद्ध मान्यता स्वीकार करना और इस समस्या की तर्कात्मक आलोचना न करना उचित नही है। काट ने तो व्यावहारिक तर्क का आश्रय लेते हुए इस समस्या पर तर्क-वितर्क नही किया है। उसने सम्भवतया इस मान्यता को वैज्ञानिक तथ्यो और समस्याओ से पृथक् माना है। किन्तु इसके गम्भीर अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह समस्या एक मुख्य तत्त्वात्मक (Metaphysical) तथा वैज्ञानिक समस्या है, क्योकि सकल्प की स्वतन्त्रता के विषय मे तत्त्व-दर्शन के विद्वानो तथा वैज्ञानिको मे मतभेद है। इस समस्या के बारे मे हम दार्शनिको को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभक्त कर सकते हैं

(१) नियतिवादी (Determinists)
(२) स्वातन्त्र्यवादी (Indeterminists or Libertarians)
(३) आत्मनियतिवादी ((Self-determinists)

नियतिवाद के अनुसार सकल्प की स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु नही है। मनुष्य के सभी कर्म यन्त्रवत् नियत होते हैं। यह दृष्टिकोण विशेषकर प्रकृतिवादी दार्शनिको (Naturalistic philosophers) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रकृतिवाद के अनुसार, मनुष्य एक आत्मचेतन प्राणी अवश्य है, किन्तु उसके सभी कर्म, उसकी सभी इच्छाए, उसके सभी सकल्प भौतिक परिस्थितियो तथा शारीरिक और मानसिक उपाधियो द्वारा ठीक उसी प्रकार यन्त्रवत् नियत होते है, जिस प्रकार एक पत्थर को पर्वत से नीचे फेके जाने से उसकी गति नियत होती है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य का सकल्प द्वारा निर्वाचित कर्म भी पत्थर की गति की भाति नियत है। इन दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि पत्थर पर्वत से गिरते समय आत्मचेतन नही होता, जबकि मनुष्य सकल्प करते समय आत्मचेतन होता है। यदि पत्थर भी आत्मचेतन होता, वह भी अपने-आपको पर्वत से गिरने मे स्वतन्त्र ही मानता। इस प्रकार का नियतिवाद भाग्यवाद (Fatalism) तो नही है, किन्तु वैज्ञानिक यन्त्रवाद है। सम्भवतया यह धारणा भौतिकशास्त्र के यन्त्रवाद पर आधारित है। भौतिकशास्त्र मे प्रत्येक द्रव्य के परम गुणो (Ultimate property) का समूह एक नियत क्रम में होता है और उसके यह परम गुण अपरिवर्तनशील होते है, अत: भौतिक द्रव्य का व्यवहार यन्त्रवत् नियत होता है। भौतिक परमाणु अपने व्यवहार में इसलिए समरूप होते

हैं कि वे यत्रवत् नियत है, अत भौतिक जगत् की सभी घटनाएं निश्चित होती है। यदि हम भौतिक परिस्थितियो का पूर्ण ज्ञान रखते हो, तो हम इन घटनाओ के बारे मे यथार्थ भविष्यवाणी कर सकते है। भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र मे इसी धारणा के आधार पर अद्वितीय प्रगति हुई है और परिस्थितियो का यथार्थ अनुमान लगाकर, नक्षत्रो की गति तथा उनके व्यवहार के प्रति भी यथार्थ भविष्यवाणी की जाती है। यदि हम भौतिकशास्त्र के क्षेत्र मे नियतिवाद के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते है, तो कोई कारण नही कि हम नियतिवाद का आश्रय लेकर मनोविज्ञान के क्षेत्र मे मनुष्य के व्यवहार के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान प्राप्त न कर सके।

इसी नियतिवाद का आश्रय लेकर मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद के प्रवर्तक डा० जे० बी० वाटसन ने मनोविज्ञान को केवल शारीरिक व्यवहार का विज्ञान घोषित करके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए केवल बाहरी परिस्थितियो को ही एकमात्र आधार माना है। उसके परिस्थितिवाद के अनुसार, यदि हम व्यक्ति की सभी परिस्थितियो का नियत्रण करे, यदि हम उसे उचित रासायनिक भोजन दे और उचित सामाजिक वातावरण उत्पन्न करके उसका विशेष रूप से पालन-पोषण करे, तो हम उसके व्यक्तित्व का विकास अपनी रुचि के अनुसार कर सकेंगे। वाटसन ने घोषणा की थी, "मुझे कोई शिशु दीजिए और मैं उसकी परिस्थितियो का नियत्रण करके, चाहू तो उसे एक सन्त बना दू अथवा चोर, उचक्का व डाकू बना दू।" जब व्यवहारवादी मनोविज्ञान की यह धारणा मनोवैज्ञानिक जगत् मे प्रस्तुत हुई, तो यह आशा की जाती थी कि निकट भविष्य मे रासायनिक भोजन के द्वारा व्यक्तित्व के विकास मे अद्वितीय प्रगति हो सकेगी और हम न्यूटन जैसे विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति से लेकर उच्चतम विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति निर्मित कर सकेगे। किन्तु दुर्भाग्यवश व्यवहारवाद अपनी इस घोषणा मे आज तक सफल नही हो सका। परिस्थिति और परम्परा के अध्ययन मे इतनी उन्नति अवश्य हुई है कि परिस्थितियो का नियन्त्रण करके व्यक्ति की कुछ प्रवृत्तियो मे परिवर्तन लाया जा सकता है। वनमानुस जैसे उच्चश्रेणी के पशु को मानवीय वातावरण मे रखकर, उसे चमच द्वारा खाना, दो टागो पर चलना आदि सिखाया जा सकता है। परिस्थितिवाद की इन सफलताओ के होते हुए भी किसी ऐसी ओषधि का आविष्कार नही किया गया कि जिसके सेवन करने से मनुष्य के मन मे प्रेम, घृणा जैसे स्थायी भाव उत्पन्न हो सकें अथवा उसकी सकल्प-शक्ति को विशेष मार्ग पर चलाया जा सके। मनुष्य की सविकल्पक क्रियाओ, उसके स्थायी भावो तथा उसके जटिल विचारो के निर्माण मे जो तत्त्व महत्त्व रखते है, वे मन की गहराइयो मे स्थित है और उनका नियन्त्रण केवल बाहरी स्थितियो पर निर्भर नही है।

सकल्प आदि मे महत्त्व रखनेवाले आन्तरिक, मानसिक तत्त्वो का भी विश्लेषण किया गया है और अचेतन मन तथा उसके प्रभाव का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के आधार पर, मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) के सिद्धात के अनुयायियो ने मानसिक नियतिवाद (Psychic-determinism) का प्रतिपादन किया है। इस

सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य की सभी इच्छाए, उसके सभी सविकल्पक तथा निर्विकल्पक कर्म, उसकी स्वच्छन्द क्रियाए, उसकी अनायास भूले, उसका असामान्य व्यवहार तथा उसके स्वप्न, उसके अचेतन मन मे स्थित अतृप्त इच्छाओ द्वारा नियत होते हैं। जब हम किसी भूल अथवा किसी क्रिया का कारण चेतना मे नही ढूढ सकते, निस्सन्देह उसका कारण हमे अचेतन मन मे मिल सकता है। फ्रायड तथा उसके अनुयायियो ने विशेपकर इस मानसिक नियतिवाद पर बल दिया है। जब एक नवविवाहित वधू अपनी विवाह की अगूठी खो बैठती है, तो उसकी यह भूल इस तथ्य को प्रकट करती है कि उसके अचेतन मन मे विवाह-बन्धन से मुक्त होने की इच्छा है। जब हम अपने निकटवर्ती मित्र अथवा सम्बन्धी के नाम को असामान्य रूप से भूल जाते है, तो हमारी यह भूल किसी न किसी अचेतन प्रेरक के कारण होती है।

मनोविश्लेपण के क्षेत्र मे अनेक अनुसन्धानो के पश्चात् यह निश्चित किया गया है कि चेतन मन मे इच्छाओ के सघर्प मे जब एक इच्छा विजयी होती है और दूसरी पराजित होती है, तो पराजित इच्छा अचेतन मन मे सदा के लिए उपस्थित रहती है और निरन्तर किसी न किसी रूप मे, चेतना मे प्रविष्ट होने की चेष्टा करती रहती है। ऐसी असख्य दमित इच्छाए अचेतन मन का निर्माण करती रहती हैं। यह अचेतन मन अतिगहन होता है। चेतन मन तो केवल समुद्र के ऊपरी भाग की भाति, समुद्र की गहराई का अश-मात्र है, जबकि अचेतन मन समुद्र की गहराई की भाति व्यक्तित्व का मुख्य भाग है। इसी अचेतन मन मे वह निहित शक्ति रहती है, जोकि हमारे व्यवहार पर निरन्तर प्रभाव डालती रहती है। सविकल्पक क्रिया मे, सकल्प करते समय हम जब सहसा एक कर्म को दूसरे के समान होते हुए भी निर्वाचित करते है, उसका कारण चेतन मन मे तो उपस्थित नही होता, किन्तु अचेतन मन मे अवश्य मिल सकता है। उस कारण को ढूढने के लिए मनोविश्लेषण की विधि को अपनाना पडता है। प्रत्येक व्यक्ति की भूले, उसके सकल्प तथा उसका असामान्य व्यवहार तभी समझा जा सकता है, जब उसके अचेतन मन का विश्लेषण किया जाए, और जब उसके अतीत की सभी घटनाओ का अध्ययन करके उसकी सभी दमित इच्छाओ को निश्चित कर लिया जाए। यदि अचेतन मन का इस प्रकार वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए, तो कोई भी ऐसी मानसिक क्रिया नही होगी, जिसकी व्याख्या कार्य-कारण द्वारा न की जा सके। अत सकल्प मे जो हमे स्वतन्त्रता दिखाई देती है, वह वास्तव मे स्वतन्त्रता नही है, क्योकि वह अचेतन कारणो एव प्रेरको द्वारा ठीक उसी प्रकार नियत है, जिस प्रकार की भौतिक घटनाए भौतिक कारणो से नियत होती है। यह मानसिक नियतिवाद, सकल्प की स्वतन्त्रता को अप्रमाणित करने की चेष्टा करता है, किन्तु मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे अभी तक इतनी प्रगति नही हुई कि मनुष्य के समस्त व्यवहार के प्रति भविष्यवाणी की जा सके और उसकी सभी मानसिक क्रियाओ को यत्रवत् स्वीकार किया जा सके। प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति के अचेतन मन का सम्पूर्ण विश्लेपण नही किया जा सकता। यदि ऐसा सभव भी हो, तब भी यह नही बताया जा

सकता कि अमुक व्यक्ति नवीन परिस्थिति मे किस प्रकार व्यवहार करेगा। मनोविश्लेषण के विद्वान स्वय इस बात मे सहमत नही है कि असामान्य व्यवहार का कारण कौन-सी विशेष मूल प्रवृत्ति के दमन से उत्पन्न होता है। इस अवस्था मे मनोविश्लेषण को एक विश्वसनीय सिद्धान्त मानना और सकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करना उचित नही है।

नियतिवाद मनुष्य के व्यवहार को जड-जगत् की घटनाओ के समकक्ष स्वीकार करता है। किन्तु यह धारणा निस्सन्देह एक भ्रात धारणा है। मनुष्य के व्यक्तित्व को यत्रवत् निर्मित मानना तथ्यो की अवहेलना करना है। एक पत्थर की अपेक्षा वनस्पति अधिक स्वतन्त्र है, वनस्पति की अपेक्षा जीव-जन्तु का व्यवहार अधिक स्वतन्त्र है और जीव-जन्तुओ की अपेक्षा मनुष्य का व्यवहार सविकल्पक होने के कारण अधिक स्वतन्त्र होता है। इस अवस्था मे मनुष्य के सकल्प को पूर्णतया नियत मानना असगत है। इसके अतिरिक्त हमारा सामान्य अनुभव हमे यह बताता है कि विशेषकर सविकल्पक कर्म के निर्वाचन मे मनुष्य यत्रवत् क्रिया नही करता। सवेग अथवा मूल प्रवृत्ति के प्रभाव मे मनुष्य परिस्थितियो के वश मे माना जा सकता है। जब कोई व्यक्ति क्रोध के वश मे अथवा लडने की मूल प्रवृति से प्रेरित होकर कर्म करता है, उसका यह कर्म नियत माना जा सकता है। किन्तु जब हम चिन्तन और सकल्प के पश्चात्, इतिहास तथा दर्शनशास्त्र के विषयो की तुलना करके, उनमे से एक को निर्वाचित करते हैं, तो हमारा यह कर्म यत्रवत् नियत नही कहा जा सकता। इसी प्रकार जब हम दो रगो के बीच निर्वाचन करते हुए, तुलना के पश्चात् एक को चुन लेते है, तो भी हमारा यह निर्वाचन स्वतन्त्र ही होता है। प्रकृतिवाद भले ही ऐसा माने कि ऐसे कर्मों मे सकल्प करने से पहले हमारे परमाणु हमारे कर्म को पहले ही निश्चित कर लेते हैं, किन्तु हमारा अनुभव इस बात को स्वीकार नही करता। जब हम सविकल्पक क्रिया के पश्चात्, दो विकल्पो मे से एक को निर्वाचित कर लेते है, तो हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम उस विकल्प (Alternative) को भी चुन सकते थे, जिसको हमने अस्वीकार किया है। हमारी यह भावना सकल्प की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करती है। जब प्रकृतिवादी यह कहते है कि मनुष्य के संकल्प मे तथा पत्थर के पर्वत से गिरने मे केवल इतना ही अन्तर है कि मनुष्य की क्रिया आत्मचेतन है और पत्थर की गति अचेतन है, तब भी वे मनुष्य की स्वतन्त्रता की अवहेलना करते है। आत्म-चेतना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण गुण है, जिसकी अवहेलना कदापि नही की जा सकती। न ही केवल आत्मचेतना, अपितु चेतना भी जीव-जगत् मे विशेष महत्त्व रखती है। जो लोग मानवीय चेतना को जड़-जगत् की घटनाओ के समान मानते हैं, वे भी वास्तव मे चेतन और अचेतन अवस्था के अन्तर को स्वीकार करते है। यदि चेतन और अचेतन अवस्था मे अन्तर न हो तो किसी व्यक्ति के पेट की शल्य-चिकित्सा (Surgical operation) करते समय, उसको औषधियो द्वारा मूर्छित क्यो किया जाए? क्या प्रकृतिवादी नियतिवाद को प्रमाणित करने के लिए चेतनावस्था मे ही शल्य-चिकित्सा कराकर, चेतन और

अचेतन अवस्था को समकक्ष प्रमाणित कर सकते है ?

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि नियतिवाद नैतिक दृष्टिकोण से और तथ्यात्मक दृष्टिकोण से शत-प्रतिशत स्वीकार नही किया जा सकता। यदि इस नियतिवाद को प्राकृतिक कारणवाद पर भी आधारित किया जाए, तब भी, जहा तक मानवीय व्यवहार का सम्बन्ध है, इस सिद्धान्त को पूर्णतया सगत नही माना जा सकता। कुछ सीमा तक यह स्वीकार किया जा सकता है कि सविकल्पक कर्म मे व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नही होता, क्योकि कर्म का निर्वाचन विना कारण नही हो सकता, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि वह कर्म यन्त्रवत् नियत होता है। इसके विपरीत, भौतिकशास्त्र मे जो नवीनतम अनुसन्धान किया गया है, उसके अनुसार परमाणुओ के व्यवहार मे भी नियतिवाद पूर्णतया लागू नही किया जा सकता। अत. नियतिवाद को आचार-विज्ञान मे प्रथम स्थान नही दिया जा सकता।

स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, मनुष्य का सकल्प पूर्णतया स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रतावाद एक प्रकार से मनुष्य के सकल्प को सभी कारणो से मुक्त मानता है। उसका कहना है कि कर्म करते समय सकल्प के सामने वास्तविक विकल्प होते हैं। उन विकल्पो मे से कोई भी ऐसी स्वतन्त्रता से चुना जा सकता है कि उसके निर्वाचन से व्यक्ति की मानसिक दशा पर कोई भी विशेष प्रभाव नही पडता। वास्तव मे, हम यह जानते है कि सकल्प करनेवाले व्यक्ति का चरित्र, उसका अतीत का इतिहास और वर्तमान उद्देश्य तथा प्रेरणाए सकल्प पर प्रभाव डालती हैं और कर्म के निर्वाचन के समय उसके विकल्प की सम्भावनाओ को सीमित करती है। स्वतन्त्रतावादी इस प्रभाव को स्वीकार तो करता है, किन्तु वह इस वात पर वल देता है कि वास्तविक सम्भावनाए हर समय उपलब्ध होती हैं और दो विकल्पो मे जिस विकल्प को अस्वीकार किया जाता है, उसके निर्वाचित होने की सम्भावना भी उतनी ही प्रबल होती है, जितनी कि स्वीकार किए गए विकल्प की। नियतिवाद के अनुसार तो सविकल्पक निर्वाचन निश्चित रूप से नियत होता है और दोनो विकल्प समान रूप से शक्तिशाली नही होते, अत हमारा निर्वाचन कदापि भिन्न नही हो सकता। स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, निर्वाचन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, स्वतन्त्रतावाद सकल्प की वास्तविक स्वच्छन्दता को स्वतन्त्रता मानता है और सम्भावनाओ के सीमित क्षेत्र मे भी सकल्प के निर्वाचन को हर प्रकार की नियति से मुक्त मानता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि सविकल्पक निर्वाचन के समय सकल्प करनेवाला व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नही होता। सकल्प की स्वतत्रता को मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार (Instinctive behaviour) की भाति पूर्णतया स्वतन्त्र नही माना जा सकता। इस प्रकार की स्वतन्त्रता सर्वथा अनियमित और कारण से मुक्त स्वच्छन्दता ही होगी। ऐसी स्वच्छन्दता अथवा अनियमितता केवल पशुओ मे अथवा पागल व्यक्तियो मे ही हो सकती है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति अपने तर्क से निर्दिष्ट होता है और संकल्प करते समय स्वच्छन्द नही होता। सकल्प की विशेषता भी यही है कि कर्म का निर्वाचन

करते समय व्यक्ति अपनी प्रेरणाओ तथा मूल प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करता है और तर्क द्वारा विकल्पो की तुलना करता है। अत. सकल्प को सब प्रकार के प्रभावो से सर्वथा मुक्त मानना मनुष्य को पाशवीय स्वच्छन्दता के स्तर पर ले जाना है। इस दृष्टि से स्वतन्त्रतावाद भी तथ्यो के विपरीत है और नैतिकता के लिए वाछनीय नही है। नैतिकता प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक नही है, क्योकि प्रत्येक प्राणी का कर्म न तो सविकल्पक होता है और न उसका किसी आदर्श के प्रकरण से मूल्याकन किया जा सकता है। मनुष्य के कर्म को सत्-असत् और शुभ-अशुभ इसलिए कहा जाता है कि उसका व्यवहार सकल्प द्वारा निर्वाचित होता है और उसका नैतिक आदर्श के आधार पर मूल्याकन किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे उसके व्यवहार मे एक विशेष क्रम होता है जोकि पशुओ के व्यवहार मे नही होता। अत. मनुष्य का सविकल्पक व्यवहार उसके चरित्र द्वारा व्यवस्थित होता है। क्योकि स्वतन्त्रतावाद मानवीय व्यवहार को पूर्णतया स्वच्छन्द मानता है, इसलिए इस सिद्धान्त को हम आचार-विज्ञान मे स्वीकार नही कर सकते।

जहा तक विज्ञान का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते है कि स्वतन्त्रतावाद कारणवाद के विरुद्ध होने के कारण स्वीकार नही किया जा सकता। विज्ञान यह स्वीकार करके चलता है कि विश्व की सभी घटनाए कारणात्मक स्थिति मे ऐसे तत्त्व है जोकि कार्य-कारण की शृखला मे वधे हुए है। प्रत्येक घटना की व्याख्या उसके कारण द्वारा दी जा सकती है। यदि सविकल्पक कर्म को पूर्णतया स्वतन्त्र मान लिया जाए, तो उसकी व्याख्या किसी भी कारण के आधार पर नही की जा सकती। स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, मनुष्य कारणता के नियम से परे है। स्वतन्त्रतावाद की यह धारणा सर्वथा अवैज्ञानिक है। किन्तु स्वतन्त्रतावाद का महत्त्व केवल इस बात मे है कि मनुष्य अन्य प्राणियो की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ है कि वह कुछ सीमा तक अपने भाग्य का निर्माता है और अपनी परिस्थितियो का पूर्ण दास नही है।

हमने नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद के सिद्धान्तो की सक्षिप्त व्याख्या की है और दोनो को सापेक्ष सत्य पाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का सविकल्पक कर्म न तो पूर्णतया वाहरी स्थितियो पर निर्भर है और न ही वह पशुओ के व्यवहार की भाति पूर्णतया स्वतन्त्र अथवा स्वच्छन्द है। मनुष्य के सकल्प की विशेषता इसीमे है कि वह उसे वाहरी स्थितियो पर विजय प्राप्त कराता है और उसे पशुओ की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ प्रमाणित करता है कि वह अपनी पाशवी प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण करके अपने व्यवहार को व्यवस्थित करता है एव चरित्र को समरूप बनाता है। मनुष्य की वाहरी परिस्थितियो पर विजय, एक ओर तो उसे स्वतन्त्र प्रमाणित करती है और उसे परिस्थितियो का स्वामी तथा अपने भाग्य का निर्माता घोषित करती है और दूसरी ओर उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करनेवाला, स्वच्छन्द प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करनेवाला, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्तव्य के मार्ग पर चलनेवाला एव चरित्र से नियत होनेवाला प्राणी प्रमाणित करती है। यदि मनुष्य का व्यवहार समरूप न हो, तव भी मनुष्य

को श्रेष्ठ नही माना जा सकता। मनुष्य के व्यवहार की समरूपता यह प्रमाणित करती है कि मनुष्य का कर्म एव व्यवहार न तो पूर्णतया स्वतन्त्र है और न पूर्णतया वाहरी परिस्थितियो से नियत है, अपितु वह आत्मनियत है। यही दृष्टिकोण आत्मनियतिवाद का है।

आत्मनियतिवाद एक ओर नियतिवाद और दूसरी ओर स्वतन्त्रतावाद के दोषो का निवारण करता है। यह मनुष्य को पशु की भाति पूर्णतया वाहरी परिस्थितियो पर निर्भर नही मानता और न ही उसकी भाति चरित्रहीन और स्वच्छन्द मानता है। यह उसे यथार्थ रूप मे स्वतन्त्र मानता है और उस स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि मनुष्य का सकल्प उसके अपने चरित्र एव व्यक्तित्व द्वारा नियत होता है।

हमने ऊपर कहा है कि आत्मनियतिवाद के अनुसार एक ओर तो मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है एव स्वतन्त्र है और दूसरी ओर उसका व्यवहार समरूप होने के कारण एव चरित्र से नियत होने के कारण सीमित है। प्रथम दृष्टिपात से मनुष्य के व्यवहार के ये विपरीत तत्त्व विरोधी प्रतीत होते है, किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर विचार करे और यदि हम स्वतन्त्रता तथा व्यवहार की निश्चितता एव समरूपता के वास्तविक स्वरूप को जानने की चेष्टा करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि मनुष्य के व्यवहार मे विरोधाभास नही है। व्यवहार की निश्चितता का अर्थ एक विशेष रूप से व्यवस्थित क्रियाशीलता है। स्वतन्त्रता का अर्थ चरित्र से अतिरिक्त किसी भी वाह्य उपाधि से नियत न होना है। आत्मनियतिवाद के अनुसार एक दुराचारी मनुष्य एक दृष्टि से तो शुभ कर्म कर सकता है और एक दृष्टि से नही कर सकता। चरित्र की समरूपता के आधार पर वह शुभ कर्म इसलिए नही कर सकता कि ऐसा कर्म दुश्चरित्र से प्रेरित नही हो सकता। एक दूषित वृक्ष अच्छा फल नही दे सकता, किन्तु दुराचारी व्यक्ति का चरित्र ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जोकि उसके कर्म का निर्वाचन करता है। इस दृष्टि से दुराचारी व्यक्ति भी शुभ कर्म कर सकता है, यदि वह स्वय ऐसा करने की इच्छा करे। मनुष्य के चरित्र मे जो दोष होता है वह उसके व्यक्तित्व से वाहर नही होता। अत वह यदि चाहे तो अपने दोष पर विजय प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दो मे, दुराचारी व्यक्ति मे शुभ कर्म करने की क्षमता अवश्य है। यदि दुराचारी व्यक्ति उच्च आदर्श को अपना ले, तो वह एक उद्देश्य पर चलने के कारण शुभ चरित्रवाला व्यक्ति बन सकता है। भगवद्गीता मे इसी दृष्टिकोण को भक्ति-मार्ग के आदर्श के सम्बन्ध मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है:

"अपि चेत् सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि स ॥"

अर्थात् "यदि एक दुराचारी व्यक्ति भी ईश्वर को निरन्तर अनन्य भाव से भजता है एव लक्षित करता है, उस व्यक्ति को अच्छे चरित्रवाला ही मानना चाहिए, क्योकि उसका व्यवहार नियन्त्रित एव व्यवस्थित हो जाता है।"

आत्मनियतिवाद मनुष्य के चरित्र एव व्यक्तित्व को केन्द्र मानकर चलता है और मानवीय स्वतन्त्रता को इसी केन्द्र पर आधारित करता है। एक पशु का व्यक्तित्व नही

होता अर्थात् चरित्र की दृष्टि से उसका केन्द्र नही होता। वह केवल वर्तमान भाव से प्रभावित होता है। उसके व्यक्तित्व का निश्चित आकार नही होता, जोकि उसके प्रत्येक कर्म को निश्चित कर सके। मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके चरित्र मे समरूपता होती है और उसी समरूपता के आधार पर वह सत्-असत् और शुभ-अशुभ कर्म का निर्वाचन करता है। इसी निर्वाचन में उसकी श्रेष्ठता एव स्वतन्त्रता है और यही आत्मनियत स्वतन्त्रता उसको पशु की अपेक्षा ऊचे स्तरवाला प्राणी बनाती है। यदि पशु विचार कर सकता तथा बोल सकता, तो वह अपने कर्म को केवल वर्तमान प्रेरणा से ही सम्बन्धित बतलाता। प्रेरणात्मक कर्म मे भी एक विशेष प्रकार की निरन्तरता तो होती है और प्रेरणाओ पर आधारित कर्म के प्रति अनुमान भी लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसे प्रेरणात्मक कर्म, केवल क्षणिक परिस्थिति पर निर्भर रहते हैं और इस प्रकार स्वच्छन्द रहते हैं कि उनको किसी समान केन्द्र से सम्बन्धित नही किया जा सकता। इसमे कोई सन्देह नही कि पशु विचार की क्षमता न रखने के कारण ही अपने कर्मों को व्यवस्थित नही कर सकता एव चेतना के क्षणो को एकता प्रदान नही कर सकता, किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि पशु का चरित्र-सम्बन्धी केन्द्र नही होता। अत मनुष्य अपने कर्मों को केवल उसी समय निजी मानता है, जब वे उसके चरित्र-रूपी केन्द्र से प्रवाहित होते है। नियतिवादी, चरित्र की इस एकाग्रता एव समरूपता को स्वीकार नही करते। आचार-विज्ञान की दृष्टि से आत्मनियतिवाद ही मान्य सिद्धान्त है।

संकल्प की स्वतन्त्रता के उपर्युक्त विवेचन की आवश्यकता आचार-विज्ञान मे नैतिक उत्तरदायित्व के कारण ही उत्पन्न होती है। जैसाकि हमने पहले कहा है, मध्यकाल मे यह समस्या धार्मिक एवं ईश्वर-सम्बन्धी थी, किन्तु आधुनिक समय मे यह मुख्यतया नैतिक एव सामाजिक है। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह हैं कि व्यक्ति कहा तक समाज के प्रति नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है। आधुनिक समय मे भी एक प्रकार का नियतिवाद स्वीकार किया जाता है। उसके अनुसार मनुष्य के चरित्र को विशेष परम्परागत प्रवृत्तियो पर आधारित माना जाता है और उसके सम्पूर्ण जीवन को उस नैतिक वातावरण द्वारा नियत माना जाता है, जिसमे कि वह जन्म लेता है और जिसमे उसका पालन-पोषण होता है। इस प्रकार के नियतिवाद को स्वीकार करते हुए यह प्रश्न किया जाता है कि मनुष्य कहा तक अपने चरित्र के निर्माण मे भी स्वतन्त्र है। यह तो ठीक है कि हम स्वय अपने दृष्टिकोण का निर्वाचन करते हैं, किन्तु हम अथवा हमारा व्यक्तित्व, जोकि ऐसा निर्वाचन करता हैं, एक पूर्णतया स्वतन्त्र एव नियति से मुक्त अस्तित्व नही है। विशेषकर अस्तित्ववादी दार्शनिक, मनुष्य को सामाजिक, आर्थिक अथवा नैतिक परिस्थितियो का दास मानते है। यदि आधुनिक मनुष्य यह स्वीकार नही करता कि उसमे मौलिक पाप (Original sin) अथवा मौलिक धर्म (Original virtue) है, वह इस बात को मानता है कि हम जब विश्व मे प्रवेश करते हैं, तो एक विशेष रूप से शुभ अथवा अशुभ के प्रति झुकाव लेकर ही कर्म करते है। वह झुकाव हमारे उस विशेष स्वभाव पर निर्भर होता है, जो हममे जन्मजात

होता है। यदि यह सत्य है, तो प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के अपराध के लिए समाज द्वारा व्यक्ति को दण्ड दिया जाना कहा तक उचित है।

हमारे आत्मनियतिवाद के दृष्टिकोण से निस्सन्देह मनुष्य को ही सत्-असत् और शुभ-अशुभ कर्मो का उत्तरदायी माना जाएगा। यह सत्य है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एव उसका चरित्र जन्मजात प्रवृत्तियो तथा अर्जित प्रवृत्तियो पर आधारित होता है, किन्तु उसके चरित्र का बल इसीमे है कि वह अपने-आपको परिस्थितियो का दास न मानकर सदैव अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहे। जो व्यक्ति अपने-आपको पशु की भाति विवश मानकर अपने अशुभ व्यवहार को अनिवार्य मानता है, उसे हम वास्तव मे मनुष्य नहीं कह सकते। मनुष्य को सदैव आदर्श के सघर्ष मे अपने-आपको एक सैनिक मानना चाहिए और उस सघर्ष मे सफलता प्राप्त करने के लिए कर्तव्य-रूपी उत्तरदायित्व को स्वीकार करना चाहिए। मनुष्य सकल्प की स्वतन्त्रता के कारण निरन्तर नैतिक प्रगति कर सकता है और यह प्रगति तभी हो सकती है, जब वह अपने-आपको बाहरी परिस्थितियो से स्वतन्त्र और आन्तरिक चरित्र से नियत माने।

चौथा अध्याय

आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Historical Background of Ethics)

आचार-विज्ञान का सम्बन्ध नैतिक जीवन की समस्याओ से है और नैतिक जीवन का इतिहास मानव की सस्कृति से आरम्भ होता है। अत नैतिक समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा, मनुष्य आदिकाल से करता चला आया है। जिस प्रकार मानवीय सभ्यता का इतिहास प्राचीनतम होने के कारण अस्पष्ट और विस्मृत है, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी इतिहास भी अस्पष्ट और विस्मृत हो चुका है। विश्व के इतिहास की प्राचीनतम लिखित निधि आचार के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश नही डाल सकती, फिर भी ऐतिहासिक खण्डहरो तथा प्राचीनतम पृथ्वी मे दवे हुए नगरो की खुदाई का अध्ययन करने के पश्चात् ऐतिहासिक इस परिणाम पर पहुचे हैं कि पश्चिम मे मिस्र तथा यूनान और पूर्व मे भारतीय तथा चीनी सस्कृतिया प्राचीनतम हैं। अत हम यह अनुमान लगा सकते है कि यूनानी आचार-विज्ञान के उद्भव से पहले भी भारत मे तथा मिस्र आदि मे आचार की समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा की गई थी। पश्चिमीय दार्शनिक, विशेषकर भारतीय सस्कृति के अध्ययन से वचित होने के कारण, प्रत्येक विज्ञान का अध्ययन यूनान की सस्कृति के अध्ययन से आरम्भ करते है। इसलिए आचार-विज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए भी, पश्चिमीय आचारशास्त्री यूनानी आचार-विज्ञान के इतिहास को ही आचार-विज्ञान का एकमात्र इतिहास मानते है। उनके अनुसार, सम्भवतया आचार-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तो का प्राचीनतम प्रतिपादन यूनान मे ही हुआ। किन्तु यह धारणा एकपक्षीय धारणा है। इस धारणा का विरोध करते हुए और भारतीय आचार-विज्ञान को प्राचीनतम मानते हुए अमरीकी लेखक ई० वाशबर्न हॉपकिन्ज़ ने लिखा है

"यद्यपि पश्चिम ने मानसिक भारत को वर्षों पहले खोज निकाला था और यद्यपि वह आज भी कल्पित करोडो वौद्ध जनसख्यावाले कथाओ के देश के प्रति अलकृत शब्दो मे वातचीत करता है, तथापि भारतीय धर्मों से भ्रान्त परिचय के अतिरिक्त इस देश मे किसीको भी यह ज्ञात नही है कि हिन्दुओ ने क्या चिन्तन किया और क्या कहा है। जहा तक हिन्दू आचार-विज्ञान का सम्बन्ध है, वह यूरोप और अमेरिका के लिए एक अज्ञात क्षेत्र है। यह जानना अनेक व्यक्तियो के लिए सुखद होगा, और किसीके लिए

भी दु:खद नही होगा कि भारत में ईसाई युग से बहुत पूर्व सत्य, उदारता, हृदय की कोमलता, आत्मा की पवित्रता, क्षमा तथा दया सामान्य जीवन के आदर्शों के रूप मे सिखाए जाते थे।"[1] अत: हम आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते समय भारतीय नैतिकता की अवहेलना नही कर सकते।

भारतीय नैतिकता कम से कम इतनी प्राचीन है जितनी कि वैदिक सस्कृति। वेदो मे देवताओ को ऋत एव नैतिक नियम का रक्षक माना गया है। जब देवताओ को शुभ माना गया तो उसका अभिप्राय यह नही है कि वे मनुष्यो के लिए शुभ हैं, अपितु वे नैतिक दृष्टि से शुभ है। वैदिक देवता, न ही वे केवल उदार और दयालु है, अपितु वे मनुष्यो से प्रेम भी करते हैं। दूसरे शब्दो मे देवताओं मे दया, क्षमा, सहिष्णुता, पवित्रता आदि सभी नैतिक गुण उपलब्ध हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे नैतिकता के रक्षक माने गए हैं। उपनिषदो मे तो स्पष्ट रूप से सत्-असत् का भेद किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि ईश्वर मनुष्य को असत् से सत् की ओर प्रेरित करे। इस सबंध मे उपनिषदो का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है:

"असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृत गमय।"

अर्थात् "ईश्वर हमे असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत्यु की ओर प्रेरित करे।" कठोपनिषद् मे स्पष्ट रूप से लिखा है, "जिस व्यक्ति ने अनैतिक कर्म का त्याग नही किया, वह ज्ञान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नही कर सकता।" उपनिषदो का ईश्वर, नैतिक दृष्टि से शुभ है, वह असत् को दूर करता है और सत् का प्रसार करता है। शुभ और सुखदायक वस्तु मे भी उपनिषदो मे भेद किया गया है और कहा गया है, "मनुष्य के पास श्रेयस् और प्रेयस् दोनो उपस्थित होते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति विवेक के द्वारा उन दोनो मे भेद करता है और प्रेयस् को त्याग करके श्रेयस् का निर्वाचन करता है। मूर्ख व्यक्ति श्रेयस् का त्याग करके प्रेयस् का निर्वाचन करता है। जो व्यक्ति

---

१. "Although the West discovered mental India years ago and now talks quite glibly with its imagined 'Millions of Buddhists', yet apart from some erroneous familiarity with Indian religions, there is little known in this country of what the Hindus have thought and said, as for the field of Hindu ethics, it is *terra incognita* to Europe and America It will be a pleasure to many and a grief to none to know that truthfulness, generosity, kindness of heart, purity of soul, forgiveness and compassion were taught in India as everyday precepts long before the Christian era"

—E. W. Hopkins ; Ethics of India, P. IX.

श्रेयस् का निर्वाचन करता है, वह श्रेष्ठ है और जो श्रेयस् को छोडकर प्रेयस् की ओर जाता है, वह अपने लक्ष्य से च्युत होता है।"[1]

वैदिक साहित्य से लेकर दार्शनिक साहित्य तक नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन है। धर्मशास्त्र मे तो विशेषकर नैतिक सिद्धान्तो की ही व्याख्या की गई है। सभी भारतीय दर्शन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चार पुरुषार्थों को स्वीकार करते है। ये चारो पुरुषार्थ मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। वास्तव मे ये चारो पुरुषार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के चार अगो से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा—चार तत्त्वो का समन्वय माना गया है। इसलिए शरीर के विकास के लिए अर्थ एव सम्पत्ति को, मन के विकास के लिए काम एव प्रेम को, बुद्धि के विकास के लिए धर्म को और आत्मा के विकास के लिए मोक्ष को पुरुषार्थ एव लक्ष्य माना गया है। ये चारो पुरुषार्थ सभी दर्शनो के द्वारा स्वीकार किए गए हैं और ये भारतीय सस्कृति की आचार-मीमासा के आधार-स्तम्भ माने गए है।

चार्वाक-दर्शन को छोडकर सभी भारतीय दर्शन, चाहे वे वेदो को प्रमाण मानते हो चाहे न मानते हो, आचार के सम्बन्ध मे इन चारो पुरुषार्थों को ही मानवीय जीवन की सफलता का साधन स्वीकार करते है। अत इन पुरुषार्थों की सक्षिप्त व्याख्या प्राचीनतम नैतिक आदर्शो के अध्ययन मे उपयोगी सिद्ध होगी। पश्चिमीय दार्शनिक क्षेत्रो मे भारतीय दर्शन के प्रति अनेक भ्रात धारणाए हैं। कुछ पश्चिमीय दार्शनिक यह समझते है कि भारतीय दर्शन मे आचार-मीमासा का कोई स्थान नही। कुछ का विचार है कि भारतीय दर्शन केवल पारलौकिक है और उसमे सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यो का स्थान नही है। चार पुरुपार्थो के अध्ययन से इन भ्रात धारणाओ का भी निराकरण हो जाता है।

अर्थ एव सम्पत्ति की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए इसलिए आवश्यक मानी गई है कि जव तक मनुष्य की आर्थिक स्थिति सतोपजनक न हो, तव तक वह पर्याप्त पोषक भोजन प्राप्त न कर सकने से अपने शरीर की रक्षा नही कर सकता और जव तक शरीर स्वस्थ न हो, मनुष्य किसी भी नियम का पालन नही कर सकता। शरीर को ही आत्मा का मन्दिर माना गया है और कहा गया है ·

"शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।"

अर्थात् "सब धर्मों की सिद्धि के लिए शरीर आधारभूत तत्त्व है।" भारतीय ऋषियो ने, अपने नित्य-नियम मे भी प्रार्थना करते समय, ईश्वर से यही इच्छा प्रकट की है कि वे सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहे और स्वस्थ रहे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक साधक, चाहे वह गृहस्थ-जीवन मे रहकर ईश्वर-आराधना करता हो, चाहे सन्यास का पालन करते हुए मोक्ष की आकाक्षा करता हो, विशेष शारीरिक व्यायाम एव यौगिक आसनो द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना अपना कर्तव्य समझता है। अर्थ का उपयोग, न ही केवल व्यक्ति के अपने शरीर की रक्षा के लिए है, अपितु उसकी प्राप्ति सामाजिक तथा धार्मिक कर्मों को पूरा

---

१. कठोपनिषद्, १-२-२ ; श्वेत० ६-६

करने के लिए भी आवश्यक है। भारतीय ऋषियो ने, कार्ल मार्क्स से पूर्व सामाजिक उन्नति के लिए तथा नैतिक जीवन के लिए अर्थ को सर्वोपरि माना था। आर्थिक सकट मे व्यक्ति अनेक अनैतिक कर्म कर बैठता है। अत अर्थ को धार्मिक कर्मों का साधन माना गया है और अर्थ की प्राप्ति के लिए विद्या का ग्रहण करना आवश्यक स्वीकार किया गया है। इसी दृष्टिकोण को सस्कृत मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है

"विद्या ददाति विनय विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं तत सुखम्॥"

अर्थात् "विद्या मनुष्य को विनयशील बनाती है, विनयशील व्यक्ति सुपात्र कहलाता है, सुपात्र व्यक्ति को धन की प्राप्ति होती है, धन की प्राप्ति से मनुष्य धर्म का आचरण करता है और धर्म पर चलनेवाला व्यक्ति वास्तविक सुख प्राप्त करता है।" किन्तु अर्थ एव सम्पत्ति को स्वलक्ष्य स्वीकार नही किया गया, क्योकि इसे शारीरिक विकास और धर्मपरायणता का साधन-मात्र ही माना गया है। अर्थ के सचय करने का उद्देश्य स्वार्थसिद्धि नही, अपितु परमार्थ के लिए ही स्वीकार किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, भले पुरुष वे ही है जो धन की उत्पत्ति करके उसका वितरण करते हैं। विश्व की विजय के पश्चात् जब सम्राट अश्वमेध यज्ञ करता था, तो वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को अपनी प्रजा मे बाट देता था। सम्राट रघु की विश्वविजय का कथन करते हुए महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवश मे लिखा है .

"स विश्वजितमाजह्रे यज्ञ सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सता वारिमुचामिव॥"

अर्थात् "उस (रघु) ने वह विश्वजित् यज्ञ रचाया, जिसमे सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी जाती है। महान व्यक्तियो का सचय करना, मेघो के जल-सचय की भाति (दूसरो मे) वितरण करने के लिए ही होता है।" परमार्थ की भावना सत्पुरुष का विशेष लक्षण है। इसी दृष्टिकोण को भारत के विख्यात सत कवि कबीर ने भी इस प्रकार अभिव्यक्त किया है .

"वृक्ष कबहु नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥"

अत पश्चिमीय जगत् मे भारतीय नैतिक दृष्टिकोण के प्रति जो यह भ्रात धारणा प्रचलित है कि भारतीय सस्कृति केवल पारलौकिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, निस्सन्देह भ्रात धारणा है, क्योकि भारतीय आदर्श पारमार्थिक है न कि पारलौकिक। परमार्थ वह प्रवृत्ति है, जो मनुष्य को नि स्वार्थ बनाती है और उसे अन्य लोगो की सेवा के लिए प्रेरित करती है। साधु अथवा त्यागी के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने सर्वस्व को परमार्थ मे लगा दे। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोग का अर्थ अकर्मण्यता नही है, अपितु स्वार्थ की भावना को त्यागकर निरन्तर अपने कर्तव्य का पालन करना है। भारतीय नैतिक दृष्टिकोण, न तो पूर्णतया विरक्त बनने का आदेश देता है और न ही वह आसक्त जीवन

को पुष्ट करता है। इसके विपरीत वह अनासक्त एव परमार्थ की भावना के आधार पर, निरन्तर प्रयत्नशील जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है। इस दृष्टिकोण मे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है। अतः अर्थ एव सम्पत्ति का नैतिक महत्त्व इसीमे है कि उसे उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति का आवश्यक साधन ही स्वीकार किया जाए।

जैसाकि हमने पहले कहा, दूसरे पुरुषार्थ काम का प्रतिपादन मनुष्य के मानसिक जीवन को सन्तुलित रखने के लिए ही किया गया है। यहा पर काम का अर्थ, न ही केवल कामवृत्ति की शारीरिक तृप्ति है, अपितु मनुष्य का सम्पूर्ण वह मूलप्रवृत्त्यात्मक और सवेगात्मक अग है, जिसके विकास के लिए विशेष परिस्थितियो का उपस्थित होना और विशेष साधनो का जुटाना आवश्यक है। इसमे कोई सन्देह नही कि काम की तृप्ति उस उत्कृष्ट स्थायी भाव पर आधारित है, जिसको प्रेम कहा जाता है। प्रेम का अर्थ राग अथवा आसक्ति नही है, अपितु परमार्थ की भावना पर आधारित अन्य व्यक्ति तथा व्यक्तियो के प्रति स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा आदि की भावनाओ का स्थायी रूप मे उपस्थित रहना है। इस प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने के लिए विवाह के द्वारा गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य माना गया है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे किया गया अनुसन्धान आज भी इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की काम-रूपी प्रेम की प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवल प्रवृत्ति है कि जिसका दमन अनेक मानसिक विकारो को जन्म देता है। फ्रायड तथा उसके अनुयायी हर प्रकार के असामान्य व्यवहार का मुख्य कारण कामवृत्ति के दमन को एव उसकी अतृप्ति को ही मानते है। भारतीय ऋषि-मुनियो ने इसी मनावैज्ञानिक तथ्य को सहस्रो वर्प पूर्व स्वीकार करते हुए लिखा है

"यावन्न विन्दते जाया, तावदर्धो भवेत् पुमान्।
यन्न बालै परिवृत, श्मशानमिव तद्गृहम्॥"

अर्थात् "जब तक मनुष्य विवाह नही कर लेता, तब तक वह अपूर्ण एव अर्ध रहता है और जिस घर मे बालक खेलते दिखाई नही देते, वह घर मरघट के समान होता है।" गृहस्थ-आश्रम मे, एक ओर तो मनुष्य की कामवृत्ति की धर्मानुकूल तृप्ति होती है और दूसरी ओर उसे पिता के रूप मे, पति के रूप मे तथा पुत्र के रूप मे वात्सल्य, स्नेह, श्रद्धा आदि का प्रेममय अनुभव प्राप्त होता है। इन्ही अनुभवो के आधार पर उसका व्यक्तित्व सन्तुलित होता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि गृहस्थ-जीवन और कामकी तृप्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय नैतिकता का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति एव ईश्वर-प्राप्ति है, किन्तु ईश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धा और प्रेम की अनुभूति शून्य से प्राप्त नही होती। कोई भी मनुष्य उस समय तक ईश्वर से प्रेम नही कर सकता, जब तक कि उसने काम के पुरुपार्थ का अनुसरण करते हुए कौटुम्बिक प्रेम का अनुभव न किया हो। अत. काम एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है, किन्तु वह भी स्वलक्ष्य नही है। इसके विपरीत वह व्यक्तित्व के विकास का एक अनिवार्य साधन है।

भारतीय नैतिकता का यह दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है और प्रमाणित

करता है कि केवल निवृत्ति-मार्ग सामान्य मनुष्य के लिए एकमात्र आदर्श नही है। इसके विपरीत मोक्ष की प्राप्ति एक व्यवस्थित मार्ग पर चलकर ही हो सकती है और वह मार्ग सासारिक तथा पारलौकिक जीवन का समन्वित मार्ग है और उसमे स्वार्थ तथा परमार्थ एव व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित दोनो उपस्थित रहते हैं।

धर्म, जोकि भारतीय नैतिकशास्त्र मे इहलौकिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थ माना गया है, वास्तव मे अर्थ तथा मोक्ष का भी आधार है। धर्म शब्द का अर्थ एक से अधिक किया जाता है। साधारणतया धर्म को कर्तव्य एव नैतिक कर्म ही माना जाता है। व्यापक दृष्टि से धर्म का अर्थ आधारभूत नियम है। इस दृष्टि से ईश्वर को विश्व के आधारभूत नियम का नियन्ता कहा जाता है। वास्तव मे धर्म शब्द सस्कृत की 'धृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अत धर्म की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखता है, "धार्यते इति धर्म ।" अर्थात् "जो धारण किया जाता हैं, वही धर्म है।" धर्म की यह व्याख्या उसे आधारभूत नियम तथा कर्तव्य की सीमा, दोनो अर्थ देती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म वे नियम अथवा कर्तव्य है, जो व्यक्ति तथा समाज द्वारा धारण किए जाते हैं। इन धर्मों की सक्षिप्त व्याख्या हम आगे चलकर करेगे, किन्तु यहा पर इतना बता देना पर्याप्त है कि पुरुषार्थों के सम्बन्ध मे धर्म का अर्थ वह नैतिक नियम अथवा कर्तव्य है, जिसका पालन करना व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए आवश्यक है। जैसाकि हमने पहले कहा है, धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि से है, धर्म पर चलना प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए आवश्यक है। मनु के धर्मशास्त्र मे विभिन्न धर्मो को प्रतिपादित किया गया है। वे केवल रूढिवादी नियम नही हैं, अपितु बौद्धिक नियम हैं। यही कारण है कि अर्थ और काम को भी धर्म पर आधारित करके ही स्वीकार करने योग्य बनाया गया है। जो व्यक्ति धर्मपरायण है, वह निस्सन्देह बुद्धिमान ही होगा और बुद्धिमान व्यक्ति ही धन का सदुपयोग तथा विद्या-प्राप्ति द्वारा योग्य प्रमाणित होकर काम की धर्मानुकूल तृप्ति प्राप्त कर सकता है। महर्षि व्यास ने धर्म के इस उत्कृष्ट लक्षण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥"

अर्थात् "मैं अपनी भुजा को ऊपर उठाकर घोषित कर रहा हू, किन्तु कोई भी मेरे शब्दो को नही सुनता। धर्म के द्वारा ही अर्थ तक काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म के पुरुषार्थ का अनुसरण क्यो नही किया जा रहा ?" अत जितने भी सत् कर्म हैं, वे सब धार्मिक कर्म माने जाते है। दूसरे शब्दो मे, धर्म और सत् अथवा शुभ को एक ही स्वीकार किया जाता है। वास्तव मे शुभ की भाति, धर्म की परिभाषा तो नही दी जा सकती, किन्तु उसके लक्षणो के द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है। इसलिए धर्मशास्त्र मे धर्म के निम्नलिखित दस लक्षण माने गए हैं (१) उदारता, (२) सत्यपरायणता, (३) अक्रोध, (४) विनय, (५) पवित्रता, (६) भक्ति, (७) सन्तोष, (८) आत्मसयम, (९) अपरिग्रह

(इन्द्रियो का सयम) तथा (१०) ज्ञान।

ये सभी प्रवृत्तिया धर्म कहलाती है और इनका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति ही धर्मपरायण व्यक्ति है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म भी इन्ही लक्षणो पर ही आधारित है। धर्म की यह व्याख्या प्रमाणित करती है कि भारतीय आचारशास्त्र मे, नैतिक मूल्यो का प्रतिपादन प्राचीनकाल से ही किया गया था। जैसाकि हम आगे चलकर देखेगे, यूनानी दार्शनिक प्लेटो के चार मुख्य गुणो एवं धर्मों (Four cardinal virtues) की धारणा इन दस लक्षणो से मिलती-जुलती है।

धर्म, अर्थ और काम तीनो ऐसे पुरुषार्थ हैं, जिनका सम्बन्ध मुख्यतया सासारिक जीवन से है। मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य एव परम ध्येय है और तीनो लौकिक पुरुषार्थ इसकी प्राप्ति के साधन है। क्योकि मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा के विकास से है और आत्मा अमर है, इसलिए मोक्ष की प्राप्ति अमरत्व की प्राप्ति है। मोक्ष का साधारण अर्थ हर प्रकार के दु ख से निवृत्ति एव अपवर्ग है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार दु खो से निवृत्ति की यह अवस्था न ही केवल मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होती है, अपितु वह लौकिक जीवन मे भी उपलब्ध है, इसलिए मोक्ष की अवस्था के दो स्तर माने गए है, जो निम्नलिखित है :

(१) जीवन्मुक्ति

(२) विदेह-मुक्ति

कोई भी व्यक्ति जीवन्मुक्ति प्राप्त किए विना, विदेह-मुक्ति को प्राप्त नही कर सकता। अत. जीवन्मुक्ति की धारणा, न ही केवल एक सैद्धान्तिक धारणा एव अमूर्त आदर्श है, अपितु वह एक वास्तविक अनुभवात्मक अवस्था है, जिससे गुजरकर व्यक्ति अमरत्व की अवस्था को प्राप्त होता है। किन्तु जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने के लिए धर्म का अनुसरण करना तथा अर्थ और काम को धर्म से समन्वित करना नितान्त आवश्यक है। जीवन्मुक्त व्यक्ति वही है, जो संयमी है, जो सुख-दु ख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि सभी द्वन्द्वो से ऊपर उठ जाता है और जो न किसीकी निन्दा करता है, न किसीकी स्तुति। जीवन्मुवत व्यक्ति भय, क्रोध, राग, द्वेष आदि से भी ऊपर उठ जाता है। किन्तु इस अवस्था की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक अनुशासन की आवश्यकता है। सभी भारतीय दर्शन वास्तव मे विभिन्न दृष्टिकोणो से विशेष प्रकार के आध्यात्मिक अनुशासन प्रस्तुत करते है, जिनपर चलकर जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति ससार मे रहता हुआ भी, विषय-भोग आदि का अनुभव करता हुआ भी, आसक्त एव लिप्त नही होता, वह निरन्तर आत्मोत्थान के लिए और जन-कल्याण के लिए प्रयत्न करता रहता है। उसका जीवन आनन्दमय होता है और वह अन्य लोगो को भी आनन्द के मार्ग पर लाने की सतत चेष्टा करता रहता है।

विदेह-मुक्ति का अर्थ शारीरिक मृत्यु के पश्चात् निरपेक्ष आनन्द की अवस्था को प्राप्त होना है। यह अवस्था भले ही हमारे सामान्य अनुभव से परे की वस्तु हो, किन्तु इसको हम केवल कल्पनात्मक धारणा-मात्र ही नही मान सकते, क्योकि इस अवस्था की

प्राप्ति जीवन्मुक्ति के पश्चात् ही होती है और जीवन्मुक्ति एक अनुभवात्मक अवस्था है। आध्यात्मिक अनुशासन के पालन करने से जीवन्मुक्त व्यक्ति को जो अनुभव प्राप्त होते हैं, वे अद्वितीय और परम आनन्द को देनेवाले हैं। अत मोक्ष की धारणा एक सैद्धान्तिक धारणा ही नही है, अपितु वास्तविक अवस्था की अभिव्यक्ति है।

अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष जोकि भारतीय जीवन के प्राचीनतम मूल्य है, नि सन्देह एक उच्चतम नैतिक जीवन और नैतिक ज्ञान को अभिव्यक्त करते है। हम पश्चिमीय नैतिक सिद्धातो की व्याख्या करते समय मोक्ष के महत्त्व पर प्रकाश डालेगे। यहां केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि मोक्ष की धारणा आचारशास्त्र को एक ऐसी नैतिक तथा तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करती है कि जिसके आधार पर नैतिक सिद्धातो के परस्पर-विरोध का समाधान किया जा सकता है। इसमे कोई सदेह नही कि भारतीय नैतिक आदर्श समन्वयात्मक है और उनका उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज का सर्वांगीण विकास है।

इसी सर्वांगीण विकास को दृष्टि मे रखते हुए भारतीय ऋषियो ने वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-धर्मो का ऐसा प्रतिपादन किया कि जो अनन्त ऐतिहासिक दुर्घटनाओ के घटित होते हुए भी, हिन्दू-सस्कृति और हिन्दू-समाज को बनाए रखने मे सहायक सिद्ध हुए है, इसमे कोई सदेह नही कि वर्ण-व्यवस्था मे अनेक रूढिया और दोष उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार निश्चित रूप से भारतीय सस्कृति को स्थिर बनाए रखने के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था की सक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय ऋषियो ने हिन्दू-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्णों मे विभक्त किया। किन्तु यह विभाजन आरम्भ मे रूढिवादी नही था। इसके दो मुख्य आधार थे, जिनमे से एक दार्शनिक और दूसरा व्यावहारिक था। दार्शनिक आधार भी केवल कल्पनात्मक ही नही हैं, अपितु वैदिक सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद मे तथा ब्राह्मणो मे वर्ण-व्यवस्था के सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार ब्रह्माण्ड को व्यक्ति एव पुरुष माना गया है और कहा गया है कि ब्राह्मण उस ब्रह्माण्ड-रूपी पुरुष के सिर एवं मुख की अभिव्यक्ति है, क्षत्रिय उसकी भुजाओ और वक्षस्थल की अभिव्यक्ति है, वैश्य उसके उदर की अभिव्यक्ति हैं और शूद्र उसके पावो की अभिव्यक्ति है। अत समाज-रूपी शरीर एक ओर व्यक्ति के शरीर के सदृश है और दूसरी ओर ब्रह्माण्डव्यापी पुरुष के सदृश है।

समाज का विश्व और व्यक्ति के मध्य का स्तर, वेदो और ब्राह्मणो मे अभि-व्यक्त एक अन्य सृष्टि-सिद्धान्त मे भी प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को वैदिक साहित्य मे 'प्राजापत्यवलषा पचपर्वा विश्वविद्या' कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार, वेदो मे विभिन्न देवताओ को व्यक्तिगत न मानकर भौतिक तत्त्व स्वीकार किया गया है और इन तत्त्वो को मुख्यतया पाच श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। ये तत्त्व विभिन्न नक्षत्रो द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और वे नक्षत्र सृष्टि के विभिन्न स्तर है। पृथ्वी एक

नक्षत्र है, जिसके चारो ओर दूसरा नक्षत्र चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त पर परिक्रमा करता है। पृथ्वी अपने उपग्रह चन्द्रमासहित क्रान्तिवृत्त पर गतिमान होती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। सूर्य अपने ग्रहमण्डलसहित, आयतवृत्त पर गतिमान होता हुआ २५,००० वर्षो मे, एक अन्य केन्द्र परमेष्ठी के चारो ओर एक परिक्रमा समाप्त करता है। इसी प्रकार अनन्त परमेष्ठी अपने सौरमण्डलोसहित स्वयम्भु प्रजापति के चारो ओर आन्द-वृत्त पर परिक्रमा करते है। यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि स्वयम्भु प्रजापति का अर्थ वह केन्द्रस्थ सत्ता है, जिसे केन्द्रो का केन्द्र, सत्यो का सत्य कहा गया है और जो सर्वव्यापी विशुद्धगति और विशुद्धस्थिति है। सृष्टि की यह शाखा प्रजापतितत्त्व की अनन्त शाखाओ मे से एक है, किन्तु यह पाच मुख्य तत्त्वो की अभिव्यक्ति है जिन्हे क्रमश. पृथ्वीतत्त्व, चन्द्रतत्त्व, सूर्यतत्त्व, परमेष्ठीतत्त्व तथा स्वयम्भु प्रजापतितत्त्व कहा गया है। इन्ही पाच तत्त्वो की उपस्थिति व्यक्ति मे शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के रूप मे उपस्थित है, जहा पर पार्थिव शरीर पृथ्वीतत्त्व की अभिव्यक्ति है। चान्द्रमन, चन्द्र-तत्त्व की अभिव्यक्ति है, सौरबुद्धि, सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति है और आत्मा परमेष्ठी तथा स्वयम्भु प्रजापति दोनो की अभिव्यक्ति है। यहा पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आत्मा के दो अंग है—महान आत्मा तथा अव्यय पुरुष। महान आत्मा का अर्थ, व्यक्ति मे उपस्थित वह परम्परागत सस्कार है, जो उसे अपने सात पीढियो के पूर्वजो से प्राप्त होते है और जो भविष्य की सात पीढियो तक उपस्थित रहते है। अव्यय पुरुष विशुद्ध आत्मा है, जो ब्रह्म एव प्रजापतितत्त्व की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि को और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रजापतितत्त्व की वैदिक परिभाषा देना नितान्त आवश्यक है। वेदो के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र प्रजापति की परिभाषा देता है

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥"

अर्थात् "प्रजापति प्रत्येक वस्तु के गर्भ मे उपस्थित है, वह केन्द्रस्थ सत् है, अजायमान है, किन्तु अनेक रूपो मे अभिव्यक्त होता है। विद्वान लोग उसके इस रहस्य को एव उसके अन्तरतम अस्तित्व को समझते है, क्योकि विश्व की सत्ता के सभी स्तर उसीपर आधारित है।"

यहा पर इस सृष्टि-विद्या की व्याख्या का उद्देश्य केवल इतना है कि भारतीय प्राचीनतम दर्शन मे व्यक्ति को विश्व की प्रतिमूर्ति माना गया है और विश्व के अगो को व्यक्ति मे उपस्थित शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। व्यक्ति और विश्व के बीच मे जो समाज है, उसके अग भी चार है जिन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा गया है। यहा पर शूद्र को समाज का शरीर, वैश्य को समाज का मन, क्षत्रिय को समाज की बुद्धि और ब्राह्मण को समाज की आत्मा माना गया है। अत· सामाजिक विकास के लिए भी उन्ही चारो पुरुषार्थों अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष की आवश्य-कता है, जोकि व्यक्ति के विकास के आदर्श माने गए है।

वर्ण-व्यवस्था का व्यावहारिक आधार मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से शूद्र वही है, जो शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का समन्वय होते हुए भी शारीरिक प्रवृत्तियो से अधिक प्रभावित है एव शरीरधर्मा है। वैश्य वही है, जो मानसिक प्रवृत्तियो से अधिक प्रभावित है एव मनोधर्मा है। क्षत्रिय वह है, जो बौद्धिक प्रवृत्तियो से अधिक प्रभावित है एव बुद्धिधर्मा है। ब्राह्मण वही है, जो आत्मा-सम्बन्धी प्रवृत्तियो से अधिक प्रभावित है एव आत्मधर्मा है। अत' चार वर्णो का नैतिक आधार मनोवैज्ञानिक आधार से सम्बन्धित है। शूद्र-वर्ण का कर्तव्य शारीरिक श्रम द्वारा अधिक से अधिक अर्थ एव सम्पत्ति का उत्पादन करना है , वैश्य-वर्ण का मुख्य कर्तव्य कला-कौशल एव कृषि के द्वारा समाज की मानसिक तृप्ति के लिए काम के पुरुपार्थ की पूर्ति करना है , क्षत्रिय-वर्ण का कर्तव्य शासन-सत्ता का अधिकार प्राप्त करके धर्म की रक्षा करना है और ब्राह्मण-वर्ण का कर्तव्य आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा मोक्ष के आदर्श की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करना और अन्य तीनो वर्णों को सासारिक तथा पारलौकिक जीवन को समन्वित करने का परामर्श देना है।

इसी प्रकार व्यक्ति और समाज के समन्वित विकास के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र मे व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमो मे विभक्त किया गया है जिन्हे ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम, वानप्रस्थ-आश्रम तथा सन्यास-आश्रम कहा गया है। जीवन के पहले पचीस वर्षों मे व्यक्ति ब्रह्मचर्य-आश्रम मे रहकर विद्या का उपार्जन करता है और पात्र वनकर अर्थ की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करता है। जीवन के दूसरे पचीस वर्षों मे वह गृहस्थ-आश्रम में रहकर और अर्थ का सदुपयोग करता हुआ अपने काम की धर्मानुकूल तृप्ति अनुभूत करता है। पचास वर्ष से पचहत्तर वर्ष की अवधि मे वानप्रस्थ मे स्थित हुआ व्यक्ति समाज-सेवा तथा धर्मोपदेश मे अपना समय व्यतीत करता है। पचहत्तर वर्ष से सौ वर्ष की अवधि मे सन्यास-आश्रम मे स्थित व्यक्ति सासारिक इच्छाओ का पूर्ण त्याग करके सतत मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है। सक्षेप मे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रम क्रमश. अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष के पुरुषार्थों से सम्बन्धित है। भारतीय ऋषियो ने इस प्रकार की नैतिकता की व्यवस्था, सहस्रो वर्ष पूर्व स्थापित करके एक समन्वयात्मक जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया था। अत विश्व के नैतिक इतिहास मे इस जीवन-शैली का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। हम पश्चिमीय नैतिक इतिहास का उल्लेख करते समय स्थान-स्थान पर उसका भारतीय नैतिक आदर्शों से तुलनात्मक अध्ययन ही करेंगे। इस दृष्टि से भी उपर्युक्त भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या उपयोगी सिद्ध होगी।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पश्चिमीय दर्शनशास्त्र के इतिहास मे इतिहास-सम्बन्धी चिन्तन का आरम्भ यूनानी दार्शनिको के समय मे मिलता है। नैतिक चिन्तन तथा नैतिक आदर्श उस समय के दर्शन मे स्पष्ट रूप से तो उपस्थित नही थे, किन्तु उन दार्शनिको की तत्त्वात्मक खोज विशेष प्रकार

के नैतिक जीवन की ओर सकेत अवश्य करती थी। ईसा से छठी तथा पाचवी शताब्दी पूर्व के मध्य मे विशेषकर दो भौतिक दार्शनिको ने नैतिक समस्या को कुछ स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया, यद्यपि इन दार्शनिको का मुख्य उद्देश्य विश्व की आधारभूत भौतिक सत्ता की स्वरूप-व्याख्या करना था। इनके सामने मुख्य प्रश्न यह था कि विश्व किस तत्त्व से बना है। इन दो दार्शनिको के नाम हेराक्लाइटस (५३० से ४७० ईसा से पूर्व) तथा डेमोक्राइटस (४६० से ३७० ईसा से पूर्व) था। हेराक्लाइटस के अनुसार विश्व का अधारभूत तत्त्व अग्नि एव प्रकाश तथा रूक्षता का नियम है। यह प्रकाश तथा रूक्षता का नियम निरन्तर अन्धकार तथा आर्द्रता के नियम के विरुद्ध सघर्ष करता रहता है। अत. हेराक्लाइटस की यह धारणा है कि यही संघर्ष मनुष्य के जीवन मे भी होता रहता है। अत मनुष्य के जीवन का उद्देश्य प्रकाश तथा रूक्षता की विजय और अन्धकार तथा आर्द्रता की पराजय होना चाहिए। हेराक्लाइटस ने इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए नैतिक नियम को प्रतिपादित करते हुए आदेश दिया, "अपनी आत्मा को सूखा रखो"[1] इस नियम का आशय यह था कि जीवन का उद्देश्य इच्छाओ पर नियन्त्रण करना है। इसलिए हेराक्लाइटस को इच्छाओ के दमन करनेवाला दार्शनिक, एव रुदन करनेवाला दार्शनिक कहा गया है। इसके विपरीत डेमोक्राइटस के अनुसार नैतिकता का आधारभूत नियम इच्छाओ की तृप्ति एव सुख की प्राप्ति है। अत डेमोक्राइटस को हसनेवाला दार्शनिक कहा जाता है। यूनानी दर्शन के इतिहास मे आगे चलकर, यही दो दृष्टिकोण स्टायकवाद तथा एपीक्योरियनवाद अर्थात् सयमवाद तथा सुखवाद के रूप मे विकसित होते हैं। किन्तु हेराक्लाइटस तथा डेमोक्राइटस ने स्पष्ट रूप से नैतिक समस्या का समाधान नही किया है।

उपर्युक्त दो दार्शनिको के पश्चात् ज्ञानवादियो (Sophists) ने पुन नैतिक समस्या की ओर ध्यान दिया। किन्तु उन्होने केवल मनुष्य को ही नैतिकता का मापदण्ड स्वीकार किया। ज्ञानवादियो का मुख्य उद्देश्य दार्शनिक भ्रातियो को दूर करना था। उन्होने अपने समय के प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तो की आलोचना की और उन सिद्धान्तो को अमूर्त, परस्पर-विरोधी तथा निरर्थक प्रमाणित करने की चेष्टा की। अत उनकी आलोचना अधिकतर ध्वसात्मक थी और वे तर्काभास का प्रयोग करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा करते थे। इसलिए ज्ञानवादियो को प्राय सशयवादी माना जाता है और उनकी कड़ी आलोचना की जाती है। वास्तव मे उनका उद्देश्य ज्ञान तथा नैतिकता-सम्बन्धी समस्याओ को यथार्थ रूप मे सामने रखना था। ज्ञानवादी, शिक्षको का एक समूह थे, जिन्होने यूनानी नागरिको को नैतिक बनाने की चेष्टा की। इन शिक्षको का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक था और वे एथेन्स नगर के नवयुवको को निपुण नागरिक बनाना चाहते थे। अत वे नवयुवको को शिक्षा देते समय नागरिकता के कर्तव्यो की व्याख्या करते थे। ऐसी व्याख्या करते समय उन्होने यह आवश्यक समझा कि वे राजनीतिक कर्तव्य तथा सामाजिक नैतिकता के मूल आधार को ढूढने की चेष्टा करे। उन्होने

१. "Keep your soul dry."

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नैतिकता का आलोचनात्मक अध्ययन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होने अपने समय की नैतिक प्रथाओ को चुनौती दी। उनकी यह क्रान्तिकारी भावना, रूढिवादी एव अन्धविश्वास रखनेवाले वृद्ध व्यक्तियो के लिए एक चेतावनी थी। इसलिए ज्ञानवादियो का घोर विरोध किया गया और उनपर अनेक आरोप लगाए गए, जिसके फलस्वरूप ज्ञानवादियो को अवाछनीय ही माना गया। किन्तु तटस्थ अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि ज्ञानवादी अपने समय के विद्वान व्यक्ति थे और उन्होने अपने नगर मे बौद्धिक जाग्रति उत्पन्न की। उन्होने अपने समय के मूल्यो, सत्यपरायणता आदि की कडी आलोचना की। उसका कारण यह था कि उस समय नैतिक आदर्शो का दुरुपयोग किया जा रहा था। अत ज्ञानवादियो ने आदर्श तथा व्यावहारिक जीवन मे जो विषमताए थी, उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया। किन्तु आवश्यकता से अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण अधिकतर ज्ञानवादियो ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि नैतिक व्यक्ति अनैतिक व्यक्ति की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन मे असफल और दु खी रहता है। नैतिक आदर्शों को परस्पर-विरोधी प्रमाणित करते हुए ज्ञानवादी इस परिणाम पर पहुचे कि प्रत्येक व्यक्ति सत्-असत् और शुभ-अशुभ का निर्णय करने की सामर्थ्य रखता है। ज्ञानवादियो ने यद्यपि नैतिक आदर्श की स्थापना नही की, तथापि उन्होने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया, जिसमे नैतिकता की समस्या का समाधान करना एक अनिवार्य प्रश्न हो गया।

सुकरात (४७० से ३९९ ईसा से पूर्व)

वास्तव मे सुकरात स्वय एक प्रकार का ज्ञानवादी था। उसने नैतिक समस्या को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया। सुकरात को पूर्णतया ज्ञानवादी कहना तो एक भ्रान्ति है, क्योकि ज्ञानवादियो ने केवल समस्या ही खड़ी की थी, परन्तु उसका कोई समाधान नही किया था, जबकि सुकरात ने नैतिकता की समस्या को ज्ञान की सम्भावना के आधार पर सुलझाया। ज्ञानवादी सन्देहवादी थे और वे व्यक्तिगत ज्ञान को ही एकमात्र ज्ञान समझ बैठे थे। इसके विपरीत सुकरात ने ज्ञान को अन्तरात्मक न मानकर सामान्य और बाह्यात्मक स्वीकार किया। उसने यह प्रमाणित किया कि यथार्थ ज्ञान सम्भव है और वह सवेदनात्मक न होकर धारणात्मक एव तर्कात्मक है। तर्कात्मक ज्ञान ही हमे ऐसे सत्य पर पहुचाता है, जो व्यक्तिगत न होकर सामान्य होता है और जो विरोधाभास के स्थान पर समन्वय उत्पन्न करता है। ऐसे ज्ञान पर आधारित व्यवहार ही वाछनीय व्यवहार एव धर्म (Virtue) है। सुकरात ने यथार्थ ज्ञान को ही धर्म माना है और अपने दर्शन मे धर्म एव नैतिकता को ही उच्चतम स्थान दिया है। सुकरात का जीवन विशुद्ध नैतिक जीवन था। उसने न ही केवल सिद्धान्त के द्वारा, अपितु व्यावहारिक जीवन के द्वारा नैतिक आदर्श को वाछनीय प्रमाणित किया है। उसका जीवन सयम पर आधारित था। उसने यथार्थ ज्ञान एव सत्य के प्रचार मे ही अपना जीवन व्यतीत किया और सत्य के लिए ही अपने जीवन

का वलिदान दिया। उसने अपने समय के रूढिवाद और भ्रान्त विचारो का घोर विरोध किया। अत उसपर यह आरोप लगाया गया कि वह धर्म का विरोध करता है और नवयुवको को सामाजिक तथा नैतिक प्रथाओ के विपरीत शिक्षा देता है। वास्तव मे उसपर आरोप लगानेवाले वाद-विवाद मे सुकरात से पराजित हो चुके थे और वे उससे वैमनस्य रखते थे। इन कारणो से सुकरात को दोषी ठहराया गया और उसे विष-सेवन द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया। मृत्यु के दण्ड भुगतने से पूर्व, जव सुकरात को जेल से भाग जाने का परामर्श दिया गया, तो उसने अपने मित्रो तथा हितैषियो के आग्रह पर भी ऐसा करना स्वीकार नही किया और सत्य के लिए हसते-हसते विष-पान कर लिया। अत. उसकी मृत्यु उसके जीवन से भी अधिक नैतिकता का आदर्श वन गई। सुकरात ज्ञानवादियो की भाति आलोचना तो अवश्य करता था, किन्तु वह अपने-आपको शिक्षक न कहकर आचारशास्त्र का विद्यार्थी मानता था। वह कदापि अपने दृष्टिकोण को अचूक नही मानता था, क्योकि वह समस्याओ की कठिनाई को भली भाति जानता था। उसने यह वात निश्चयपूर्वक प्रमाणित की कि नैतिक जीवन के प्रति जनसाधारण की व्याख्याए अपूर्ण थी और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी। उसकी यह धारणा थी कि नैतिकता की वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता, न ही केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से, अपितु सदाचार को व्यावहारिक वनाने के लिए भी आवश्यक थी। उसकी यह धारणा थी कि कोई भी व्यक्ति अकस्मात् धर्म पर चलनेवाला एव नैतिक नही हो सकता। धर्मपरायण वही हो सकता है, जो धर्म एव कर्तव्य का यथार्थ ध्यान रखता है। जो व्यक्ति नैतिक लक्ष्य के स्वरूप को भली भाति जानता है, वह कदापि उसको जीवन मे उतारने मे एव उसका अनुसरण करने मे असफल नही हो सकता। अत' उसकी यह धारणा थी कि "धर्म ज्ञान है।"[१] यह स्पष्ट है कि सुकरात की दृष्टि से 'ज्ञान' का अर्थ केवल जानना एव परिचय-मात्र नही है, अपितु व्यावहारिक ज्ञान एव सत्य को जीवन मे उतारने का नाम ज्ञान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी सुकरात का कहना था कि जो व्यक्ति नैतिक लक्ष्य के स्वरूप से अनभिज्ञ है, वह कदापि नैतिक नही हो सकता। अत उसका कहना था कि जो वस्तु अथवा क्रिया हमारे ज्ञान के क्षेत्र से वाहर है, वह अनैतिक है।

सुकरात के इस दृष्टिकोण के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि कुछ व्यक्ति सत् और शुभ का ज्ञान रखते हुए भी उनका अनुसरण नही करते। किन्तु सुकरात का यह कहना था कि शुभ का अनुसरण न करना इस वात का द्योतक है कि ऐसा व्यक्ति शुभ के यथार्थ रूप को नही जानता, उसकी शुभ के प्रति जो धारणा है वह मिथ्या धारणा है। इसलिए जो व्यक्ति किसी कर्म को शुभ मानता है और उसका अनुसरण नही करता, तो उसका अभिप्राय यह है कि उसकी शुभ की धारणा भ्रान्त है एव असत्य है। दूसरे शब्दो मे, शुभ का अनुसरण न करना एक बौद्धिक त्रुटि है। सुकरात इस दृष्टिकोण की धर्म के उदाहरणो द्वारा व्याख्या करता है। साहस एक धर्म एव नैतिक गुण है और साहसी व्यक्ति

१. "Virtue is knowledge."

का अर्थ यह नही कि वह कभी भय का अनुभव नही करता। प्रत्येक मनुष्य उन वस्तुओ से एवं परिस्थितियो से अवश्य भय का अनुभव करता है, जो उसकी शक्ति से बाहर हैं और जिनसे सुरक्षित न रहकर मनुष्य की मृत्यु अवश्यम्भावी होती है। इसके साथ ही साथ धर्म-परायण व्यक्ति अपमान से भयभीत होता है। वह अपने मित्रो से द्रोह करने से भयभीत होता है और इस बात से भी भय खाता है कि उसको कायर न समझा जाए। अत सुकरात कहता है कि साहसी व्यक्ति भी कायर व्यक्ति की भांति भय का अनुभव करता है, किन्तु साहसी और कायर के भय के अनुभव मे अन्तर अवश्य होता है। साहसी व्यक्ति ऐसी वस्तुओ से भय का अनुभव करता है जिनसे कि कायर भयभीत नही होता। वह उन वस्तुओ से भयभीत होता है जिनसे कि उसे भयभीत होना चाहिए, क्योकि वे वस्तुएं यथार्थ रूप से भयजनक होती हैं। अत. साहसी व्यक्ति यह जानता है कि कौन-सी वस्तुए एवं परिस्थितियां वास्तव मे भयजनक है, जबकि कायर व्यक्ति को ऐसा ज्ञान नही होता। इस प्रकार वीर एव साहसी व्यक्ति तथा कायर व्यक्ति मे अन्तर ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि का होता है। साहसी व्यक्ति यह जानता है कि किस वस्तु एवं परिस्थिति से भयभीत होना वाछनीय है, जबकि कायर ऐसा ज्ञान नही रखता।

सुकरात ने धर्म को यथार्थ ज्ञान तो माना है, किन्तु उसने कोई ऐसा विशेष ज्ञान प्रस्तुत नही किया, जोकि नैतिक लक्ष्य के स्वरूप को प्रतिपादित करे। नैतिक लक्ष्य का स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को जानने के लिए सुकरात सदैव अपने-आपको जिज्ञासु मानता रहा। सुकरात के दर्शन के अध्ययन से कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि उसका नैतिक आदर्श सुखवादी था। किन्तु सुकरात के नैतिक दृष्टिकोण को निश्चित रूप से सुखवाद नही कहा जा सकता। यही कारण है कि सुकरात के अनुयायियों मे नैतिकता के प्रति मतभेद था। अत उसके दर्शन पर परस्पर-विरोधी नैतिक सिद्धान्त आधारित किए गए।

सुकरात के पश्चात् यूनान मे जो दो मुख्य विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए, उन्हे सिनिक्स (Cynics) तथा सिरीनायक्स (Cyrenaics) कहा जाता है। सिनिक्स सिद्धान्त के अनुयायी सुकरात के संयमयुक्त जीवन से प्रभावित हुए, अतः उन्होने सुकरात की आवश्यकताओ से स्वतन्त्र रहने की प्रवृत्ति को ही जीवन का आदर्श माना। अत. उनका नैतिक दृष्टिकोण तर्कवादी एव बुद्धिवादी था। यही नैतिक सिद्धान्त आगे चलकर स्टायक सिद्धान्त कहलाया, जिसने कि सयम को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना। सिरीनायक सिद्धान्त के अनुयायी सुकरात की उस दक्षता से प्रभावित हुए, जिसके द्वारा कि वह अपने वातावरण का पूर्ण सदुपयोग करता था। अत उन्होने सयम का विरोध करके सुखवादी दृष्टिकोण अपनाया। सिरीनायक सिद्धान्त आगे चलकर एपीक्योरियन सिद्धान्त मे परिवर्तित हुआ, जिसने कि 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के आदर्श को नैतिक जीवन का लक्ष्य घोषित किया। वास्तव मे सुकरात के दर्शन पर आधारित ये दो परस्पर-विरोधी नैतिक सिद्धान्त पश्चिमीय दर्शन के इतिहास मे विभिन्न रूप धारण करके पुन.-पुन प्रकट होते रहे है। काट का बुद्धिवादी नैतिक दृष्टिकोण निस्सन्देह एक प्रकार का सिनिक

दृष्टिकोण है और मिल का 'सुखवाद' सिरीनायक सिद्धान्त का नवीन रूप है।

प्लेटो (४२७ से ३४७ ईसा से पूर्व)

सुकरात के पश्चात् जिस यूनानी दार्शनिक ने व्यवस्थित नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित किया, वह सुकरात का विख्यात शिष्य प्लेटो (४२७ से ३४७ ईसा से पूर्व) था। प्लेटो का नैतिक सिद्धान्त उसके तत्त्वात्मक सिद्धान्त पर आधारित था। प्लेटो के अनुसार, मनुष्य की आत्मा एव उसके व्यक्तित्व के तीन मुख्य अग है, जो निम्नलिखित है·

(१) तर्कात्मक अग (Reasoning part)
(२) उच्चतम एव उत्कृष्ट सवेगात्मक अग (Part made up of the higher and nobler emotions)
(३) मूलप्रवृत्त्यात्मक अग (Appetitive part)

व्यक्ति के तर्कात्मक अग को विकसित करने के लिए प्लेटो ने ज्ञान (Prudence) के गुण का अनुसरण करने को धर्म माना है। उत्कृष्ट सवेदनात्मक अग व्यक्ति को क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करता है। अत इस अग के विकास के लिए प्लेटो के अनुसार साहस (Courage) के गुण की आवश्यकता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक अग, जो साधारणतया व्यक्ति को विषय-भोग आदि की ओर आकर्षित करता है, सयम (Temperance) के गुण की अपेक्षा करता है। अतः प्लेटो ज्ञान, साहस और सयम—तीन गुणो को मुख्य मानता हैं। इनके साथ ही साथ वह इन तीनो गुणो को परस्पर समन्वित करने के लिए चौथे गुण न्याय एव विवेक को सर्वोपरि मानता है। उसका कहना है कि नैतिकता का उच्चतम स्तर केवल दार्शनिक ही प्राप्त कर सकता है।

यहां पर यह वात उल्लेखनीय है कि प्लेटो समाज एव राष्ट्र को आत्मा एवं व्यक्ति के सदृश समझता है। उसके अनुसार, व्यक्ति के तीन अग आदर्श समाज के तीन वर्ग होते हैं। उच्चतम वर्ग को प्लेटो ने राज्य करनेवाला वर्ग माना है और कहा है कि केवल उत्कृष्ट, विचारशील दार्शनिक ही राज्यसत्ता सभालने के योग्य हैं। उसके अनुसार, समाज का दूसरा अंग वह वर्ग है, जो समाज की रक्षा के लिए युद्ध करता है। समाज का तीसरा अग वह वर्ग है, जो श्रम के द्वारा दूसरे दो वर्गो के लिए भोजन, कपड़ा, रहने का स्थान तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। प्लेटो यह भी कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के आधार पर ही विशेपवर्ग का सदस्य माना जा सकता है। जिन व्यक्तियो मे तर्कात्मक अग अधिक प्रभावशाली है, वे सत्ताधारी एव रक्षक-वर्ग बनने के अधिकारी हैं; जिनमे प्रेरणात्मक एव उत्कृष्ट सवेदनात्मक तत्त्व का आधिक्य है, वे सैनिक-वर्ग वनने के अधिकारी है और जिनमे मूलप्रवृत्त्यात्मक तत्त्व का प्राधान्य है एव जिनमे इच्छाए तर्क के अधीन नही होती, वे श्रमजीवी-वर्ग वनने के अधिकारी है। प्लेटो का यह दृष्टिकोण निस्सन्देह भारतीय दृष्टिकोण के सदृश है। इसमे अन्तर केवल इतना है कि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा—चार तत्त्वो का

समन्वय है, जबकि प्लेटो के अनुसार वह केवल तर्क अथवा बुद्धि, उत्कृष्ट सवेग अथवा मन, मूलप्रवृत्त्यात्मक तत्त्व अथवा शरीर तीन तत्त्वो का समन्वय है। इसी प्रकार जहा भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार समाज एव आदर्श राष्ट्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—चार वर्गो मे विभक्त किया गया है, वहा प्लेटो उसे सत्ताधारी, योद्धा तथा श्रमिक तीन वर्गो मे विभक्त करता है। भारतीय दृष्टिकोण की भाति प्लेटो भी स्वभाव के आधार पर ही व्यक्तियो का विभिन्न श्रेणियो मे वर्गीकरण करता है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ईसा से पूर्व)

यूनानी दर्शन के इतिहास मे प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने अपने समय की नैतिक विचारधारा को अधिक व्यवस्थित किया। सुकरात द्वारा प्रतिपादित और प्लेटो द्वारा स्वीकृत ज्ञान, साहस, सयम तथा न्याय एव विवेक—चार धर्मो एव गुणो की अरस्तू ने विस्तृत व्याख्या की। उसने अपने समय के नैतिक जीवन का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। वह प्लेटो से इस बात मे सहमत है कि उच्चतम नैतिकता का स्तर, सामान्य व्यक्ति के जीवन मे नही, अपितु दार्शनिक के उच्चतर चिन्तन मे उपलब्ध होता है। किन्तु अरस्तू आचार-विज्ञान के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अगो मे भेद मानता है और आचार-विज्ञान को मुख्यतया व्यावहारिक मानता है। यही कारण है कि उसके अनुसार केवल ज्ञान ही धर्म अथवा नैतिकता नही है, अपितु वह अभ्यास एवं आदत है। अरस्तू का नैतिक सिद्धान्त एक दृष्टि से सुखवादी माना जा सकता है। अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य के लिए सुख शुभ है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि वह उसे मानवीय प्रयत्न का एकमात्र लक्ष्य मानता है। यह तो स्पष्ट है कि अरस्तू ऐसा नही मानता कि सुख का पीछा करने से मनुष्य नैतिक बन सकता है। अरस्तू के अनुसार, सुख स्वय स्वलक्ष्य मूल्य नही है। इसके विपरीत जब हम अन्य स्वलक्ष्य उद्देश्यो को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, तो हमे सुख स्वय ही उपलब्ध हो जाता है। प्लेटो कहता है कि सुख किसी अन्य वस्तु का चिह्न है। जब हम किसी भी उचित लक्ष्य को प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होते हैं, तो हमे स्वत ही सुख प्राप्त होता है। अत सुख की प्राप्ति सच्चरित्र एवं उत्कृष्ट सदाचार के द्वारा होती है।

सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू के पश्चात् स्टायक तथा एपीक्योरियन सिद्धान्त ही नैतिकता के दो मुख्य दृष्टिकोण प्रभावशाली रहे। वास्तव मे ये दोनो दृष्टिकोण केवल सैद्धान्तिक ही नही थे, अपितु व्यावहारिक दो प्रकार की जीवन-शैलियां थी। स्टायक दृष्टिकोण के अनुयायी उस समय प्रभावशाली थे, जब यूनानी नागरिकता अवनति के पथ पर थी, अत उन्होने ज्ञान को उच्चतम आदर्श माना और त्याग के द्वारा सब आवश्यकताओ से स्वतन्त्र होने को ही नैतिकता समझा। किन्तु उनके दृष्टिकोण मे क्रियाशीलता की अपेक्षा, निष्क्रियता और सशयवाद का प्रभाव अधिक था। एपीक्योरियन सिद्धान्त निवृत्ति के विरुद्ध था, किन्तु उसका उद्देश्य सासारिक सुख को महत्त्व देना था।

एपीक्योरियन नैतिकता निस्सदेह सुखवादी नैतिकता थी। आरम्भ मे तो इस सिद्धान्त का प्रवर्तक एपीक्योरस स्वय निरकुश इच्छाओ की तृप्ति मे विश्वास नही रखता था, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् एपीक्योरियनवाद का अर्थ 'खाओ, पियो और मौज उडाओ' के सिद्धान्त पर चलना ही रह गया।

मध्यकालीन नैतिक विचारधारा

मध्यकाल मे आचार-सम्बन्धी चिन्तन पर यूनानी आचार-विज्ञान तथा ईसाई धर्म मे प्रतिपादित आचार-विज्ञान का प्रभाव पडा। इस समय मे, विशेषकर धार्मिक विचारो ने दर्शन पर प्रभाव डाला। न ही केवल इतना, अपितु धर्म का प्रभाव राजनीति पर भी पडा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे धर्म को प्रधान माना गया। अत आलोचको का कहना है कि मध्यकाल मे दर्शन, धर्म की दासी-मात्र था। यूनानी समय मे आचार-विज्ञान और राजनीति-विज्ञान मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि व्यक्ति का शुभ एव उसका नैतिक विकास तथा राज्य (State) का शुभ एव उसका नैतिक विकास अन्योन्याश्रित माने जाते थे। किन्तु मध्यकाल मे विशेषकर ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण, राजनीतिक तथा नैतिक क्षेत्र पृथक् कर दिए गए। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य का वास्तविक जीवन इस लोक मे नही, अपितु परलोक मे है। उसके अनुसार परलोक पूर्णतया शुभ है और इस लोक मे अशुभ तथा दु ख उपस्थित है। इसी प्रकार परलोक मे अमरत्व है और लौकिक जीवन अस्थायी है। इसलिए लौकिक जीवन पारलौकिक जीवन की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर है। इस विश्व मे कोई भी ऐसी वस्तु नही, जो निरपेक्ष रूप से शुभ हो। सासारिक शुभ, पारलौकिक शुभ की प्राप्ति के साधन-मात्र है। इस प्रकार पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन से श्रेष्ठ मानकर और ईश्वर को दोनो लोको का एकमात्र स्वामी घोषित करके ईसाई धर्म ने राजनीतिक आचार को गौण प्रमाणित किया और नैतिक जीवन को ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन मानकर नैतिकता और राजनीति मे एक दरार उत्पन्न कर दी। इस समय के नैतिक विचारो को समझने के लिए दो मुख्य विचारको, सेट टामस एक्वीनास तथा दान्ते के दृष्टिकोणो की सक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक है।

सेट टामस एक्वीनास (१२२७ से १२७४)

सेट टामस एक्वीनास का दर्शन तथा उसकी नैतिक विचारधारा ईसाई धर्म पर आधारित हैं। न ही केवल इतना, अपितु उसके राजनीतिक विचार भी ईसाई धर्म पर आश्रित है। सेंट टामस के अनुसार मनुष्य के दो अग है—एक प्राकृतिक एव स्वाभाविक और दूसरा आध्यात्मिक (Super-natural)। मनुष्य इन दोनो मे से किसी भी स्तर पर रह सकता है, किन्तु उसकी मुक्ति इस लौकिक जीवन मे न होकर, पारलौकिक जीवन मे है। अत उस मुक्ति की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक स्तर पर जीवन व्यतीत करना

नितान्त आवश्यक है। सेंट टामस के अनुसार ईश्वर की सत्ता, परम सत्ता है और उसी सत्ता का मनुष्य के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक अगो पर पूर्ण अधिकार है। मनुष्य का कर्तव्य ईश्वर की इच्छा को इस पृथ्वी पर प्रसारित करने के लिए और ईश्वरीय साम्राज्य को स्थापित करने के लिए नैतिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। यह नैतिकता निस्सन्देह अहिंसा और प्रेम पर आधारित है। इसके अनुसार मनुष्य को अपने शत्रुओ से भी प्रेम करना कर्तव्य माना गया है।

दान्ते (१२६५ से १३२१)

दान्ते के सामने भी मुख्य समस्या लौकिक तथा ईश्वरीय शक्ति के परस्पर सबध की थी। उसके अनुसार भी लौकिक शासक एव राजनीतिज्ञ का आध्यात्मिक शासक के अधीन रहना आवश्यक है। सेट टामस की भाति दान्ते भी मानता है कि मनुष्य के जीवन के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक दो स्तर है और उनमे से आध्यात्मिक स्तर पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। वह भी इस बात को मानता है कि मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता परलोक मे ही उपलब्ध है, किन्तु इसके साथ-साथ वह इस बात को मानता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका चरम लक्ष्य अपनी सभी निहित शक्तियो को, विशेषकर बौद्धिक शक्ति को, अनुभूत करना हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने साथियो से सहकारिता करना आवश्यक है। दान्ते का कहना था कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यो की सहायता के विना अपनी आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता। दान्ते ने यह अनुभूत किया कि व्यक्ति तथा समाज का विकास तभी हो सकता है, जब उसका वातावरण शान्त और सुरक्षित हो। अत. दान्ते ने सवसे प्रथम विश्व-राज्य की धारणा प्रस्तुत की है। उसने कहा है कि दार्शनिक के चिन्तनात्मक विकास के लिए, कलाकार की रचनात्मक कृति के लिए तथा वैज्ञानिक की खोज के लिए जीवन मे शाति तथा सुरक्षा का होना नितान्त आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, दान्ते ने शान्ति को सभी शुभो का आधार माना है। उसने कहा है कि यह शान्ति तभी स्थापित हो सकती है, जब मानव-मात्र के लिए एक ही विश्व-राज्य स्थापित हो जाए। उसने जिस विश्व-राज्य की कल्पना की, वह पवित्र रोमन साम्राज्य था। उसकी यह धारणा थी कि विश्व का एक ही शासक राष्ट्रीय शासक की अपेक्षा राज्य के दुरुपयोग की लालसा से मुक्त हो सकता है, क्योकि ऐसे शासक को किसी अन्य शत्रु का भय नही होगा और न ही उसकी किसी अन्य व्यक्ति से ईर्ष्या होगी। किन्तु दान्ते इस शासक को धार्मिक शासक ही मानता है। इससे यह स्पष्ट है कि दान्ते की विचारधारा पूर्णतया ईसाई धर्म से प्रभावित थी।

मेकीएवली (१४६९ से १५२७)

इससे पूर्व कि हम आधुनिक युग के नैतिक इतिहास पर प्रकाश डाले, मध्यकाल तथा आधुनिककाल के वीच के समय मे उत्पन्न होनेवाले विख्यात राजनीतिक दार्शनिक

मेकीएवली के विचारो का सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

मेकीएवली ने नैतिकता के प्रति उल्लेख तो किया है, किन्तु उसने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि नैतिकता स्वलक्ष्य नही, अपितु मनुष्य की राजनीतिक सफलता का साधन-मात्र है। मेकीएवली भारतीय राजनीतिज्ञ चाणक्य की भाति कूटनीति का समर्थक है। उसकी विचारधारा राजनीतिक शक्ति एव सत्ता प्राप्त करने के लक्ष्य को चरम लक्ष्य मानती है। सत्ता को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के लिए नैतिकता गौण है और अवसरवादिता ही उसके व्यवहार का आधार है। मेकीएवली इस दृष्टि से नैतिकता एव धर्म दोनों को विद्वान शासक की सफलता के साधन मानता है। उसके अनुसार, नैतिकता तथा धर्म के आधार बाह्यात्मक नियम नही है और न ही वे ऐसे तत्त्व है, जो मनुष्य से स्वतन्त्र विश्व मे अस्तित्व रखते हो, अत वे मनुष्य के व्यवहार का निरपेक्ष मार्गदर्शन नही कर सकते। किन्तु नैतिकता के नियम शासक के लिए इसलिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं कि उनके द्वारा प्रजा मे आज्ञा का पालन करने तथा शासक का सत्कार करने की भावना को प्रेरित किया जा सकता है। मेकीएवली धर्म तथा नैतिकता दोनो को शक्ति के अधीन करता है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल मे जीवन के अन्य सभी क्षेत्रो की भाति दार्शनिक-क्षेत्र मे भी ईसाई धर्म मे प्रतिपादित मान्यताओ का अधिक प्रभाव रहा, विशेषकर व्यावहारिक दर्शन एव नैतिकता पर ईसाई धर्म ने जो प्रभाव डाला, वह अधिक स्थायी था। हम आगे चलकर देखेंगे कि आधुनिक युग के विचारको ने भी आरम्भ मे ईसाई धर्म को तर्क-सगत प्रमाणित करने की चेष्टा की है। इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक दर्शन ने अन्धविश्वास को बहिष्कृत करके बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विधियो को अपनाया है और विश्वास की अपेक्षा तर्क को श्रेष्ठ माना है। किन्तु ऐसा करते हुए भी न ही केवल आधुनिक दार्शनिको ने, अपितु वर्तमान समय के (Contemporary) दार्शनिको ने भी ईसाई धर्म की मान्यताओ को तर्क द्वारा पुष्ट करने की चेष्टा की है। उसका परिणाम यह हुआ है कि पश्चिमीय दार्शनिक-जगत् मे, न ही केवल विज्ञान को धर्म से पृथक् माना गया है, अपितु तत्त्व-दर्शन को भी धर्म से बहिष्कृत किया गया है। किन्तु जहा तक नैतिकता का प्रश्न है, आज भी पश्चिमीय आचार-विज्ञान ईसाई धर्म की नैतिक मान्यताओ से प्रेरणा प्राप्त करता है।

आधुनिक युग में नैतिक विचारधारा

आधुनिक युग मे नैतिक विचारधारा का विकास मध्ययुग की नैतिक विचारधारा की अपेक्षा अधिक जटिल अवश्य रहा है, किन्तु जब हम इस विकास के विभिन्न विचारको के सिद्धान्तो का अध्ययन करते हैं, तो हमे तीन मुख्य दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) अन्तर्दृष्टिवादी सिद्धान्त (Intuitionist school)

(२) तर्कात्मक सिद्धान्त (Rational school)

(३) उपयोगितावादी सिद्धान्त (Utilitarian school)

इन तीन मुख्य विचारधाराओ मे परस्पर मतभेद होने के कारण अन्य वर्तमान सिद्धान्तो का भी उद्भव हुआ। वर्तमान समय मे विकासवादी सिद्धान्त तथा जर्मन दार्शनिको के महान प्रत्ययवादी सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। किन्तु हम इस नैतिक विचारधारा के विकास का केवल सक्षिप्त अध्ययन कर सकते है। इनका विस्तृत अध्ययन तो यथास्थान नैतिक सिद्धान्तो की व्याख्या करते समय किया जाएगा।

आधुनिक युग मे जो नैतिक विचारधारा सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से दार्शनिक क्षेत्र मे दृष्टिगोचर होती है, वह उस भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके दो मुख्य समर्थक गसडी तथा हाब्ज (१५८८–१६७९) माने जा सकते हैं। गसडी का दृष्टिकोण निस्सन्देह एपीक्योरियनवादी दृष्टिकोण था। किन्तु हाब्ज का नैतिक सिद्धान्त मौलिक होने के कारण उल्लेखनीय है। उसे हम आत्मवादी दार्शनिक (Subjectivistic philosopher) कह सकते है। हाब्ज अपने सिद्धान्त को निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कथन पर आधारित करता है, "सब मनुष्य स्वभाव से अहवादी हैं।"[1] हाब्ज़ इस बात को स्वयसिद्ध मानता था कि अहभाव मनुष्य का स्वभाव है, किन्तु हाब्ज़ का यह अहवादी दृष्टिकोण एक विशेष ज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित था। इस सिद्धान्त को वह अन्तरवाद एव व्यक्तिवाद (Solipsism) कहता है, जिसके अनुसार हम केवल उन्ही विषयो का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जो हमारे व्यक्तिगत मन की क्रियाए होती है। यदि मैं केवल अपनी मानसिक प्रक्रियाओ को जान सकता हू, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरे मन से बाहर की किसी भी वस्तु से मेरा सम्बन्ध नही है। यदि ऐसा सत्य हो, तो प्रश्न यह होता है कि परमार्थ (Altruism) एव समाज-सेवा मे हमारा विश्वास कैसे उत्पन्न होता है। हाब्ज़ इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि मनुष्य अपने स्वभाव से तो स्वार्थी एव अहवादी है, किन्तु वह समाज मे रहकर आत्मसिद्धि की अनेक सुविधाए प्राप्त करता है। अत समाज-सेवा से भी व्यक्ति को निजी लाभ होता है। नैतिक गुण अथवा धर्म के विषय मे हाब्ज का कहना है कि शुभ वही वस्तु है, जो हमारी भूख को तृप्त करती है, हमारी इच्छा को पूरा करती है। उसका कहना है कि जो कुछ भी किसी मनुष्य की भूख अथवा इच्छा का विषय है, वह (व्यक्ति) उसीको ही शुभ कहता है और जो कुछ उसकी घृणा एव अनिच्छा का विषय है, वह उसे अशुभ एव अवाछनीय कहता है। अत हम कह सकते हैं कि हाब्ज का नैतिक दृष्टिकोण व्यक्तिगत सुखवादी दृष्टिकोण है।

हाब्ज का यह सकुचित दृष्टिकोण केम्ब्रिज के अतर्दृष्टिवादी विचारकों द्वारा अस्वीकार किया गया। इन विचारको मे से मुख्य शेफ्ट्सबरी (१६७१–१७१३), विशप बटलर (१६९२–१७५२) तथा हैचीसन (१६९४–१७४७) थे। इन विचारको मे से शेफ्ट्सबरी तथा हैचीसन ने जिस प्रकार के अतर्दृष्टिवाद को प्रतिपादित किया, उसे नैतिक भावका

१. "All men are egoists."

सिद्धात (Moral sense school) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ मे स्वत. ही अपने अन्तस् से ठीक उसी प्रकार विवेक करते है, जिस प्रकार कि सुन्दर-असुन्दर मे भेद करते हैं। इस सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन हम आगे चलकर करेगे। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता, अर्जित न होकर एक अन्तर्निहित जन्मजात प्रवृत्ति है, जो मनुष्य मे स्वाभाविक होती है। बटलर ने जो अन्तर्दृष्टिवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया, वह अन्त.करणवाद कहा जा सकता है। उसके अनुसार, अन्त करण मनुष्य मे स्थित ऐसा अन्तर्निहित नियम है, जो मनुष्य का उच्चतम स्वभाव है और जिसके कारण मनुष्य सत्-असत् और शुभ-अशुभ मे विवेक करता है। यही अन्त करण मनुष्य को परमार्थी बनने के लिए प्रेरित करता है। अन्त करण का नियम बटलर के अनुसार एक परम नियम है और ऐसी अन्तर्निहित सत्ता है, जो निरपेक्ष है। यही परम नियम मनुष्य को स्वार्थी बनने से रोकता है और उसे पाशवी प्रवृत्तियो के आवेश मे आने से सुरक्षित रखता है। दूसरे शब्दो मे, अन्त करण ही मनुष्य मे परमार्थ की भावना जागरित करता है। बटलर के इस सिद्धान्त का अध्ययन भी यथास्थान विस्तारपूर्वक किया जाएगा। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि बटलर का अन्तर्दृष्टिवाद एक प्रकार का नवीन प्लेटोवाद है। नैतिक भाव का सिद्धात तथा बटलर का अन्त करणवाद—दोनो अन्तर्दृष्टिवाद हैं। ये सत्-असत् के विवेक को जन्मजात एव अन्तर्निहित मानते है। इसी विचारधारा से एक अन्य अन्तर्दृष्टिवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जिसको कि तर्कात्मक सिद्धान्त (Rational school) कहा जाता है।

तर्कात्मकवाद का आरम्भ तो जॉन लॉक से माना जा सकता है, किन्तु क्लार्क (१६७५–१७२६) तथा वलास्टन (१६५६–१७२४) भी इसी दृष्टिकोण के मुख्य समर्थक हुए हैं। क्लार्क ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार प्रकृति के नियम अनिवार्य हैं, उसी प्रकार नैतिक औचित्य भी अनिवार्य है। दूसरे शब्दो मे, वह गणितशास्त्र तथा भौतिक-विज्ञान के आधार पर नैतिक भाव के सिद्धान्त को प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। उसकी यह धारणा है कि नैतिक विवेक का नियम ईश्वर ने मनुष्य मे उत्पन्न किया है। यही तर्कात्मक विचारधारा काट के तर्कात्मक नैतिक सिद्धान्त मे चरम सीमा पर पहुची। काट का निरपेक्ष आदेशवाद (Categorical imperative) नैतिकता को उस अन्तर्निहित तर्कात्मक अनिवार्य नियम पर आधारित करता है, जो प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को शुभ सकल्प पर चलने के लिए प्रेरित करता है। काट का यह दृष्टिकोण एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है, जो नैतिक मूल्यो को बाह्यात्मक एव विश्वव्यापी सत्ता प्रदान करता है। हम काट के नैतिक सिद्धान्त का अध्ययन भी यथास्थान विस्तार-पूर्वक करेंगे। यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि काट तथा उसके अनुयायियो का दृष्टि-कोण प्लेटो तथा अरस्तू के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। काट के नैतिक विचारो ने प्रत्ययवादी सिद्धान्त (Idealism) पर विशेष प्रभाव डाला। इसके फलस्वरूप इगलैण्ड के

विख्यात नैतिक विचारकों तथा दार्शनिको ग्रीन, ब्रैडले तथा वोसाके ने अपनी-अपनी नैतिक विचारधाराए प्रस्तुत की। इसके साथ ही साथ प्रत्ययवाद की आलोचना के फलस्वरूप कुछ अग्रेज़ विचारको ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया कि शुभ वही है, जो समाज के लिए कल्याणकारी है अथवा जो मानव-मात्र के सुख को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की आलोचना ने सार्वजनिक सुखवाद एव उपयोगितावाद (Utilitarianism) को जन्म दिया। उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर हम नैतिक आदर्शों (Moral standards) का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं।

पाचवा अध्याय

सुखवादी नैतिक सिद्धांत

(Hedonistic Theory of Morality)

यदि हम नैतिकता के आरम्भ की समस्या को लेकर यह जानने की चेष्टा करे कि मनुष्य मे अत्-असत् और शुभ-अशुभ का विवेक कब से उत्पन्न हुआ, तो हमे यह कहना पड़ेगा कि नैतिक धारणा तथा मनुष्य मे तर्क करने की शक्ति एकसाथ ही उत्पन्न हुई हैं। दूसरे शब्दो मे, नैतिकता का इतिहास मनुष्य के सभ्य होने का इतिहास है। जिस दिन से मनुष्य मे आत्मचेतना एव विचारशीलता उत्पन्न हुई है, उसी दिन से वह अपने व्यवहार का मूल्याकन करने लगा है और औचित्य के आधार पर एक कर्म को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ एव नैतिक समझने लगा है। विश्व की विभिन्न सस्कृतियो का इतिहास प्राचीनतम इतिहास है। मिस्र की सभ्यता तथा भारत की सभ्यता सहस्रो वर्ष पूर्व की सभ्यताए है। इनके अध्ययन से यह पता चलता है कि मनुष्य की नैतिक औचित्य की धारणाए बहुत प्राचीन है। इसी प्रकार यूनान मे भी कम से कम तीन हज़ार वर्ष पूर्व नैतिक तथा सास्कृतिक जीवन एक उच्च शिखर पर पहुचा हुआ था। नैतिक आदर्शों की रक्षा के लिए मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग देते थे और अपना जीवन तक बलिदान कर देते थे। भारतीय इतिहास मे रामायण तथा महाभारत की घटनाए इस बात की साक्षी है कि नैतिक आदर्श का पालन करने के लिए राजा अपना राज्य त्याग देते थे और प्रजा सदाचारी राजा के लिए अपना जीवन तक न्योछावर करने को तत्पर रहती थी। यूनान के इतिहास मे भी ऐसी घटनाए घटी हैं, जिनमे सुकरात जैसे दृढ चरित्रवाले व्यक्तियो ने नैतिक आदर्श को जीवन से अधिक प्रिय समझा है।

आचार-विज्ञान के व्यवस्थित होने से पहले एव नैतिक आदर्शों को व्यवस्थित एव सैद्धान्तिक रूप देने से पहले भी मानवीय व्यवहार का नैतिक मूल्याकन किया जाता था और सदाचार को उत्कृष्ट तथा दुराचार को निकृष्ट माना जाता था। किन्तु पश्चिम मे यूनानी दार्शनिको के समय से और पूर्व मे उपनिषदो के समय से, नैतिकता पर गम्भीर चिन्तन आरम्भ हुआ और दार्शनिक व्यवहार की नैतिकता के सम्बन्ध मे व्यवस्थित सिद्धात प्रतिपादित करने लगे। इसमे कोई सन्देह नही कि इन सिद्धान्तो का आरम्भ जनसाधारण के अनुभव पर आधारित था और उसका मूल्याकन सामान्य व्यक्ति के लिए बुद्धिगम्य

था। नैतिकता के मूल्याकन मे जो प्रश्न सामान्य व्यक्ति के मन मे सबसे पहले उत्पन्न होता है, वह यह है कि हम एक कर्म को शुभ और वाछनीय क्यो मानते हैं और दूसरे को अशुभ और अवाछनीय क्यो मानते है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक युग के विचारको ने दिया है। उनमे से जिन्होने बहुमत के अनुभव का अनुसरण करते हुए यह स्वीकार किया है कि वाछनीय एव शुभ कर्म वही होता है जो सुखद हो और अवाछनीय एवं अशुभ कर्म वह होता है जो दुखद हो, ऐमे नैतिक चिन्तको को सुखवादी (Hedonists) कहा गया है और ऐसी धारणा को सुखवाद का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों मे, सुखवाद वह सिद्धान्त है, जो मानवीय व्यवहार का मूल्याकन, सुख-दु.ख पर आधारित करता है और सुख को ही शुभ तथा दु ख को अशुभ घोपित करता है। यूनान मे इस विचारधारा को व्यवस्थित रूप से सबसे पहले एपीक्योरस ने रखा। अत उसने प्रत्येक मनुष्य को 'खाओ, पियो और मौज उडाओ' का उपदेश दिया। भारतीय दर्शन के इतिहास मे भी यह विचार-धारा प्राचीन है। कुछ सूत्रो के अनुसार, सुखवादी नैतिक सिद्धान्त उपनिपदो के समकक्ष माना गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि चार्वाक-दर्शन, जो सम्भवतया अन्य सभी दर्शनो से प्राचीन है, एक सुखवादी नैतिक आदर्श है। कहा जाता है कि इस दर्शन के प्रवर्तक बृह-स्पति थे। भारतीय सुखवाद का आरम्भ जैसे भी हुआ हो, यह बात सत्य है कि चार्वाक एव भारतीय सुखवाद के अनुसार, यह स्वीकार किया गया है कि सगत जीवन वही है, जो सुखमय है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह कहा गया है

"यावज्जीवेत् सुख जीवेदृण कृत्वा घृतं पिवेत् ।"

अर्थात् "मनुष्य जब तक जिए सुख से जिए ऋण लेकर भी पौष्टिक भोजन का सेवन करे।"

इस प्रकार के सुखवादी विचार प्राचीनतम विचार है। आधुनिक समय मे विशेष-कर मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रगति होनेके कारण और दर्शनमे तर्कात्मक तथा आलोचना-त्मक विधियो के प्रयोग के कारण, सुखवाद को एक व्यवस्थित सिद्धान्त बना दिया गया है। सुखवाद के दो मुख्य सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedo-nism) तथा नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) हैं। नैतिक सुखवाद को दो अन्य शाखाओ मे विभक्त किया गया है, जिन्हे व्यक्तिगत सुखवाद (Egoistic Hedonism) तथा सामूहिक सुखवाद एव उपयोगितावाद (Altruistic Hedonism or Utilita-rianism) कहा जाता है। सुखवाद के दो अन्य भेद तात्कालिक सुखवाद तथा दूरवर्ती सुखवाद हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार, मानवीय व्यवहार स्वभावतया सुख-दु ख पर आधारित है। हम उसी कर्म की स्वाभाविक रूप से इच्छा करते हैं, जो सुखद होता है और उस कर्म की इच्छा नही करते, जो दु खदायी होता है। नैतिक सुखवाद के अनुसार, यह प्रतिपादित किया जाता है कि हमे सुख को ही अपने कर्म का लक्ष्य बनाना चाहिए। व्यक्तिगत सुखवाद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का निजी सुख ही चरम लक्ष्य है, किन्तु सामूहिक सुखवाद यह प्रतिपादित करता है कि अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक सुख ही नैतिक लक्ष्य है। तात्कालिक सुखवाद की यह धारणा है कि भविष्य के

सुख की अपेक्षा वर्तमान सुख अधिक वाछनीय एव श्रेष्ठ है। दूरवर्ती सुखवाद, वर्तमान सुख की अपेक्षा भविष्य के सुख को अधिक वाछनीय मानता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इसकी धारणा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करती है कि शुभ का सामान्य लक्षण सुख है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि हम आगे चलकर देखेगे, कुछ नैतिक सुखवादी धारणाए मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। यही कारण है कि नैतिक सुखवाद को समझने तथा उसका मूल्याकन करने के लिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद का उल्लेख करना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की मान्यता है कि हमारे कर्म का एकमात्र प्रेरक सुख है और हम उसी कर्म को करने की इच्छा करते है, जो हमे सुखद प्रतीत होता है। इसके विपरीत जो कर्म दु ख-दायी होता है, हम कदापि उसकी इच्छा नही करते। इस दृष्टिकोण को दो विख्यात विचारको, बैन्थम तथा मिल ने प्रतिपादित किया है। बैन्थम ने अपनी पुस्तक 'विधान के नियम' (Principles of Legislation) मे मनोवैज्ञानिक सुखवाद को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दु ख के साम्राज्य के आधिपत्य मे रखा है। हमारे सभी विचार इन्ही (सुख तथा दु ख) के कारण है। हम अपने सभी निर्णय तथा जीवन-सम्बन्धी सभी संकल्प इन्हीपर आधारित करते है। जो व्यक्ति इनके साम्राज्य से मुक्त होने का बहाना करता है, वह अज्ञानी है। जब वह बडे से बडे सुखो का बहिष्कार करता है अथवा विषद दु खो को स्वीकार करता है, उस समय भी उसका एकमात्र उद्देश्य सुख का अनुसरण करना तथा दु ख से सकोच करना है। नैतिक तथा विधान के निर्माता को इन शाश्वत तथा अनिवार्य स्थायी भावो का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए।" बैन्थम के अनुसार, जो व्यक्ति सुखो का त्याग करने का हठ करता है और इस प्रकार दु ख को अपनाता है, वह भी मानो सुखवाद के नियम का अनुसरण कर रहा है। किन्तु बैन्थम की यह धारणा, जोकि सुख को ही एकमात्र कर्म का प्रेरक मानती है, एक भ्रान्त धारणा है और इसमे विरोधाभास है। इस विरोधाभास की व्याख्या हम आगे चलकर करेगे। यहां पर केवल इतना कह देना आवश्यक है कि हम सम्भवतया जिस वस्तु को लक्ष्य बनाते है, उसको सुखद समझ लेते है। दूसरे शब्दो मे, हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के विचार मे सुख का अनुभव करते है, किन्तु इसका भी अभिप्राय यह नही कि सुख हमारा उद्देश्य होता है। मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने से पूर्व, इसी प्रकार के एक अन्य भ्रान्त दृष्टिकोण का उल्लेख करना आवश्यक है। ए० ई० टेलर ने भी सुखवाद की पुष्टि इसी प्रकार के विचार पर आधारित की है।

महाशय टेलर ने आचार-विज्ञान पर जो पुस्तक लिखी है, उसका शीर्षक 'व्यवहार की समस्या' (Problem of Conduct) है। इस पुस्तक मे उसने सुखवाद का निरूपण करते हुए लिखा है, "जैसाकि हमने पहले कहा है, आधारभूत नैतिक तथ्य यह है कि किसी वस्तु को उचित अथवा अनुचित स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, हमारी सवेदना प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा विचार जैसी विशेष घटनाओ की विचारात्मक

अभिव्यक्ति तभी होती है, जब उनमे सुख अथवा दु ख का भाव उपस्थित होता है।"[1] साधारण भाषा मे हम प्राय. 'मैं यह चाहता हू, मैं इसे पसन्द करता हू' जैसे कथनो को 'मैं इसे शुभ समझता हू' कथन के समकक्ष घोषित करते है। वास्तव मे पसन्द करना और शुभ, दो विभिन्न तथ्य है, इसी कारण हम इस भ्रान्ति मे पड़ जाते हैं कि नैतिक निर्णयो का एकमात्र वर्ग, सुखद वस्तुए ही हैं। वास्तव मे हम यह जानते हैं कि हम सदैव उन सभी वस्तुओ को वाछनीय घोषित नही करते, जो हमे सुखद प्रतीत होती है। इसके विपरीत हम कई बार दु खदायी वस्तुओ को भी वाछनीय इसलिए मानते है कि उनका परिणाम शुभ होता है। हम इस दृष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना मे अधिक स्पष्ट करेंगे।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किए बिना अपूर्ण रहेगी। जे० एस० मिल को उपयोगितावाद का प्रवर्तक माना गया है। उपयोगितावाद निस्सन्देह नैतिक सुखवाद है और इसकी व्याख्या इसी अध्याय मे आगे चलकर की जाएगी, किन्तु मिल नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है। उसने अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' मे इस दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दो मे प्रस्तुत किया है, "और अब यह निश्चित करने के लिए कि क्या वास्तव मे ऐसा होता है, क्या मनुष्य सुख के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की इच्छा नही करते, अथवा उस वस्तु के अतिरिक्त कुछ भी इच्छा नही करते, जिसकी अनुपस्थिति मे दु.ख होता है; हम ऐसे प्रश्न पर पहुच गए है जोकि तथ्यात्मक और अनुभवात्मक प्रश्न है और जोकि अन्य सभी ऐसे प्रश्नो की भाति साक्षी पर निर्भर है। इसका निर्णय अन्य व्यक्तियो के निरीक्षण की सहायता से अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण द्वारा किया जा सकता है। मेरा यह विश्वास है कि यदि साक्षी के इन स्रोतो का तटस्थ रूप से अध्ययन किया जाए, तो वे घोषणा करेंगे कि किसी वस्तु के प्रति इच्छा करना और उसे सुखद अनुभव करना, उसकी अनिच्छा करना तथा उसे दु खद मानना ऐसे तथ्य हैं जो सर्वथा अभिन्न हैं अथवा एक ही तथ्य के दो अग है, स्पष्ट भाषा मे वे एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के नामकरण के दो रूप हैं; और किसी वस्तु की उसके विचार मे निहित सुख के अनुपात से अतिरिक्त इच्छा करना भौतिक तथा तत्त्वात्मक दृष्टि से असम्भव है।"[2]

मिल का मनोवैज्ञानिक सुखवाद निस्सन्देह एक भ्रान्त सिद्धान्त है। इससे पूर्व कि

---

१. "The primary Ethical fact is, we have said, that something is approved or disapproved, that is, in other words, the ideal representation of certain events in the way of sensation, perception, or idea, is attended with a feeling of pleasure or of pain."

—Problem of Conduct by A E Taylor, Page 120.

२. "And now to decide whether this is really so; whether mankind do desire nothing, but that which is a pleasure to them, or of which

हम इस सिद्धान्त की त्रुटियों पर प्रकाश डाले, उपर्युक्त कथन मे जो विरोधाभास है, उसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मिल एक ओर तो यह मानकर चलता है कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद समझना एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के दो नाम हैं, दूसरी ओर वह यह कहता है कि इच्छा तथा सुख के एकत्व का प्रश्न ऐसा है जिसको कि अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा निश्चित किया जा सकता है। यदि पहला कथन सत्य है, यदि इच्छा और सुख का तादात्म्य है, तो अनुभव कदापि हमे उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नही दे सकता। उस अवस्था मे तो यह तथ्य स्वयंसिद्ध ही होना चाहिए। मिल इस बात को भूल जाता है कि इच्छा मे स्वय सुख की भावना निहित होती है, किन्तु वह भावना केवल हमारे निर्वाचन के कारण होती है, न कि उस भावना के कारण हम विशेष इच्छा का निर्वाचन करते है। दूसरे शब्दो मे, हमारी इच्छा की निर्णायिक सुख की भावना-मात्र नही होती, अपितु हमारा सविकल्पक निर्णय स्वत. ही सुख की भावना का अनुभव कराता है। मिल के विरुद्ध हेनरी सिजविक ने भी विरोधाभास का आरोप लगाया है। इसमे कोई सन्देह नही कि हमारे सविकल्पक कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि हमारी इच्छा सुख पर आधारित नही होती, अपितु वस्तु के उन लक्षणो पर आधारित होती है, जिनको कि हम सुख की अपेक्षा किन्ही अन्य कारणो से शुभ के लक्षण मानते है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की हम निम्नलिखित आलोचना कर सकते है :

सर्वप्रथम यह बताना आवश्यक है कि मिल का उपर्युक्त कथन, जोकि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आधारशिला माना जाता है, सर्वथा भ्रान्त और परस्पर-विरोधी विचारो की अभिव्यक्ति है। एक ओर तो मिल 'इच्छा करने' तथा 'सुखद मानने' की प्रक्रियाओ को एक प्रक्रिया स्वीकार करके चलता है और कहता है कि ये दोनो वास्तव मे 'एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाने की दो विभिन्न विधिया है' और दूसरी ओर वह कहता है कि हम इच्छा तथा सुख के तादात्म्य अथवा उनके पार्थक्य की समस्या को

---

the absence is a pain ; we have evidently arrived at a question of fact and experience, dependent, like all similar questions, upon evidence It can only be determined by practised self-consciousness and self-observation, assisted by observation of others. I believe that these sources of evidence, impartially consulted will declare that desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena entirely inseparable, or rather two parts of the same phenomenon ; in strictness of languages, to different modes of naming the same psychological fact ; ....and that to desire anything, except in proportion as the idea of it is pleasant is a physical and metaphysical impossibility."

—Utilitarianism by J. S. Mill, Chapter IV.

'अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा' सुलझा सकते है। मिल इस बात की अवहेलना करता है कि यदि इच्छा और सुख एक ही तथ्य के दो विभिन्न नाम है, तो यह बात स्वयंसिद्ध होनी चाहिए और इसके लिए न तो 'अनुभवी आत्मचेतना' की आवश्यकता है और न हमारा अनुभव कदापि यह प्रमाणित कर सकता है कि ये दोनो पृथक् तत्त्व हैं। वास्तव मे सुख और सकल्प अथवा इच्छा के तत्त्व को हम एक प्रमाणित नही कर सकते। सुख का अर्थ निस्सन्देह वह तृप्ति है, जो हमारी आवश्यकताओ के पूरा होने के पश्चात् अनुभूत होती है, जबकि इच्छा हमारे सकल्प अथवा निर्वाचन की क्रिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, हम यह प्रमाणित कर सकते हैं कि हमारी इच्छा सुख द्वारा निर्दिष्ट नही होती।

सुखवादियो ने इस तथ्य की भी अवहेलना की है कि सुख अथवा सुखद तृप्ति अपने-आपमे कुछ अस्तित्व नही रखती और अनेक ऐसे सुखद अनुभव हैं, जो विशेष विषयो की इच्छा के बिना निरर्थक और अस्तित्वहीन है। दूसरे शब्दो मे, बहुत-से ऐसे सुखद अनुभव है, जिनको सुख की इच्छा केवल तभी कहा जा सकता है, जबकि उनकी पहले अपेक्षा अथवा आवश्यकता अनुभूत की जाए। उदाहरणस्वरूप, दाक्षिण्य अथवा उदारता के सुख को लीजिए। कोई भी व्यक्ति जिसने कभी दूसरे लोगो की भलाई की इच्छा न की हो, दान अथवा दक्षिणा मे निहित सुख का अनुभव नही कर सकता और न ही उसकी इच्छा कर सकता है। तथ्य तो यह है कि सुख कुछ विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति के पश्चात् उत्पन्न होता है और आवश्यकताए तृप्ति से पूर्व-घटित होती हैं। अत हम किसी वस्तु मे निहित सुख के अनुभव की इच्छा करने से पूर्व, उस वस्तु की तटस्थ भावना से इच्छा करते है। यह बात ऐन्द्रिय सुख देनेवाली घटनाओ के विषय मे भी सत्य प्रमाणित होती है। महाशय रेशडाल ने इस दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए विशेष प्रकार की मदिरा पीने की इच्छा का उदाहरण दिया है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने कभी शेम्पेन नाम की मदिरा को नही पिया है और न ही वह मदिरा पीने को नैतिक समझता है। यदि उस व्यक्ति को उसके जाने बिना लेमन सोडे मे थोडी-सी शेम्पेन मदिरा मिश्रित करके पिला दी जाए, तो वह उसका रसास्वादन करने के पश्चात् दूसरी बार लेमन का सोडा मागते समय इच्छा प्रकट करेगा कि उसे पहलेवाला सोडा कटु स्वादवाला लेमन सोडा पीने को दिया जाए। इस उदाहरण का उद्देश्य यह है कि सुखद वस्तु अपने-आपमे मूल्य नही रखती, अपितु अनुभव के पश्चात् व्यक्ति वस्तु-विशेष को सुखद मानने लगता है और उसकी इच्छा करने लगता है। अनेक ऐसी वस्तुए होती है जो सामान्य व्यक्ति के लिए दु खद होती हैं, किन्तु जब उनको सेवन करने की आदत पड जाती है, तो वे ही दु खद वस्तुए सुखद प्रतीत होने लगती है। उदाहरणस्वरूप, कॉफी पीने की आदत को लीजिए। जो व्यक्ति प्रथम बार कॉफी पीता है, उसे वह बहुत कटु लगती है और वह उस कटुता में दु ख का अनुभव करता है, किन्तु जब अनेक बार कॉफी का सेवन करने के पश्चात् धीरे-धीरे उस व्यक्ति की कॉफी पीने की आदत पड जाती है, तो उसके लिए

कॉफी की इच्छा सुख की इच्छा हो जाती है। इन उदाहरणो से यह प्रमाणित होता है कि सुख अथवा किसी प्रकार की तृप्ति की इच्छा करने से पूर्व, वस्तु-विशेष की तटस्थ रूप से इच्छा करना आवश्यक होता है। अत हम इच्छा का मूल्याकन सदैव सुख की भावना के आधार पर नही करते।

इसके अतिरिक्त जैसाकि सिजविक ने भी कहा है, तथ्य तो यह है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते है वह हमारा लक्षित विषय होता है, न कि उससे सम्बन्धित तुष्टि अथवा तृप्ति। यही कारण है कि सुख की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि यदि वह वास्तव मे सुख का अनुभव करना चाहता है, तो वह प्रयत्नशील होते समय उस सुख को पूर्णतया विस्मृत कर दे। दूसरे शब्दो मे, जब हम सुख की इच्छा करते भी है, तो ऐसा करने का सवसे उत्तम उपाय यही है कि सुख को प्राप्त करने के लिए हमे उसे विस्मृत कर देना चाहिए। यदि हम सुख की प्राप्ति से पूर्व प्रयत्न करने की अपेक्षा सुख का ही चिन्तन करते रहे, तो इसमे कोई सन्देह नही कि हम सुख से वचित रह जाएगे। इसके विपरीत, यदि हम सुख की अपेक्षा लक्षित विषय को प्राप्त करने मे प्रयत्नशील रहे, तो हमे स्वत ही सुख प्राप्त हो जाता है। इसी दृष्टि से ही भगवद्गीता मे फल की इच्छा के विना, कर्म करने को सबसे उत्तम नैतिक आदर्श माना गया है। विशेष-कर उन सुखो के सम्बन्ध मे, जिनकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयास किया जाता है, निष्काम कर्म की आवश्यकता रहती है। उदाहरणस्वरूप, किसी ऐसे खेल को ले लीजिए, जिसमे विजय प्राप्त करने का सघर्ष रहता है। इस खेल मे भाग लेनेवाला कोई भी सामान्य खिलाड़ी खेल मे प्रविष्ट होने से पूर्व, विजय की इच्छा नही रखता। वास्तव मे सघर्ष मे प्रविष्ट होने से पूर्व वह ऐसा सकल्प करने मे कठिनाई अनुभव करता है कि वह विजय प्राप्त करने से किस प्रकार सुख का अनुभव करेगा। खेल के आरम्भ होने से पूर्व, वह जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह विजय से उत्पन्न सुख नही है, अपितु सघर्ष की सुखद उत्सुकता है। यदि कोई खिलाडी सघर्ष मे रुचि लेने की अपेक्षा, खेलते समय विजय प्राप्त करने के सुख की कल्पना करता रहे, तो यह निश्चित है कि वह न तो विजय प्राप्त कर सकेगा और न उससे उत्पन्न सुखद भावना की अनुभूति कर सकेगा।

पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए, निष्काम भावना नितान्त आवश्यक है। किसी भी सघर्ष मे कोई भी व्यक्ति उस समय तक सुख की प्राप्ति नही कर सकता, जब तक कि वह अपने-आपको सुख की इच्छा से विरक्त न कर ले। अत सुखवाद की विधि, एक विरो-धाभास उत्पन्न करती है, क्योकि उसके अनुसार सुख की प्रवृत्ति यदि आवश्यकता से अधिक प्रभावशाली हो, तो वह अपने लक्ष्य मे असफल रहती है। दूसरे शब्दो मे, सुखवाद को यह मानना पडता है कि सुख की प्राप्ति के लिए सुख को विस्मृत करना एव सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को लक्षित करना आवश्यक है। यदि हम उच्च प्रकार के सुख एव आनन्द के अनुभव का विश्लेपण करे, तो भी हमे यह मानना पडेगा कि वास्त-विक आनन्द निष्काम सघर्ष से ही प्राप्त होता है। एक विख्यात अग्रेजी साहित्यकार ने

लिखा है, "आनन्द की अनुभूति का मूल तत्त्व आत्मविस्मृति है।"[1] इससे यह प्रमाणित होता है कि हम सदैव अपनी इच्छाओ को सुख एव तुष्टि-मात्र पर आधारित नही करते।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भ्रान्त धारणा का एक कारण यह भी है कि सुख, जिसका पर्यायवाची अंग्रेज़ी भाषा मे 'प्लैजर' (Pleasure) है, वास्तव मे द्विर्थक शब्द है। एक दृष्टि से तो सुख को सुखद भावना एव तुष्टि की भावना समझा जाता है और दूसरी दृष्टि से, सुख का अर्थ वह विषय है, जोकि तुष्टि प्रदान करता है। दूसरी दृष्टि के अनुसार ही हम कहते है कि स्वस्थ शरीर एक सुख है, धन की प्राप्ति दूसरा सुख है, एक अच्छी गृहिणी तीसरा सुख है इत्यादि। उपर्युक्त तीनो विषय स्वय सुख की भावना तो नही है, किन्तु वे तुष्टि एव सुखद भावना प्रदान करनेवाले हैं। जहा हम सुख शब्द को इस दृष्टि से प्रयोग मे लाते है, तो विशेषकर अंग्रेज़ी भाषा मे सुख को बहुवचन मे लिया जाता है और 'प्लैजर्स' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ अनेक सुख (सुखद विषय) है। जब सुख के अंग्रेजी पर्यायवाची 'प्लैजर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वह एकवचन मे सुख कहा जाता है, जिसका अर्थ वह तृप्ति एव तुष्टि की भावना होती है जोकि सुखद विषय की प्राप्ति का परिणाम होती है। यदि हम सुख का अर्थ सुखद विषय ले, तो यह बात तर्क-सगत हो सकती है कि हम सदैव सुख की इच्छा करते है; किन्तु यह कहना कि हम सुखद विषय की इच्छा करते है, केवल यह प्रकट करता है कि हम उसकी इच्छा करते है जिसकी कि इच्छा करते हैं। यह वाक्य एक पुनरुक्ति है, किन्तु वास्तविकता की अभिव्यक्ति अवश्य है। हम जिस वस्तु की भी इच्छा करते हैं, वह चाहे स्वयं घृणित वस्तु भी क्यो न हो और अन्य व्यक्तियो के लिए दु खदायी भी क्यो न हो, हमारे लिए इसलिए सुख प्रमाणित होती है कि उसकी प्राप्ति हमे तुष्टि प्रदान करती है। इस दृष्टि से तो प्रत्येक इच्छा की पूर्ति सुखद होने के कारण प्रत्येक इच्छा का विषय सुख ही प्रमाणित होता है। जो व्यक्ति किसी राजनीतिक दल की पराजय चाहता है, वह उस दल की पराजय को सुख मानता है, यद्यपि ऐसी घटना अपने-आपमे और विशेषकर उन दल के सदस्यो के लिए सुख नही है, अपितु दुखदायी है। मनोवैज्ञानिक सुखवादी इच्छा का विश्लेषण करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि इच्छा का लक्ष्य सुखद भावना नही होता, अपितु एक विशेष प्रकार का सुख (Qua-pleasure) अर्थात् विशिष्ट सुख होता है।

इसी भ्रान्ति के कारण नैतिक सुखवादी भी इस परिणाम पर पहुचते है कि अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक सुख वाछनीय है। इस धारणा मे एक और भ्रान्ति निहित है, जिसके अनुसार यह समझा जाता है कि एक सुख की भावना सम्भवतया अधिक विशदता के कारण दूसरी सुख की भावना से अधिक वाछनीय हो सकती है। वास्तव मे ऐसी बात नही है, क्योकि सुख की भावना अपने-आपमे कुछ भी नही है। वह एक अमूर्त तत्त्व है। हम जब भी सुख का अनुभव करते हैं, वह अनुभव किसी न किसी सुखद

१. "Self-forgetfulness is the essence of enjoyment"

विषय से सम्बद्ध होता है, इसलिए इच्छा के लक्ष्य का मूल्याकन अमूर्त सुख की भावना के आधार पर नही होता, अपितु किसी अन्य गुण पर आधारित होता है, जोकि ऐच्छिक विषय मे होता है । यही कारण है कि हम एक सुखद विषय को, दूसरे सुखद विषय की अपेक्षा उसमे सुखद भावना की विशदता कम होते हुए भी, अधिक वाछनीय स्वीकार करते है। रेशडाल ने अपनी पुस्तक 'शुभ-अशुभ के सिद्धान्त' (Theory of good and evil) मे इस बात का उदाहरणसहित स्पष्टीकरण किया है। वह सुख की इच्छा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए, एक ऐसे शराबी का उदाहरण देता है, जो शराब के नशे मे अपनी पत्नी को पीटने मे सुख प्राप्त करता है। यह बात स्पष्ट है कि पत्नी को पीटनेवाला शराबी जब सामान्य चेतना की अवस्था मे होता है और अपने व्यवहार पर विचार करता है, तो वह इस बात को स्वीकार करता है कि पत्नी को पीटने की अपेक्षा शेम्पेन शराब का एक प्याला पीना अधिक सुखदायी है, किन्तु जिस समय शराब के नशे मे पत्नी को पीटते हुए शराबी को शेम्पेन शराब का एक प्याला प्रस्तुत करके कहा जाए कि वह अपनी पत्नी को पीटना छोड दे और शराब का प्याला पीकर अधिक सुख की प्राप्ति करे, तो वह उस समय अपनी पत्नी को पीटने की क्रिया को ही अधिक वाछनीय समझेगा। इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि हम कभी सुख की इच्छा नही करते, अपितु विशिष्ट सुख की इच्छा करते है। दूसरे शब्दो मे, हमारी इच्छा का लक्ष्य सुख की अमूर्त भावना न होकर विशिष्ट विषय होता है, जिसकी प्राप्ति हमे स्वत ही सुख प्रदान करती है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक निराधार और निरर्थक सिद्धान्त है। वह सुख के अनुभव के भ्रान्त विश्लेषण पर आधारित है। अत. यह सिद्धान्त असंगत होने के कारण आचार-विज्ञान मे कुछ महत्त्व नही रखता। इसके विपरीत, सुखद अनुभव का विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि सुख की भावना की अपेक्षा लक्षित विषय अधिक महत्त्व रखता है। कोई भी सामान्य व्यक्ति, अमूर्त सुख की भावना-मात्र को अपनी इच्छा का लक्ष्य नही बनाता और न ही ऐसी अमूर्त भावना की इच्छा करना मनोवैज्ञानिक और तर्कात्मक दृष्टि से सम्भव है। जब कोई व्यक्ति प्रसन्न होता है, अथवा कहता है कि वह सुख का अनुभव कर रहा है, तो वह निस्सन्देह यह स्वीकार करता है कि वह किसी ठोस घटना के कारण ही प्रसन्नता अथवा सुख का अनुभव कर रहा है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह नही कह सकता कि वह बिना किसी विषय के प्रसन्न है, अथवा सुख की अनुभूति कर रहा है। अमूर्त सुख की भावना, अपने-आपमे कुछ नही है, वह सदैव लक्षित विषय से सम्बद्ध रहती है। अत मिल का मनोवैज्ञानिक सुखवाद सर्वथा असगत है।

नैतिक सुखवाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद आधुनिक आचार-विज्ञान मे कोई स्थान नही रखता। उसका महत्त्व केवल इतना है कि जे० एस० मिल जैसा उपयोगितावादी अपने सुखवादी सिद्धात

को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है। किन्तु ऐसा करते हुए भी नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद से स्वतन्त्र भी माना जाता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अप्रमाणित करने का अभिप्राय यह नही कि इस सिद्धान्त के साथ ही साथ नैतिक सुखवाद भी असगत सिद्ध हो जाता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि हम वास्तव मे सुख की इच्छा नही करते, अर्थात् सुख की इच्छा करना मनोवैज्ञानिक तथ्य नही है, तव भी नैतिक सुखवादी यह कह सकता है कि सुख की इच्छा न करना मूर्खता है और नैतिक आदर्श के विरुद्ध है। यदि प्रकृति हमे स्वभाव से सुख की ओर प्रेरित नही भी करती, हमारा नैतिक आदर्श इसीमे है कि हम अधिक से अधिक सुख को ही नैतिक कर्म का एकमात्र आदर्श माने, और उसीके आधार पर कर्म का सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ के प्रकरण मे मूल्याकन करे। इसके विपरीत सिजविक का कहना है कि नैतिक सुखवाद का मनोवैज्ञानिक सुखवाद से मेल नही हो सकता। यदि हम सदैव अपना अभिक से अधिक सुख, स्वभाव से ही अपने जीवन का लक्ष्य वनाते है और सुख का अनुसरण करते है, तो इस कथन मे कोई तथ्य नही रह जाता कि हमे अधिक से अधिक सुख और विशेपकर अन्य व्यक्तियो के सुख को लक्ष्य वनाना चाहिए। यदि मनुष्य के स्वभाव मे ही निजी सुख को प्राप्त करने की प्रवृत्ति निहित है, तो अन्य व्यक्तियो के सुख को लक्ष्य वनाना प्रकृति का विरोध करना होगा। अत. मनोवैज्ञानिक सुखवाद का नैतिक सुखवाद से विशेष सवध नही है। जो लोग इन दोनो को सम्बन्धित समझते हैं वे इच्छा के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को नही जानते और इसलिए भ्रान्त धारणा प्रस्तुत करते है। मिल ने ऐसी भूल की है। हम आगे चलकर उसकी इस धारणा का आलोचनात्मक अध्ययन करेगे। यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की अनुपस्थिति मे भी नैतिक सुखवाद का सिद्धान्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकता है।

हमने आरम्भ मे सुखवाद के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख करते हुए यह वताया था कि नैतिक सुखवाद मे भी दो मुंख्य शाखाए है, जिन्हे व्यक्तिगत सुखवाद (Egoistic Hedonism) तथा सामूहिक सुखवाद (Altruistic Hedonism) अथवा उपयोगितावाद कहा गया है। आधुनिक काल मे व्यक्तिगत सुखवाद का विशेप महत्त्व नही है, परन्तु फिर भी आधुनिक सुखवादी विचारक बैन्थम तथा मिल ने व्यक्तिगत सुखवाद और उपयोगितावाद मे स्पष्ट भेद नही बताया है। किन्तु उन दोनो विचारको द्वारा प्रतिपादित सुखवाद निस्सन्देह सामूहिक सुखवाद ही है। इन्हे सामूहिक सुखवाद तथा उपयोगितावाद की व्याख्या करते समय, व्यक्तिगत सुखवाद की आलोचना अवश्य करनी पड़ती है, क्योकि व्यक्ति समाज का अभिन्न अग है और व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक सुख का परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध है। हमने यह पहले ही कहा है कि यूनान के प्राचीन सुखवादी सिद्धान्तो के अनुयायी सिरीनायकस (Cyrenaics) तथा एपीक्योरियन्स (Epicurians) थे। प्राचीन नैतिक सुखवादी, निस्सन्देह मनोवैज्ञानिक सुखवादी भी थे। क्योकि हमने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को असगत प्रमाणित कर दिया है, अत सिरीनायकस तथा

एपीक्योरियन्स का व्यक्तिगत नैतिक सुखवाद स्वत. ही असगत प्रमाणित हो जाता है। अब केवल सामूहिक नैतिक सुखवाद एव उपयोगितावाद की धारणा की व्याख्या हमारा मुख्य उद्देश्य रह जाती है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक सिजविक, बैन्थम तथा मिल है। अत हम इस अध्याय मे इन तीनो विचारको के सिद्धान्तो की व्याख्या करेगे।

इससे पूर्व कि हम उपयोगितावाद के मुख्य समर्थको के विचारो का विस्तार-पूर्वक अध्ययन करे, उपयोगितावाद की सक्षिप्त परिभापा देना नितान्त आवश्यक है। उपयोगितावाद को हम वह दृष्टिकोण मान सकते है जो यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी कर्म का नैतिक मूल्याकन उसके फल एव परिणामो के आधार पर किया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त का विशेष उपयोगितावादी लक्षण यह है कि वह उसी कर्म को नैतिक मानता है जोकि अन्ततोगत्वा सर्वोत्तम परिणाम मे फलित होता है। उपयोगितावाद के अनुसार सामूहिक सुख ही सर्वोत्तम परिणाम दे सकता है। अत अन्ततोगत्वा, उपयोगितावाद 'अधिक से अधिक सख्या के अधिक से अधिक सुख' को ही नैतिक आदर्श स्वीकार करता है।

सिजविक (१८३८ से १९००)

सिजविक का दृष्टिकोण उपयोगितावादी और सुखवादी है। उसे हम उपयोगितावादी इसलिए कह सकते है कि वह इस बात मे विश्वास रखता है कि किसी भी कर्म का मूल्याकन, उस कर्म की सुखद तथा सन्तुष्ट चेतना के उत्पन्न करने की क्षमता पर आधारित किया जा सकता है। उसका यह उपयोगितावाद सुखवादी इसलिए है, क्योकि वह सुख को ही एकमात्र ऐसी वस्तु समझता है, जो परम मूल्य रखती है, यद्यपि उसका यह विचार है कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम प्रत्येक व्यक्ति के सुख को समान रूप से चाहे और निजी सुख को अधिक श्रेष्ठ न समझें। सिजविक का सुखवाद एक विशेष प्रकार का सुखवाद है, क्योकि वह विश्वास करता है कि हमारे सभी नैतिक निर्णयो मे अन्तर्दृष्टि निहित रहती है। वह इस अन्तर्दृष्टि को बटलर की भाति अन्त करण मानता है, वह स्वीकार करता है कि अन्त करण का आदेश एक ऐसा आदेश है, जो पूर्णतया उपयोगी है। इस प्रकार वह अन्तर्दृष्टि और उपयोगितावाद का समन्वय करता है। उसकी दृष्टि मे अन्त करण का दृष्टिकोण तर्क का दृष्टिकोण है और हमे उसीके आदेश का पालन करना चाहिए। यह तर्क का दृष्टिकोण हमे न्याय (Justice) की धारणा देता है और यह धारणा हमे दो आदेश देती है। पहला आदेश यह है कि हमे अपने-आपसे न्याय करना चाहिए। इस आदेश की व्याख्या करते हुए सिजविक कहता है कि इसके अनुसार हमे अपने समस्त जीवन के सुख के प्रति पक्षपातरहित होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, सुखका निर्वाचन करते समय, दूरवर्ती सुख तथा निकटवर्ती सुख को समकक्ष समझना चाहिए। इस अन्त करण अथवा तर्क द्वारा दिए गए न्याय का दूसरा आदेश यह है कि अन्य व्यक्तियो के सुख को भी उतना ही महत्त्व देना चाहिए, जितना कि हम निजी सुख को देते है।

सिजविक, अन्त करण की इस प्रेरणा के आधार पर व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक

सुख के परस्पर-विरोध की समस्या को सुलझाने की चेष्टा करता है। वह इस बात को तो स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख की प्राप्ति को नैतिक आदर्श समझता है, किन्तु तटस्थ अवस्था मे, जब हम तर्क के द्वारा निजी सुख तथा सामूहिक सुख की तुलना करते है, तो हम यह स्वीकार करते है कि अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक सुख ही वाछनीय है। हमारा तर्क हमे अन्य व्यक्तियो के प्रति भी न्यायशील होने की प्रेरणा देता है।

सिजविक की, व्यक्तिगत सुखवाद को पराजित करके सामूहिक सुखवाद को ही एक-मात्र सगत सुखवादी सिद्धान्त प्रमाणित करने की चेष्टा प्रथम दृष्टि मे सफल प्रतीत होती है। किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। सिजविक स्वय व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक सुख के परस्पर-विरोध की समस्या को एक अत्यन्त जटिल समस्या समझता है। वह कहता है कि हम अपने निजी सुख को प्रथम शुभ मानते हैं और केवल दोबारा चिन्तन करने पर ही हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि अन्य व्यक्तियो का सुख भी निजी सुख के समकक्ष ही स्वीकार किया जाना चाहिए। हमारी यह गौण उपपत्ति प्राथमिक निजी सुख-सम्बन्धी सत्य को पराजित नही कर सकती। इस प्रकार हम निजी सुख को परम शुभ मानने पर बाध्य रहते हैं। सिजविक ने तर्क की इस प्रकार की अनिश्चितता एव उसके द्वैतवाद को स्वयं स्वीकार किया है। यह द्वन्द्व अथवा विरोधाभास हमारे सामने बना ही रहता है। एक ओर हमारे लिए अधिक से अधिक निजी सुख प्राप्त करना वाछनीय है और दूसरी ओर अधिक से अधिक प्राणियो का अधिक से अधिक सुख भी हमारे लिए वाछनीय है।

इस प्रकार अन्त करण एव तर्क द्वारा दिया गया आदेश, अन्ततोगत्वा हमारे मन मे सघर्ष को बनाए रखता है और यह प्रतीत होता है कि सम्भवतया निजी और सामूहिक उद्देश्य कदापि एक नही होगे। सिजविक ने इस विरोधाभास को स्वीकार किया है और उसे व्यावहारिक तर्क का द्वैत (The Dualism of Practical Reason) कहा है। अत सिजविक की तर्कात्मक अन्त करण की धारणा निजी सुख तथा सामूहिक सुख की समस्या का समाधान करने मे असफल रही है। यदि हम व्यावहारिक तर्क को निजी सुख पर भी लागू करे, तो हम देखेंगे कि वहा पर एक प्रकार का व्यावहारिक द्वैतवाद उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि हम 'वर्तमान अधिक से अधिक सुख' को वाछनीय समझे अथवा 'भविष्य के अधिक से अधिक सुख' को। मैकन्ज़ी का कहना है कि इस प्रकार के द्वन्द्व को न सुलझा सकने के कारण सामूहिक सुखवाद नाम के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नही रहता। अत आधुनिक आचार-विज्ञान मे, सामूहिक सुखवाद शब्द की अपेक्षा उपयोगितावाद शब्द का प्रयोग किया जाता है और इसका अर्थ 'अधिक से अधिक सख्या का अधिक से अधिक शुभ' माना जाता है।

हम इस उपयोगितावाद की आलोचना तो बैन्थम तथा मिल के सुखवादी सिद्धान्तो की व्याख्या करने के पश्चात् प्रस्तुत करेगे, किन्तु यहा पर पश्चिमीय दर्शन की एक त्रुटि की व्याख्या कर देना इसलिए आवश्यक है कि इसी त्रुटि के कारण ही स्थान-स्थान पर

द्वैतवाद उत्पन्न होता रहता है। व्यक्ति तथा समूह का द्वैत इसलिए उत्पन्न होता है कि पश्चिमीय दर्शन व्यक्तित्व को सदैव एक सकुचित दृष्टि से देखता है और उसे समाज से विभिन्न समझता है। भारतीय दर्शन, व्यक्ति और समाज मे तथा आत्मा और ब्रह्म मे द्वैत को, केवल अस्थायी द्वैत मानता है और इनके एकत्व को एव अद्वैत को वास्तविकता मानता है। उसका कारण यह है कि भारतीय तत्त्व-मीमासा के अनुसार, विश्व का अनेकत्व केवल भौतिक व्यक्त सत्ता तक सीमित है, जबकि विश्व की आधारभूत अव्यक्त सत्ता निस्सन्देह एक एव अद्वैत है। जब तक तत्त्वात्मक दृष्टि से सत्-मात्र को अद्वैत न मान लिया जाए, तब तक व्यक्ति व्यावहारिक तर्क के द्वैत से ऊपर नही उठ सकता। इस तत्त्वात्मक यथार्थ ज्ञान की अनुपस्थिति मे ही व्यावहारिक तर्क के द्वैत की भ्रान्ति यथार्थ प्रतीत होती है। किन्तु यह प्रतीति निस्सन्देह असगत और अयथार्थ है। भगवद्-गीता मे इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए कहा गया है

"आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति।"

अर्थात् "जो व्यक्ति सब प्राणियो को अपने सदृश देखता है, वही व्यक्ति यथार्थ ज्ञान रखता है।" भारतीय दर्शन मे आत्मा का अर्थ व्यक्ति है, किन्तु वह आत्मा ब्रह्म का रूप है और उसका यथार्थ ज्ञान मनुष्य को, व्यक्ति और समष्टि, समय और स्थान, कार्य और कारण के द्वन्द्वो से ऊपर उठा देता है। ऐसा व्यक्ति न ही केवल समाज को, न ही केवल प्राणी-जगत् को, अपितु सत्-मात्र को आत्मा मानता है और "तत् त्वम् असि" अर्थात् "ब्रह्म तू ही है" तथा "अह ब्रह्म अस्मि" अर्थात् "मैं ब्रह्म हू", "सर्वं खल्विद ब्रह्म" अर्थात् "सत्-मात्र ब्रह्म है" के आशय को यथार्थ रूप से जान लेता है। जो मनुष्य भौतिक अनेकत्व मे आत्मा का एकत्व देखता है, जो शारीरिक भिन्नता मे, आत्मा की समानता को स्वीकार करता है और जो अपने-आपको और सत्-मात्र को एक ही सत्ता मानता है, वह कदापि किसीसे घृणा नही कर सकता, किसीसे द्वेष नही कर सकता तथा किसीसे अन्याय नही कर सकता। यदि वह किसीके प्रति ऐसा सोचे, तो उसके मन मे प्रश्न उठता है कि क्या वह अपने-आपसे घृणा करे, क्या वह अपने-आपसे द्वेष करे, क्या वह अपने-आपसे अन्याय करे? पश्चिमीय दर्शन मे, इस व्यापक दृष्टिकोण के अभाव के कारण, इस तत्त्वात्मक अद्वैतवाद की अवहेलना के कारण, तर्क मे, आचार-विज्ञान मे और ज्ञान-मीमासा मे, स्थान-स्थान पर द्वैतवाद उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि सिजविक केवल तर्क के आधार पर, निजी सुख और सामूहिक सुख की समस्या का समाधान नही कर पाता।

बैन्थम का सुखवाद (१७४८ से १८३२)

बैन्थम भी नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित मानता है। अत वह धर्म (Virtue) की परिभाषा देते हुए यह कहता है कि धर्म का अर्थ सुख प्राप्त करने की आदत है, चाहे वह सुख हमारे लिए हो, चाहे दूसरो के लिए। हमने बैन्थम के मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विषय मे पहले लिखा है। वह सुख तथा दुख को हमारे नैतिक

कर्मों के निर्वाचन का आधार मानता है, इसलिए उसके अनुसार सुख ही एकमात्र नैतिक आदर्श है। बैन्थम को हम उपयोगितावाद का मुख्य समर्थक इसलिए कह सकते है कि उसने सुख को पूर्ण समाज के लिए आदर्श माना है। बैन्थम की नैतिकता मे व्यक्तिगत धर्म को प्रतिपादित करने के लिए रुचि नही थी। वह अपने इस विचार को इन शब्दो मे अभिव्यक्त करता है, "विधान की कला हमे यह सिखाती है कि किस प्रकार विधान बनानेवाले प्रेरको को व्यवहार मे लाकर समुदाय-रूपी मनुष्यो का समूह, उस मार्ग का अनुसरण करे, जोकि सम्पूर्ण समुदाय के लिए सुखकारी हो। नैतिकता तो वह कला है, जो उन लोगो के द्वारा सुख की अधिक से अधिक सख्या को उत्पादित करने का निर्देश देती है, जिनका उद्देश्य उसमे (नैतिकता मे) निहित होता है।"[१] बैन्थम के इस दृष्टिकोण को यहा प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि उसका सुखवाद समाज के लिए है और व्यक्ति के लिए नही। इसके साथ ही साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि बैन्थम का नैतिक सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और स्पष्ट नही है जितना कि उसके अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल का है। किन्तु यह सत्य है कि बैन्थम पहला ही ऐसा विचारक है, जिसने कि सुखवाद को उपयोगितावाद मे परिवर्तित किया है। जे० एस० मिल का नैतिक सिद्धान्त, निस्सन्देह बैन्थम के दृष्टिकोण पर आधारित है। अतः उपयोगितावाद की पूरी व्याख्या करने के लिए, मिल के दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। क्योकि मिल बैन्थम का अनुयायी है, अत मिल के दृष्टिकोण की आलोचना स्वत ही बैन्थम के उपयोगितावाद की आलोचना हो जाएगी। इसका अभिप्राय यह नही कि मिल तथा बैन्थम के विचारो मे तादात्म्य है। निस्सन्देह इन दोनो के दृष्टिकोण किसी-किसी स्थान पर एक-दूसरे के विरुद्ध भी हैं। उदाहरणस्वरूप, बैन्थम सुख के भिन्न प्रकारो अथवा गुणो को मान्यता नही देता, इसके विपरीत मिल इस विभिन्नता को स्वीकार करता है तथा महत्त्व देता है। हम उनके इस मतभेद की व्याख्या आगे चलकर करेगे।

जे० एस० मिल का उपयोगितावाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या करते हुए हमने मिल के दृष्टिकोण को पहले ही प्रस्तुत किया है। महाशय मिल अपने नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है और उसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आश्रय लेकर, वह व्यक्तिगत

---

१ "The art of legislation teaches how a multitude of man composing a community may be disposed to pursue the course which upon the whole is the most conducive to the happiness of the whole community, by means of motives to be applied by the legislator... . Morality is the art of directing men's actions to the production of the greatest quantity of happiness, on the part of those whose interest is in view."

सुख को वाछनीय स्वीकार करके, सामूहिक सुख को वाछनीय घोपित करता है। जैसाकि हमने पहले कहा है कि सुखवादी दृष्टिकोण मे मिल, बैन्थमका अनुयायी है। उसका निम्नलिखित कथन उसपर बैन्थम की विचारधारा के प्रभाव को प्रमाणित करता है·

"सुख तथा दु ख से निवृत्ति ही केवल वस्तुए है जिनको उद्देश्य बनाया जाना वाछनीय है सभी वाछनीय वस्तुए या तो इसलिए वाछनीय है कि उनमे स्वय सुख निहित है, अथवा इसलिए वाछनीय है कि वे सुख की उत्पत्ति तथा दु ख के अवरोध का साधन है।" इसी प्रकार मिल वाछनीय शब्द की भ्रान्तिपूर्वक व्याख्या करता है। सिजविक ने अपनी पुस्तक 'आचार-विज्ञान की विधिया' (Methods of Ethics) मे मिल के निम्नलिखित कथन को प्रस्तुत किया है

"किसी वस्तु को दृश्य सिद्ध करने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग वास्तव मे उसे देखते है, किसी शब्द को श्रवण करने योग्य सिद्ध करने का एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसे श्रवण करते है इसी प्रकार मेरी यह धारणा है कि किसी वस्तु को वाछनीय प्रमाणित करने के लिए जो एकमात्र साक्षी सम्भवतया प्रस्तुत की जा सकती है, वह यह है कि लोग वास्तव मे उसकी इच्छा करते है।"[1]

ऊपर दिए गए मिल के दो कथन यह प्रमाणित करते हैं कि एक ओर तो मिल बैन्थम की भाति सुख को इच्छा का एकमात्र प्रेरक मानता है और दूसरी ओर वह वाछनीय शब्द की भ्रमात्मक व्याख्या करके नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आश्रित करने की चेष्टा करता है। हम उसके मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना तो पहले कर ही चुके है। इससे पूर्व कि उसके उपयोगितावाद की व्याख्या की जाए, यह आवश्यक है कि उसने जो वाछनीय शब्द के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न की है, उसका स्पष्टीकरण किया जाए। वास्तव मे, मिल ने वाछनीय शब्द के अग्रेज़ी पर्यायवाची 'डिजायरेबल' (Desirable) शब्द का अर्थ करते हुए, अलकार का तर्काभास प्रस्तुत किया है। 'डिजायरेवल' (वाछनीय) शब्द को अग्रेज़ी के दो अन्य शब्दो 'विजिबल' (जो देखा जा सके) तथा 'ऑडीवल' (जो सुना जा सके) के समकक्ष मान लिया है। किन्तु उसकी यह धारणा सर्वथा असगत है। जबकि 'विजिबल' शब्द का अर्थ दृश्य अथवा वह वस्तु है, जो देखी जा सकती है और 'ऑडीबल' शब्द का अर्थ वह वस्तु है, जो वास्तव मे सुनी जा सकती है, 'डिज़ायरेवल' (वाछनीय) शब्द का अर्थ वह वस्तु नही है, जिसकी कि इच्छा की जा सकती है, इसके विपरीत उसका अर्थ वह वस्तु है, जिसकी इच्छा करना उचित है एव मूल्यात्मक है। अत मिल की मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद को

---

१ "The only proof capable of being given that an object is visible, is that people actually see it The only proof that a sound is audible, is that people hear it . in like manner, I apprehend, the sole evidence it is possible to produce that anything is desirable, is that people do actually desire it"

प्रतिपादित करने की चेष्टा भ्रान्त और असगत है।

अब हम मिल के उपयोगितावाद की व्याख्या करेगे। हम यह तो पहले ही कह चुके है कि उपयोगितावाद का अर्थ वह सिद्धान्त है जोकि मानव-मात्र एव प्राणी-मात्र के अधिक से अधिक सुख को नैतिक आदर्श मानता है। बैन्थम ने नैतिकता की परिभाषा देते हुए इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। मिल ने उसके इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' के चतुर्थ अध्याय मे इस प्रकार की है, "सिवाय इसके कि प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति अपने सुख की इच्छा करता है, हम इस प्रश्न का और कोई कारण नही बता सकते कि सामान्य (सामूहिक) सुख क्यो वाछनीय है ? क्योकि यह निश्चित रूप से एक तथ्य है, इसलिए (इसको बताकर) हमने न ही केवल यह सिद्ध करने का सम्पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किया है कि सुख एक शुभ है, अपितु हमने वह सब कुछ कह दिया है जोकि सम्भवतया आवश्यक था। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उस व्यक्ति के लिए शुभ है, अत सामान्य सुख सभी व्यक्तियो की समष्टि के लिए शुभ है।" इस कथन मे मिल ने व्यक्तिगत सुख के आधार पर, सामूहिक सुख को वाछनीय प्रमाणित करने की जो चेष्टा की है, वह भी भ्रमात्मक है। उसने यह तर्क प्रस्तुत करते हुए उस तर्काभास की भूल की है जिसको पश्चिमीय तर्कशास्त्र मे रचना का दोष (Fallacy of composition) कहते हैं। मिल यह तर्क प्रस्तुत करते हुए यह भूल जाता है कि सुख को भौतिक विषयो की भाति एक समष्टि मे नही लाया जा सकता। जिस प्रकार यह कहना असगत है कि एक सौ सैनिको का एक समूह छ सौ फुट लम्बा है, क्योकि प्रत्येक सैनिक छः फुट लम्बा है, उसी प्रकार यह कहना भी एक भारी भूल है कि सभी व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् सुख मानव-मात्र के लिए शुभ होगा, क्योकि व्यक्तिगत सुख प्रत्येक मनुष्य के लिए शुभ होता है। मिल इस तथ्य की भी अवहेलना करता है कि सुख कोई वाह्यात्मक वस्तु नही है। वह एक मानसिक अनुभव है और सर्वथा अन्तरात्मक है। एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के लिए न ही केवल अवाछनीय, अपितु दुखदायक वस्तु प्रमाणित हो सकता है। एक ओर तो सुख, एक अमूर्त और भावात्मक अभिव्यक्ति है और दूसरी ओर वह एक सापेक्ष तत्त्व है, जिसको कि निरपेक्ष रूप से कदापि शुभ स्वीकार नही किया जा सकता। हम आगे चलकर काट के शुभ सकल्प की धारणा के विषय मे यह देखेगे कि उसका निर-पेक्ष आदेशवाद इसी प्रकार की अन्य अमूर्त धारणा पर आधारित होने के कारण सापेक्ष और असगत सिद्ध होता है। काट का शुभ सकल्प तो निस्सन्देह एक स्वलक्ष्य मूल्य है और उस दृष्टि से निरपेक्ष भी है। किन्तु सुख सर्वथा सापेक्ष होता है और इसलिए उसको किसी भी अवस्था मे मनुष्यो की समष्टि के लिए एकमात्र आदर्श नही माना जा सकता। सुख-वाद की आलोचना मे हम सुख की सख्या तथा उसके गुणो के भेद के विषय मे आगे चल-कर आलोचना करेगे। किन्तु यहा पर उपयोगितावाद की थोडी-सी और व्याख्या करने के लिए, यह बता देना आवश्यक है कि किस आधार पर एक सुख को दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक वाछनीय स्वीकार किया जाना चाहिए।

जब उपयोगितावाद अथवा सामूहिक सुखवाद यह आदेश देता है कि हमारा नैतिक आदर्श 'अधिक से अधिक सुख' होना चाहिए, उसका अभिप्राय यह है कि सख्या की दृष्टि से यदि हम विभिन्न सुखो का मूल्याकन करे, तो अधिक से अधिक सख्या-वाले सुख को, कम सख्यावाले सुख की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना चाहिए। सुख की सख्या का अनुमान लगाते समय प्राय दो तत्त्वो का ध्यान रखा जाता है जो विशदता (Intensity) तथा अवधि है। कुछ सुख अधिक विशद होने के कारण दूसरो की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जा सकते है और कुछ अधिक देर तक रहने के कारण दूसरो की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जा सकते है। यदि ये दोनो तत्त्व किसी सुख मे अधिक मात्रा मे हो, तो उस सुख को कम मात्रा-वाली विशदता तथा अवधि रखनेवाले सुख की अपेक्षा अधिक वाछनीय समझना चाहिए। बैन्थम के अनुसार सुखो का मूल्याकन करते समय निश्चितता, अन्य सुखो को उत्पादित करने की शक्ति, दु ख से मुक्ति आदि जैसे तत्त्वो को भी ध्यान मे रखना चाहिए। मान लीजिए कि हम तीन विभिन्न सुखो का मूल्याकन करते है और उनका मूल्य क्रमश ३, ४, ५ निर्धारित करते हैं, तव उपयोगितावाद के अनुसार ५, ३ अथवा ४ दोनो की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा। ३ + ४, ५ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा, ३ + ५, ३ + ४ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा और ४ + ५, ३ + ४ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा।

इस सख्यात्मक मूल्याकन के साथ-साथ जे० एस० मिल ने, सुखो को गुण के आधार पर अधिक और कम उपयोगी मानकर, उपयोगितावाद के सिद्धान्त को और भी जटिल वना दिया है। यदि हम सुखो की सख्या के आधार पर तुलना कर सकते है, तो उसका अभि-प्राय यह होता है कि सभी सुख एक ही प्रकार के है, किन्तु मिल स्वय इस वातको स्वीकार करता है कि सुख न ही केवल सख्या मे, अपितु गुण मे भी एक-दूसरे से भिन्न होते है। दूसरे शब्दो मे, कुछ सुख दूसरे सुखो की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ नही माने जाते कि वे सख्या मे दूसरो की अपेक्षा अधिक हैं, अपितु इसलिए कि वे उत्कृष्ट प्रकार के है। न ही केवल इतना, अपितु नीचे के स्तरवाले सुखो की अपेक्षा ऊचे स्तरवाले सुख, सख्या की दृष्टि से कम होते हुए भी वाछनीय माने गए है। यह स्वीकार किया गया है कि कुछ सुख अधिक विशद न होते हुए भी, अधिक उत्कृष्ट होने के कारण अन्य सुखो की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यदि ऊचे स्तर तथा नीचे स्तर के सुखो मे से हमे एक प्रकार के सुख का निर्वाचन करना हो, तो ऊचे स्तरवाले सुख को वाछनीय समझना उचित होगा, चाहे वह सुख कम विशद भी क्यो न हो।

आलोचना

नैतिक सुखवाद नैतिकता को सुख की अपेक्षा गौण समझता है और उसे सुख का साधन-मात्र मानता है। चाहे वह सुख नैतिकता मे प्राप्त हो अथवा केवल नैतिकता के द्वारा प्राप्त हो, हर अवस्था मे सुखवाद इस वात पर बल देता है कि सुख की प्राप्ति ही हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार सुखवाद, जोकि एक नैतिक सिद्धान्त

स्वीकार किया जाता है, नैतिकता को गौण मानकर और सुख को स्वलक्ष्य मानकर एक विरोधाभास प्रस्तुत कर देता है। एक ओर तो सुखवाद हमे नैतिक आदेश देने की चेष्टा करता है और दूसरी ओर सुख को स्वलक्ष्य मानकर और नैतिकता एव शुभ को गौण मानकर सुख को नैतिकता की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित करता है। इस प्रकार के आदर्श को सामान्य व्यक्ति कदापि व्यवहार मे नही ला सकता।

सुखवादी सिद्धान्त इसलिए भ्रान्त है कि वह सुख के भावात्मक अग को भूल जाता है। सुख तथा दु ख निस्सन्देह भाव है और वे भाव सदैव अन्तरात्मक हैं, इसलिए उनकी अनुभूति शून्य मे नही हो सकती, उनकी प्राप्ति अनुभव करनेवाले व्यक्ति के विना नही हो सकती। दूसरे शब्दो मे, अनुभव करनेवाले व्यक्ति के विना सुख कुछ अस्तित्व नही रखता। सुख कोई वाह्यात्मक वस्तु नही है, जिसको कि कम या अधिक मात्रा मे किसी व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह को प्रदान किया जाए। अत अधिक से अधिक सुख को व्यावहारिक उद्देश्य नही वनाया जा सकता। सुखो की निश्चित इकाई नही हो सकती, उनका ठोस आकार नही हो सकता। इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए ब्रैडले ने कहा है कि नैतिक आदर्श सुख की प्राप्ति नही, अपितु आत्मानुभूति हो सकता है, क्योकि अनुभूति के बिना सुख का कोई अस्तित्व नही हो सकता। ब्रैडले के शब्दो मे, "यदि किसी व्यावहारिक उद्देश्य को व्यावहारिक लक्ष्य तथा आदर्श वनना है, तो उसे किसी विशेष इकाई के रूप मे, किसी ऐसे ठोस 'पूर्ण' के रूप मे हमारे सामने उपस्थित होना चाहिए, जिसे हम अपने कर्मो मे अनुभूत करे तथा जिसे हम जीवन मे कार्यान्वित करे। सुख (दु ख की भाति) ऐसे नाम के अतिरिक्त और कुछ प्रमाणित नही होता, जोकि किसी न किसी क्षणिक भावो की अभिव्यक्ति होता है।"

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना करते हुए भी, हमने यह वताया था कि मनुष्य सुखद भावना की इच्छा नही करता, अपितु सुखद भावना उसके लक्षित विपय मे स्वय ही उपलब्ध हो जाती है। किसी भी अवस्था मे, सुख की भावना-मात्र को कर्म के नैतिक अथवा अनैतिक होने का मापदण्ड नही बनाया जा सकता। नैतिक सुखवाद सुख की भावना को मूल्य मानकर चलता है। उपयोगितावाद के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि एकमात्र सुख ही ऐसी वस्तु है जो हमारे अनुभव के विषयो को मूल्य देता है। दूसरे शब्दो मे, हमारा चेतनात्मक अनुभव उतना ही मूल्यवान है जितना कि वह सुखद है। चाहे अपने वास्तविक अनुभव मे हम कई वार दो विषयो मे से कम सुखद विषय की भी इच्छा करते हैं, तथापि जब हम तटस्थ रूप से इस समस्या पर विचार करते है, तो हम इस परिणाम पर पहुचते है कि हमारा चैतन्य कर्मो का निर्वाचन केवल सुख के आधार पर ही होता है और हम कम सुखद वस्तु की अपेक्षा अधिक सुखद वस्तु को ही श्रेष्ठ मानते है। दूसरे शब्दो मे, यदि अधिक सुखद का निर्वाचन करना हमारे स्वभाव मे नही है, तथापि हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम उस समय तक अधिक से अधिक सुखद क्रियाओ का निर्वाचन करे, जव तक कि हमारा यह निर्वाचन किसी अन्य व्यक्ति के सुख मे बाधक

नही होता। सामान्यतया हमे ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि हमारी सभी मानसिक प्रक्रियाओ द्वारा प्राप्त सुख अधिक से अधिक हो। सुखवाद की यह धारणा यह स्वीकार करके चलती है कि सुख कर्म की नैतिकता का मापदण्ड है। कुछ सीमा तक यह कहा जा सकता है कि सुख मूल्य का किंचित् आधार हो सकता है। यह बात तो स्वीकार करने योग्य है कि जो विषय हमारी चेतना के लिए कुछ मूल्य रखते है, उन विषयो के साथ सुख की भावना सम्बद्ध अवश्य रहती है।

इसका अभिप्राय यह तो नही है कि सुख की भावना ही मूल्य रखती है, क्योकि लक्षित विषय स्वय सुख न होते हुए भी सुखद इसलिए होता है कि हम उसकी इच्छा करते है। उदाहरणस्वरूप, जो व्यक्ति किसी राजनीतिक दल का पतन चाहता है, उसके लिए वह घटना मूल्य रखती है और इसलिए उसके घटित होने से उसे सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यह सत्य है कि मूल्य तो लक्षित विषय का होता है, किन्तु उस लक्षित विषय की प्राप्ति से जो सुदृढ भावना अनुभूत होती है, उसको हम मूल्य का आभास (Sense of value) कह सकते हैं। अत सुख स्वय मूल्य न होते हुए भी, कुछ सीमा तक मूल्य का परोक्ष रूप से मापदण्ड हो सकता है। मैकन्ज़ी का कहना है कि जिस प्रकार मुद्रा स्वय मूल्य न होते हुए भी, वस्तुओ के मूल्य का आधार हो सकती है, उसी प्रकार सुख भी स्वय मूल्य न होते हुए भी, कुछ सीमा तक नैतिक मूल्य का आधार हो सकता है।

मैकन्ज़ी का यह दृष्टिकोण इस बात को प्रमाणित नही करता कि सुख वास्तव मे कर्म का मूल्याकन करने का विश्वसनीय परिमाण है। यदि सुख को मुद्रा की भाति भी परिमाण का साधन मान लिया जाए, तब भी हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि ऐसा सम्भव नही है। जब हम मुद्रा को आर्थिक वस्तुओ के परिमाण का साधन मानते है, तो मुद्रा के मूल्य मे एक समरूपता होती है। किन्तु जब हम सुख को नैतिकता का परिमाण मानते है, तो हम यह मानकर नही चलते कि सुख हर समय एक ही मूल्य रखते है अथवा एक ही प्रकार के है। मिल जैसे सुखवादी भी यह स्वीकार करते है कि गुणात्मक दृष्टि से एक सुख की दूसरे सुख से विभिन्नता होती है। सुखो की यह विभिन्नता यह प्रमाणित करती है कि हम सुखको मुद्रा की भाति मापदण्ड नही मान सकते। यदि हम यह स्वीकार करें कि सुख के विभिन्न प्रकार और विभिन्न गुणात्मक भेद होते है, तो उसका अभिप्राय यह होगा कि सुखो का उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होना किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर है। सुखवादी इस बात को भूल जाते हैं कि सुख कदापि स्वलक्ष्य मूल्य नही बन सकता। वे साधन को लक्ष्य मान लेते है और सुख को नैतिक कर्म का एकमात्र साधन मानकर एक पक्षपाती दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। इसी कारण वे सुख को एक ठोस वस्तु मानकर उसकी अधिक से अधिक सख्या को उत्कृष्ट आदर्श मानते है। सुखो के विभिन्न प्रकार तथा गुणात्मक भेद सर्वथा यह प्रमाणित करते है कि सुख का मूल्य अपने-आपमे कुछ नही है और वह विषयो के बिना एक अमूर्त और निरर्थक धारणा-मात्र रह जाता है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए हमे सुखो के गुणात्मक भेद का अध्ययन करना होगा।

उपयोगितावाद के मुख्य समर्थक जे० एस० मिल ने सुखो की परस्पर विभिन्नता को गुण पर आधारित मानकर सुखवादी सिद्धान्त को और भी जटिल वना दिया है। एक ओर तो सुखवाद की यह धारणा है कि सभी सुखो की हम सख्यात्मक दृष्टि से तुलना कर सकते है, और दो सुखो अथवा सुखो के जोड की तुलना करते हुए हम यह वता सकते है कि कौन-सा सुख अधिक है और कौन-सा कम। दूसरी ओर सुखवाद यह स्वीकार करता है कि एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ एव अधिक वाछनीय है, क्योकि वह गुण की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रकार का सुख है। यदि गुण के आधार पर ही किसी वस्तु को अधिक वाछनीय स्वीकार किया जा सकता है, तो यह सिद्ध हो जाता है कि केवल सुख ही वाछनीय वस्तु नही है। सुख की श्रेष्ठता, सुखद भावना पर आधारित न होते हुए, जब किसी अन्य गुण पर आधारित हो जाती है, तो उससे यह प्रमाणित होता है कि सुख की श्रेष्ठता सुखद भावना से परे है। इसके अतिरिक्त एक सुख को दूसरे की अपेक्षा गुण के आधार पर अधिक वाछनीय मानने से, सुखो तथा सुखो के जोड़ को वाछनीयता का क्रम देना असम्भव हो जाता है। हम गुणो का मूल्याकन सख्या द्वारा नही कर सकते, जव तक कि हम गणो को किसी प्रकार से सख्या मे परिवर्तित न कर दे। किन्तु गुणो को सख्या मे परिवर्तित करना न ही केवल कठिन है, अपितु असम्भव और मूर्खतापूर्ण प्रयास है। हम किसी भी मापदण्ड के आधार पर यह नही कह सकते कि आम खाने का सुख, सेब खाने के सुख से डेढ गुना व दुगुना है अथवा सगीत सुनने का सुख नीद के सुख से आधा है इत्यादि। सुखवाद की यह व्यावहारिक कठिनाई इस सिद्धान्त को अव्यावहारिक सिद्ध करती है।

सुखवाद की आलोचना करते हुए मैकन्जी ने सुखो के प्रकार की विभिन्नता की ओर जो सकेत किया है, वह यहा उल्लेखनीय है। सुखो के प्रकार की विभिन्नता यह सिद्ध करती है कि यदि सुख को नैतिकता का मापदण्ड मान भी लिया जाए, तो भी वह मापदण्ड सदैव एक नही रह सकता। मैकन्जी का कहना है कि जिस प्रकार इच्छाओ के विभिन्न प्रकार होते है, उसी प्रकार तृप्ति के उन भावो के भी विभिन्न प्रकार होते है, जोकि विषय की प्राप्ति पर अनुभव किए जाते है। उदाहरणस्वरूप, जब हमारी भूख की तृप्ति होती है, तो उसमे जो तृप्ति का भाव एवं सुख प्राप्त होता है, वह सरल और प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जो सुखद भावना किसी बौद्धिक अथवा तर्कात्मक इच्छा की तृप्ति के पश्चात् अनुभूत होती है, वह उत्कृष्ट प्रकार की तृप्ति होती है और उसे सुख न कहकर आनन्द (Happiness) कहना अधिक उचित है। यही कारण है कि विषय-भोग आदि की तृप्ति मे जो सुख प्राप्त होता है, वह वौद्धिक तथा तर्कात्मक सुख की अपेक्षा न्यून स्तर का होता है। मानवीय इच्छा की तृप्ति मे जव उद्देश्य की चेतना अधिक प्रत्यक्ष होती है, तो उससे सम्वन्धित सुख उत्कृष्ट सुख एव आनन्द होता है। किन्तु जव उद्देश्य की चेतना कम प्रत्यक्ष होती है, तो सुख का प्रकार भी न्यून स्तर का होता है और वह आनन्द न कहलाकर सुख-मात्र ही कहलाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि उत्कृष्ट सुख एव आनन्द

का सम्बन्ध, उत्कृष्ट एव ऊचे स्तर के इच्छाओ के व्यूह से होता है। सुखो के प्रकार का यह भेद निस्सन्देह अन्तरात्मक होता है और व्यक्ति पर ही निर्भर करता है। जब व्यक्ति उत्कृष्ट दृष्टिकोण को अपनाता है एव उसकी इच्छाओ का व्यूह उत्कृष्ट होता है, तो उसका सुख भी उत्कृष्ट ही होता है। किन्तु जब व्यक्ति का दृष्टिकोण न्यून स्तर का होता है एव उसकी इच्छाओ का व्यूह न्यून होता है, तो इच्छाओ की तृप्ति द्वारा प्राप्त सुख भी न्यून स्तर का ही होता है। हमने यह पहले ही इच्छाओ के व्यूह के सम्बन्ध मे कहा है कि समय और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति का इच्छाओ का व्यूह भी परिवर्तित होता रहता है और इस परिवर्तन के साथ-साथ ही सुख के स्तर का परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दो मे, सुख का स्तर एव प्रकार व्यक्ति के इच्छाओ के व्यूह के प्रकार पर निर्भर रहता है। अत यदि हम सुख को ही नैतिक कर्म का मूल्य माने, तो यह मूल्य एक प्रकार का नही हो सकता—कभी तो वह एक प्रकार का होगा, कभी दूसरे प्रकार का होगा और कभी तीसरे प्रकार का ; क्योकि उसके स्तर, अनुभव करनेवाले व्यक्ति की इच्छाओ के व्यूह के अनुसार, परिवर्तित होते रहेगे। सुखवाद की इस कठिनाई को मैकन्जी ने इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है, "हर अवस्था मे, चाहे हम इच्छाओ के विभिन्न व्यूहो (क्षेत्रो) को पृथक्-पृथक् नामो से पुकारे अथवा न पुकारे, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भावो मे लक्षणो की विभिन्नता अवश्य होती है, और (उनमे) इसलिए आत्मा-नुभव का भाव भी विभिन्न होता है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक भाव के सम्बन्ध मे मूल्य की धारणा ऐसी धारणा होती है, जो विभिन्न निर्णायको के द्वारा दी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम कभी सोने को, कभी चादी को और कभी ताबे को परिमाण बना रहे हो।"[1] इस कथन का अभिप्राय यह है कि सुख अनेक प्रकार का होने के कारण वास्तव मे स्वय किसी अन्य कारण से मूल्य का मापदण्ड बन सकता है, अर्थात् सुख का भाव अपने-आपमे ऐसा मापदण्ड नही हो सकता।

उपर्युक्त आलोचना मे विभिन्न सुखो मे जो भेद बताया गया है, वह वास्तव मे सुखद भावना का भेद तो नही है, अपितु वह भेद उस सुखद घटना अथवा विषय का होता है जिससे कि सुख का अनुभव अविच्छिन्न होता है। सुख (Pleasure) कोई ऐसा तत्त्व

---

१. "At any rate, whether or not we use different words for the different universes, it seems clear that the feelings in question are of very different characters It is, in fact, a very different self that is realized in each of these cases, and the feeling of self-realizedness is consequently different Or, to put it in the other form that we have used, the sense of value in each case is a sense of value for a different judge We are estimating as it were, sometimes in gold, sometimes in silver, and sometimes in copper "

—A Manual of Ethics by J S Mackenzie, Page 180

नही है, जिसका किसी वस्तु या विषय से पृथक् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व हो, क्योकि सुख का अनुभव सदैव ठोस परिस्थिति से उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना करते हुए भी हमने सुखवाद की इस कठिनाई का उल्लेख किया है। कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि वह केवल सुख अथवा अमूर्त सुख का अनुभव कर रहा है। वास्तव मे सुख एक ऐसा सापेक्ष तत्त्व है, जोकि चेतना की सम्पूर्ण घटना एव अवस्था का एक अगमात्र होता है। सम्भवतया यह उसका एक अनिवार्य और आवश्यक अंग है। किन्तु इसका सम्बन्ध चेतना के विषय से इतना घनिष्ठ होता है कि चेतना का विषय और सुख की भावना, जोकि उस विषय का ही परिणाम होती है, सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् होते हुए भी अभिन्न होते है। किसी भी सुखद अनुभव मे सुख की भावना तथा उसका विषय पृथक् तो अवश्य होते है, किन्तु उन दोनो के मिश्रण से जिस सुख का अनुभव होता है, वह एक विशेष प्रकार का सुख इसलिए होता है कि वह सुख के भाव के अतिरिक्त अनेक अन्य तत्त्वो से प्रभावित होता है, जोकि उस परिस्थिति की सम्पूर्ण चेतना को निर्मित करते है। उदाहरणस्वरूप, किसी ऐसे सुख को ले लीजिए, जोकि एक शास्त्रीय नृत्य को देखने से उत्पन्न होता है। इस उदाहरण मे जिस सुख का हम अनुभव करते है, वह उस नृत्य से अवश्य भिन्न है जोकि हम देखते तथा सुनते है। किन्तु जो नृत्य हम देखते है अथवा सुनते हैं, उस परिस्थिति मे वही सम्पूर्ण विषय नही होता, जोकि हमारी चेतना के समक्ष होता है और जो सुख की भावना उत्पन्न करता है। नृत्य के देखने तथा पायल की झकार सुनने के साथ-साथ जो विचार उस नृत्य के द्वारा हमारे मन मे उत्पन्न होते हैं, वे सभी हमारी चेतना को निर्मित करते हैं। अत जो विषय इस अवस्था मे सुखद भावना को उत्पन्न करनेवाला होता है, वह असख्य विचारो, प्रतिमाओ तथा भावो का एक जटिल 'पूर्ण' होता है। सुख की भावनामात्र यह सम्पूर्ण चेतना नही हो सकती और न ही हम यह कह सकते हैं कि वह सुख की भावना इस सम्पूर्ण चेतना से पृथक् अस्तित्व रखती है। वह भावना तथा सम्पूर्ण घटना अथवा चेतना वास्तव मे एक ही अनुभव के दो अभिन्न पहलू है। यदि सम्पूर्ण परिस्थिति एव सम्पूर्ण चेतना के तत्त्वो मे थोड़ा-सा भी परिवर्तन कर दिया जाए, तो सुख की भावना भी विभिन्न हो जाएगी। यही कारण है कि जो सुख का भाव हमे एक नृत्य के देखने से अनुभव होता है, वह उस सुख के भाव से विभिन्न होता है, जोकि हमे एक सुन्दर चित्र के देखने से अनुभव होता है। अत सुख के भाव की विभिन्नता अपने-आपमे निरर्थक है और वह हमारी चेतना की समष्टि पर निर्भर रहती है। इसलिए सुख की भावना-मात्र को नैतिक मूल्य एव मापदण्ड मानना असगत है।

ब्रैडले ने भी चेतना की समष्टि को ही सुख की उत्पत्ति का कारण माना है और कहा है कि हमारी इच्छा का लक्ष्य, सुख का भाव न होकर आत्मानुभूति है, न कि विशेष प्रकार का भाव अथवा तृप्ति। जिस आत्मा (Self) की अनुभूति प्राप्त की जाती है, वह निस्सन्देह जटिल स्वरूप रखती है। सुख क्षणिक तथा परिवर्तनशील तत्त्व हैं, किन्तु जिस आत्मा के द्वारा वे अनुभव किए जाते है, वह एक ऐसी पूर्ण है, जोकि इन सुखो को धारण करने-

वाली है। ये सुख आत्मा मे उपस्थित होकर ही अस्तित्व रखते है एव अपना महत्त्व प्राप्त करते हैं। इसलिए एक साधारण मनुष्य के लिए आनन्द (Happiness) का अर्थ न तो एक सुख है न सुखो की सख्या है। इसके विपरीत वह उसकी आत्मानुभूति है। दूसरे शब्दो मे, आनन्द वास्तव मे सुख का भाव-मात्र नही है, अपितु एक पूर्ण है। ब्रैडले के शब्दो मे, "सामान्य मनुष्य के लिए प्रसन्नता (Happiness) का अर्थ न तो सुख (Pleasure) है और न सुखो की सख्या है। साधारणतया इसका अर्थ अपने-आपको प्राप्त करना है अथवा एक पूर्ण रूप से अपने-आपको तृप्त करना है और विशेषकर इसका अर्थ अपने जीवन के ठोस आदर्श की अनुभूति करना है। वह (सामान्य मनुष्य) कहता है, 'यह प्रसन्नता है', ऐसा कहते समय वह प्रसन्नता का एक सुख या सुखो की सख्या से तादात्म्य नही करता और उसका यह आशय समझता है, 'इसमें ही वह तत्त्व सार्थक बना है जो मेरे हृदय मे था,' किन्तु सुखवादी ने कहा है—प्रसन्नता सुख है और सुखवादी जानता है कि प्रसन्नता एक पूर्ण है।"[१]

ब्रैडले की इस आलोचना का अर्थ यह है कि प्रसन्नता पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर करती है न कि सुख की भावना पर। यहा पर ब्रैडले का दृष्टिकोण भगवद्गीता के नैतिक दृष्टिकोण के सदृश है। ब्रैडले ने यह कहा है कि सुख क्षणभगुर है, अत. वह आदर्श नही माना जा सकता। हम क्षणिक सुख की प्राप्ति के पश्चात् वही रह जाते है, जहाकि पहले थे और हम अपने-आपको प्राप्त नही कर सकते और न ही हम पूर्णतया तृप्त होते है। भगवद्गीता मे भी कहा गया है कि सुख-दु ख क्षणिक अनुभव हैं और वही व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो इस द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है। यह बात भी सत्य है कि सुख का अनुभव हमारे व्यक्तित्व के विना कोई अर्थ नही रखता। यदि कोई व्यक्ति सुख भोगने को ही अपना लक्ष्य बना ले, तो अन्त मे उसे यह अनुभव होगा कि उसने सुख का सेवन नही किया, अपितु सुख उसके व्यक्तित्व मे आया और चला गया। वास्तव मे क्षणिक सुख का अस्तित्व और उसकी अनुभूति केवल यह प्रमाणित करती है कि हमारे व्यक्तित्व मे वुद्धि के स्थान पर कुछ हानि ही हुई है। हम ऐसा समझते हैं कि हमने सुख को भोगा है, किन्तु वास्तव मे सुख ही हमारे व्यक्तित्व को भोगता है। हम समझते हैं कि हमने समय व्यतीत किया है, किन्तु समय हमारे व्यक्तित्व को व्यतीत करता है। हम उस

१. "Happiness for the ordinary man neither means a pleasure, nor a number of pleasures. It means in general the finding of himself, or the satisfaction of himself as a whole, and in particular it means the realization of his concrete ideal of life. 'This is happiness,' he says, not identifying happiness with one pleasure or a number of them, but understanding by it, 'in this it become a fact what I have at heart.' But the Hedonist has said, happiness is pleasure, and the Hedonist knows that happiness is a whole."

—F. H. Bradley Ethical Studies, Page 96.

समय तक प्रसन्नता एव परम सुख को प्राप्त नही कर सकते, जब तक कि हम आत्म-विकास और आत्मवृद्धि को लक्ष्य न बनाए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषय से पृथक् तथा व्यक्तित्व से पृथक् सुख का अस्तित्व मृगतृष्णा के समान है। हम सुख की भावना को विषय तथा व्यक्ति से पृथक् कल्पना कर सकते है, किन्तु यह कल्पना वास्तविकता के विरुद्ध है। सुखवादी इसको वास्तविक मानकर एक व्यावहारिक भूल करते है और एक ऐसे नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करते है जिसे हम बिना आकार के सामग्री (Matter without form) कह सकते है। यदि सुख किसी ठोस वस्तु का नाम होता और हम उसे अधिक या कम मात्रा मे किसी विशेष परिमाण द्वारा अनुभूत कर सकते, तो सम्भवतया सुख एक नैतिक मूल्य हो सकता था। सुखो को किसी भी अवस्था मे एक-दूसरे से जोडा नही जा सकता। दूसरे शब्दो मे, उन्हे ठोस वस्तुओ की भाति इकट्ठा नही किया जा सकता। सुखो को एक, दो, तीन की सख्या मे परिणत करना एक असम्भव प्रयास है। सुखवादी यह भूल जाते है कि सुख एक भाव एवं गुण है और गुण को सख्या के आधार पर परिमित नही किया जा सकता। सुख की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता उसकी सख्या पर निर्भर नही है, अपितु अनुभव करनेवाले व्यक्ति पर निर्भर है। सुखवाद इस बात को भूल जाता है कि जब हम तृप्ति की ओर जाते हैं, तो हमारा उद्देश्य इच्छाओं की तृप्ति नही होता, अपितु हमारे व्यक्तित्व की तृप्ति होता है। ऐसी तृप्ति के समय मूल्याकन का आधार सुख नही होता, अपितु हमारा अपना दृष्टिकोण अथवा, मैकन्ज़ी के शब्दो मे, हमारी इच्छाओ का व्यूह होता है। मैकन्ज़ी ने सुखवाद की आलोचना करते हुए इसी दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है, "तृप्ति का मूल्य हमारे व्यक्तित्व के उस स्तर पर निर्भर करता है, जो इस तृप्ति को अनुभव करनेवाला है, अर्थात् वह उस इच्छाओ के व्यूह पर निर्भर करता है, जिसमे कि तृप्ति प्राप्त की जाती है। वह सुख पाशवी सुख हो सकता है, वह मानवीय सुख हो सकता है, वह आनन्द के समान, एक दैवी सुख हो सकता है, सुख का इस प्रकार मूल्याकन करना, हमारी इच्छाओ को उसके आकार एव उद्देश्य के प्रकरण मे समझना है। सुखवाद इस आकार को भूल जाता है। यह हमारी इच्छाओ तथा उनकी तृप्ति को किसी कच्चे पदार्थ की सख्या की भाति समझता है, यह हमारी आवश्यकताओ को मानो अनेक ऐसे मुख समझता है, जिनको कि भरता है और उनकी तृप्ति के सुखो को मानो चीनी के ढेले समझता है, जिनके द्वारा कि उन मुखो को भरना है। यह बिना आकार के सामग्री है।"[1]

सुखवाद को पूर्णतया असगत तथा निरर्थक तो प्रमाणित नही किया जा सकता, किन्तु उसे नैतिकता का एकपक्षीय एव एकागी आदर्श अवश्य कहा जा सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी भी आदर्श को उस समय तक नैतिक आदर्श कहना उचित नही है, जब तक कि वह मानव के कल्याण को लक्ष्य न बनाता हो। केवल इतना ही नही, अपितु एक व्यापक नैतिक आदर्श वही है, जो प्राणी-मात्र के कल्याण को लक्ष्य मानता है।

१. A Manual of Ethics by Mackenzie, Page 183.

किन्तु केवल सुख को ही प्राणियो अथवा मनुष्यो के कल्याण का अद्वितीय लक्षण मान लेना अवश्य एक भूल है। कल्याण मे सुख अवश्य उपस्थित होता है और दु ख की अनुपस्थिति होती है, किन्तु सुखद भावना को ही कल्याण (Well-being) का एकमात्र तत्त्व नही माना जा सकता, क्योकि सुख की अनुभूति व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार होती है और उच्चतम दृष्टिकोण ही सबसे अधिक उत्कृष्ट, सुख एव आनन्द देनेवाला होता है। एक ही मनुष्य मे जब अनेक न्यून तथा उच्च स्तर के दृष्टिकोण होते है एव उसके व्यक्तित्व के विभिन्न स्तर होते है, उन्ही स्तरो के अनुसार विभिन्न सुखो की अनुभूति अवश्य होती है। अत मनुष्य का नैतिक आदर्श उसके उच्चतम व्यक्तित्व के स्तर की प्राप्ति एव अनुभूति है। ब्रैडले ने जो आत्मानुभूति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसका आशय भी यही है कि सुख की प्राप्ति का सम्बन्ध व्यक्तित्व की अनुभूति मे है। इसी प्रकार मैकन्जी भी इच्छाओ के व्यूह के विभिन्न स्तरो को स्वीकार करता है और सुख को इन स्तरो से ही सम्बन्धित करता है। यही स्तर, जैसाकि हमने पहले कहा है, व्यक्तित्व के स्तर हैं। आचार-विज्ञान के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि व्यक्तित्व का कौन-सा स्तर सबसे अधिक उत्कृष्ट एव सबसे अधिक वाछनीय है। उसी स्तर की प्राप्ति ही नैतिक आदर्श होना चाहिए। इस प्रकार सुखवाद, जो केवल सुख को ही उच्चतम आदर्श प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, अपने लक्ष्य मे तो सफल नही होता, किन्तु वह इतना सकेत अवश्य करता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का उच्चतम स्तर वह होगा, जिसकी अनुभूति मे परम सुख एव परम आनन्द की प्राप्ति होती है। हम आगे चलकर देखेगे कि कुछ पश्चिमीय विचारक अन्त करण को मनुष्य का उच्चतम स्तर मानते हैं और उसीके आदेश को ही नैतिक कर्तव्य स्वीकार करते है। इस प्रकार की विचारधारा प्रस्तुत करनेवाले विचारक अन्तर्दृष्टिवादी दार्शनिक कहे जाते है। काट एक विशेष प्रकार का अन्तर्दृष्टिवादी नैतिक विचारक है। वह मनुष्य के तर्कात्मक स्तर को ही उच्चतम स्तर मानता है, और तर्क तथा शुभ सकल्प सत्य तथा शिव का तादात्म्य करता है। हम आगे चलकर देखेगे कि काट का यह दृष्टिकोण भी एकागी दृष्टिकोण है। काट के नैतिक सिद्धान्त की तुलना यथास्थान भगवद्गीता के कर्मयोग से की जाएगी। किन्तु यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि जहा सुखवाद एक भावात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, वहा काट का दृष्टिकोण एक विशुद्ध तर्कात्मक दृष्टि का प्रतिपादन करता है। काट के सिद्धान्त के अध्ययन के पश्चात् ही हम दोनो नैतिक सिद्धान्तो की तुलना कर सकेगे और यह निश्चित कर सकेगे कि भारतीय नैतिक आदर्श इन दोनो की अपेक्षा कहा तक सगत और उनका समन्वय करने मे समर्थ हैं।

सुखवाद एव उपयोगितावाद की मुख्य त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त हमारे सामने 'अधिक से अधिक व्यक्तियो के लिए अधिक से अधिक सुख' उपार्जित करने का उद्देश्य प्रस्तुत करता है और इसी उद्देश्य को ही परम शुभ एव परम लक्ष्य घोषित करता है, किन्तु वह उन नियमो एव साधनो की ओर ध्यान नही देता, जोकि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। साधन अथवा नियम निस्सन्देह अन्तरात्मक प्रेरणाए है, जो हमे सन्मार्ग पर

चलने के लिए वाध्य करती है। हमारा अन्त करण एक ऐसा अन्तरात्मक नियम है, जो नैतिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। भले ही नैतिक उद्देश्य की पूर्ति 'अधिक से अधिक सुख'की प्राप्ति को ही मान लिया जाए, तो भी उस पूर्ति को विना किसी साधनके अथवा विना किन्ही नियमो के निरकुश पूर्ति मान लेने का अभिप्राय, प्रत्येक व्यक्ति को अनैतिक बनने की स्वतन्त्रता देना है। सुखवादी यह भूल जाते है कि उद्देश्य तभी नैतिक हो सकता है, जब उसकी प्राप्ति के साधन भी नैतिक ही हो। दूसरे शब्दो मे, शुभ की प्राप्ति केवल किसी वस्तु को शुभ घोषित करने-मात्र से ही नही हो सकती, अपितु वह सत् के अपनाने से ही उपलब्ध हो सकती है। सदाचार के नियम शुभ की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म मे नैतिकता को बनाए रखने के लिए अनेक सदाचार के नियमो के पालन करने को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। यह नियम आदेश के रूप मे प्रतिपादित किए गए हैं। उदाहरणस्वरूप, सत्य बोलो, चोरी मत करो आदि ऐसे नियम है जोकि आदेश देनेवाले हैं। किन्तु ये ऐसे नियम भी है, जिनपर चलने के लिए किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नही है और न ही कोई बाहरी दबाव इन नियमों का पालन कराने मे सफल हो सकता है। यदि कोई शक्ति हमे इन नियमो पर चलने के लिए प्रेरित करती है, जो वह अन्तरात्मक शक्ति है एव हमारी अन्तर्दृष्टि है। जब तक उस अन्तर्दृष्टि के आदेश का पालन न किया जाए, तव तक कोई भी उद्देश्य नैतिक नही माना जा सकता। अत नैतिक आदर्श की पूरी व्याख्या तभी हो सकती है, जब हम अन्तर्दृष्टयात्मक (Intuitive) नैतिक सिद्धान्तो का भी अध्ययन करे। ये अन्तर्दृष्टयात्मक सिद्धान्त, अन्त करण तथा अन्तरात्मक तर्क के नियम के सिद्धान्त है। अगले अध्याय मे हम इन्ही सिद्धान्तो का व्याख्यापूर्वक अध्ययन करेगे और उसके पश्चात् ही हम यह निर्णय देने के योग्य हो सकते है कि 'अधिक से अधिक व्यक्तियो के अधिक से अधिक सुख' को किस सीमा तक और किन साधनो को अपनाकर उद्देश्य माना जा सकता है।

छठा अध्याय

आचार के अन्तर्दृष्टयात्मक सिद्धांत

(Intuitive Schools of Ethics)

सुखवाद का अध्ययन करते हुए हम इस परिणाम पर पहुचे थे कि उपयोगितावाद हमारे सामने एक उद्देश्य तो प्रस्तुत करता है, किन्तु उसमे उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने की प्रेरणा का अभाव है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ निस्सन्देह आन्तरिक सूझ एव आन्तरिक प्रेरणा है, जो मनुष्य को विशेष मार्ग पर चलने एव कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इसमे कोई सन्देह नही कि नैतिक व्यवहार बाहरी दबाव के द्वारा कदापि उत्पन्न नही होता, चाहे वह दबाव राजनीतिक सत्ता का दबाव हो, चाहे सामाजिक बन्धनो का एवं रूढिवाद का दबाव हो और चाहे वह नरक और स्वर्ग के भय से युक्त, ईश्वरीय दबाव हो। मनुष्य की श्रेष्ठता का मूल तत्त्व उसकी सूझ है, उसकी वह विवेक-शक्ति है जो उसे यह निर्णय देने मे समर्थ बनाती है कि अमुक वस्तु शुभ है, अमुक अशुभ है, अमुक सुन्दर है, अमुक असुन्दर है। इसी मानवीय अन्तरात्मक विवेक को ही अन्तर्दृष्टि कहा जाता है। कुछ दार्शनिको का विचार है कि यह नैतिक अन्तर्दृष्टि अधिक व्यापक है और हमे यह बताती है कि कुछ कर्म अपने-आपमे असत् है और कुछ सत् है, कुछ अशुभ हैं और कुछ शुभ है, चाहे हम उन्हे व्यक्तिगत रूप से ऐसा मानें या न माने, हमारी अन्तर्दृष्टि जोकि एक विशेष शक्ति है, हमे हर समय नैतिक निर्णय पर पहुचने मे सहायता देती है। इस अन्तर्दृष्टि को हम नैतिक सूझ (Moral Sense) एव भावना अथवा अन्त करण (Conscience) अथवा तर्क का नियम (Law of Reason) कह सकते है। नैतिकता का अन्तर्दृष्टयात्मक मत निस्सन्देह सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। जनसाधारण इस बात को मानकर चलते है कि प्रत्येक व्यक्ति, साधारणतया स्वभाव से, शुभ-अशुभ और सत्-असत् मे विवेक कर सकता है। ईसाई धर्म भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करता है और अन्त करण को ईश्वर की आवाज मानता है। उसके अनुसार यह आन्तरिक प्रेरणा ऐसा ईश्वरीय आदेश है, जिसपर चलने से व्यक्ति आत्मविकास कर सकता है। यदि इस आन्तरिक शब्द को सुनकर उसका अनुसरण किया जाए, तो हमारी यह अन्तर्दृष्टि प्रवृद्ध हो सकती है और इस प्रवृद्धि के द्वारा व्यक्ति नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुंच सकता है।

अन्त करण एव अन्तर्दृष्टि को नैतिकता का आधार मानने मे जनसाधारण का मत भी समर्थन करता है। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति अन्त करण को छठी ज्ञानेन्द्रिय मानते है। इसी प्रकार का एक जनसाधारण के अनुभव पर आधारित दृष्टिकोण नैतिक सूझ का सिद्धान्त (Moral Sense School) कहलाता है। धार्मिक दृष्टिकोण से अन्तर्दृष्ट्यात्मक प्रेरणा को एक आन्तरिक आवाज़ स्वीकार किया जाता है। इस मत के आधार पर जो नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, उसे अन्त करण का नियम (Law of Conscience) कहते हैं। ये दोनो नैतिक सिद्धान्त इस बात को मानकर चलते हैं कि मनुष्य मे यह अन्तर्दृष्टि अभ्यास के द्वारा विकसित की जा सकती है। इन सिद्धान्तो के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त, जोकि अन्तर्दृष्टि को तर्क का नियम स्वीकार करता है, अधिक स्पष्ट रूप से एक ऐसे नैतिक नियम का प्रतिपादन करता है, जिसके आदेश का पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। इस नैतिक सिद्धान्त को निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त (Doctrine of Categorical Imperative) कहा गया। अत हम इस अध्याय मे तीन मुख्य नैतिक सिद्धान्तो का अध्ययन करेगे जिन्हे क्रमश इन नामो से अभिहित किया गया है ·

(१) नैतिक सूझ का सिद्धान्त (Moral Sense School)
(२) अन्त.करण का सिद्धान्त (Law of Conscience)
(३) निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त (Doctrine of Categorical Imperative)

नैतिक सूझ का सिद्धान्त

इस नैतिक दृष्टिकोण के अनुसार, जब हम किसी कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक घोषित करते हैं, तो हमारा यह निर्णय किसी बाहरी निरीक्षण के आधार पर नही होता और न ही किसी तर्क के आधार पर होता है, अपितु वह हमारे अन्तस् मे स्थित एक ऐसे भाव के आधार पर होता है, जो हमे स्वत ही सत्-असत् का ज्ञान देता है। दूसरे शब्दो मे, हमारे नैतिक निर्णय का कारण, हमारी स्वाभाविक नैतिक सूझ (Moral Sense) है। 'नैतिक सूझ' पद का प्रयोग सर्वप्रथम नैतिक लेखक हचीसन (१६९४–१७४७) ने अपनी पुस्तक 'नैतिक दर्शन का सिद्धान्त' (System of Moral Philosophy) मे किया। उसके अनुसार हम अपनी नैतिक धारणाए उसी प्रकार बनाते है, जिस प्रकार कि हम रग की धारणा बनाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब हम विशेष लाल वस्तुओ को देखते हैं और उन्हे देखने के पश्चात् एक सामान्य गुण की धारणा बना लेते है, तो वही धारणा लाल रग की धारणा होती है। इसी प्रकार हम जब ऐसी विशेष परिस्थितियो का निरीक्षण करते है, जिनमे कि नैतिक गुण शुभ-अशुभ उपस्थित होते है; और हम इन विशेष घटनाओ से नैतिक गुणो का पार्थक्य करते है, तब हम सत्-असत् अथवा नैतिक-अनैतिक की धारणा बनाते हैं। जिस प्रकार लाल रग के सम्बन्ध मे हमारी देखने की प्रवृत्ति, जोकि एक विशेष

क्षमता है (और जो स्वाभाविक रूप से हममे उपस्थित है), लाल रग को देखती है और जिस प्रकार उस क्षमता की अनुपस्थिति मे हमे लाल रग की धारणा प्राप्त नही हो सकती, उसी प्रकार नैतिकता के सम्बन्ध में हमारी विशेष प्रवृत्ति, क्षमता अथवा नैतिक सूझ, उन नैतिक गुणो का निरीक्षण करती है, जोकि मनुष्यो तथा वस्तुओ के जगत् मे उपस्थित होते है। अत यदि हममे वह नैतिक सूझ की क्षमता न हो, तो हमारी नैतिक धारणाए कभी नही बन सकती। इस नैतिक सूझ को हचीसन ने कर्मों तथा भावनाओ मे सौन्दर्य की ऐसी सूझ कहा है, जिसके द्वारा हम अपने मे तथा दूसरो मे सद्गुण अथवा अवगुण का निरीक्षण कर सकते है।

नैतिक सूझ के सिद्धान्त के अनुसार, हम अपनी अन्तर्निहित भावना के अनुसार नैतिक आदर्श पर चलने की चेष्टा करते है। वह भावना ही हमारी नैतिकता की एकमात्र प्रेरणा है। अत हम जिस प्रकार सुन्दर वस्तु की ओर आकर्षित होते है, ठीक उसी प्रकार शुभ कर्म की ओर भी आकर्षित होते है। नैतिक सूझ का यह आधुनिक सिद्धान्त वास्तव मे प्राचीन यूनानी दार्शनिको की उस धारणा का प्रतीक है, जिसके अनुसार सुन्दर और शुभ को एक माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूनान मे स्टायक दार्शनिकों ने किया। उनके अनुसार केवल उसी कर्म को शुभ माना जाता था, जोकि सुन्दर (अर्थात् नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट) हो। हचीसन के अतिरिक्त शेफ्ट्सबरी (१६७१-१७१३) ने भी नैतिक सूझ के सिद्धान्त की पुष्टि की है। ये दार्शनिक सुन्दर और शुभ को एक मानकर आचार-विज्ञान को सौन्दर्यशास्त्र का अग बना देते हैं। शेफ्ट्सबरी के अनुसार हममे नैतिकता की भावना ठीक उसी प्रकार स्वभाव के रूप मे उपस्थित है, जिस प्रकार कि सौन्दर्य की भावना उपस्थित होती है। हम स्वच्छ इसलिए रहना चाहते हैं कि स्वच्छता की भावना हममे स्वत ही उपस्थित होती है। हमारे स्वच्छ रहने का कारण यह नही कि हम दूसरे लोगो को दिखाने के लिए ऐसा करे। यहा पर इस दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट करने के लिए शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण को उसीके शब्दो मे प्रस्तुत करना आवश्यक है:

" यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जोकि देखने मे भद्रपुरुष लगता हो, मुझसे यह पूछे कि मैं उस समय अपना नाक साफ क्यो करता हू, जबकि कोई व्यक्ति उपस्थित नही होता। सर्वप्रथम मुझे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह पूछनेवाला व्यक्ति बहुत ही भद्दा भद्रपुरुष होगा और मेरे लिए उस व्यक्ति को यह समझाना कि वास्तविक स्वच्छता क्या होती है, एक कठिन कार्य होगा। फिर भी इस बात की उपेक्षा करते हुए मैं उसके प्रति एक छोटा-सा उत्तर देने मे सन्तोष का अनुभव करूगा और कहूगा 'इसलिए कि मैं नाक रखता हू। मैं स्वय उस समय तक अपना आदर नही कर सकता, जब तक कि मैं इस बात को अनुभव नही कर लेता कि वास्तव मे मेरा अपने प्रति क्या कर्तव्य है और एक मानवीय जन्तु होने के नाते मेरे लिए क्या करना उचित है।' इसी प्रकार मैंने कई लोगो को यह पूछते हुए सुना है कि मनुष्य को अधेरे मे सत्यपरायण क्यो होना चाहिए ? मैं यह तो नही कहूगा कि ऐसा प्रश्न करनेवाला व्यक्ति स्वय किस प्रकार का व्यक्ति

होगा। ' ' 'यथार्थ रूप से दार्शनिक चिन्तन करने का अर्थ अपनी भद्रता को एक कदम ऊचा ले जाना है।"[१]

शेफ्ट्सबरी के इस कथन का अर्थ यह है कि सदाचारी होना एवं सदाचार अथवा नैतिकता को व्यावहारिक जीवन मे लागू करना ही एकमात्र नैतिक गुण है। हम नैतिकता का अनुसरण औपचारिक रूप से नही करते और न ही किसी वाहरी दवाव के कारण ऐसा करते है। इसके विपरीत, शेफ्ट्सबरी के अनुसार नैतिकता एक प्रकार की वह अर्जित प्रवृत्ति एव आदत है जो हमे शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि अग्रेजी मे इस प्रवृत्ति, झुकाव अथवा आदत का पर्यायवाची शब्द 'टेस्ट' (taste) माना गया है। यहां पर इस शब्द का अर्थ सद्वृत्ति (Good taste) है। यह सद्वृत्ति न ही केवल हमे किसी कर्म का नैतिक दृष्टि से शुभ-अशुभ होने का ज्ञान देती है, अपितु वह एक प्रकार की आन्तरिक ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है, जोकि अधिक विकसित होने पर स्वत ही मनुष्य मे नैतिक नियम का पालन करने की आदत डाल देती है।

नैतिक सूझ एव प्रवृत्ति का यह सिद्धान्त हमे सामान्य व्यक्ति के लिए स्पष्ट नैतिक आदेश नही देता। यदि नैतिकता एक आन्तरिक भावना-मात्र है और प्रत्येक व्यक्ति मे वह भावात्मक प्रवृत्ति उपस्थित है, तो उससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने कर्म का नैतिक मूल्याकन करके और उसे सत्कर्म मानकर उसका आचरण करता है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक व्यक्ति का कर्म वास्तव मे नैतिक दृष्टि से सत्कर्म होता है। किन्तु जव हम विभिन्न व्यक्तियो के आचार पर दृष्टि डालते हैं, तो हमे यह मानना पडता है कि केवल विकसित सच्चरित्रवाले व्यक्ति ही नैतिक नियम का पालन स्वच्छन्द रूप से करते है और उनमे सत्कर्म का निर्वाचन करना तथा असत्कर्म का तिरस्कार करना एक

---

१. "Should one, who had the countenance of a gentleman ask me, 'why I would avoid being nasty when nobody was present?' In the first place, I should be fully satisfied that he himself must be a very nasty gentleman, who could ask this question ; and that it would be a hard matter for me to make him even conceive what true cleanliness was However I might, notwithstanding this, be contented to give a slight answer and say, it was because I had a nose honour myself I never could ; whilst I had no better sense of what, in reality, I owed myself, and what became me, as a human creature ...Much in the same manner have I heard it asked, why should a man be honest in the dark ? What a man must be to ask this question I won't say . To philosophize in a just signification is but to carry good breeding a step higher."

—An Essay on the Freedom of Wit and Humour In Characteristics, Part III, Section IV.

स्वभाव-मात्र हो जाता है। किन्तु जनसाधारण के विषय मे हम यह नही कह सकते कि उनका प्रत्येक कर्म स्वच्छन्द रूप से शुभ कर्म है अथवा वह स्वच्छन्द रूप से किसी कर्म को सत् अथवा असत् घोषित कर सकता है। शेफ्ट्सबरी इस बात की अवहेलना करता है कि यदि नैतिकता की सूझ एव प्रवृत्ति एक अर्जित प्रवृत्ति है और वह विकसित हो सकती है, तो हमे यह मानना पडेगा कि वह किसी व्यक्ति मे अधिक और किसी मे कम मात्रा मे विकसित है।

शेफ्ट्सबरी और हचीसन नैतिक सूझ के सिद्धान्त की पूरी व्याख्या नही कर सके। उन्होने यह बताने की चेष्टा अवश्य की है कि मनुष्य मे इस प्रवृत्ति का विकास उसके सामाजिक वातावरण के कारण होता है। उन्होने कहा है कि विकसित नैतिक सूझवाले व्यक्ति के लिए वही कर्म नैतिक होता है, जोकि सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी होता है, अर्थात् जो 'अधिक से अधिक व्यक्तियो का अधिक से अधिक सुख' उत्पन्न करता है। ऐसी व्याख्या करते हुए भी इस सिद्धान्त के प्रवर्तको ने नैतिक सूझ को एक निश्चित प्रवृत्ति मानकर उसकी अधिक व्याख्या करने को उचित नही समझा। यदि हम नैतिकता को अर्जित प्रवृत्ति मानकर उसकी व्याख्या करे, तो हम निस्सन्देह इस परिणाम पर पहुचेगे कि यह सिद्धान्त व्यावहारिक सिद्ध नही हो सकता। उसका एक कारण तो यह है कि यदि नैतिक सूझ का विकास सामाजिक वातावरण पर निर्भर है, तो विभिन्न व्यक्तियो मे यह प्रवृत्ति विभिन्न प्रकार की होगी। इस प्रकार नैतिकता एक दक्षता हो जाएगी, जो किसीमे कम और किसीमे अधिक मात्रा मे उपस्थित होगी। इस अवस्था मे यदि नैतिक सूझ को नैतिकता का आधारभूत नियम मान भी लिया जाए, तो भी यह स्पष्ट है कि यह नियम सब लोगो पर समान रूप से लागू नही किया जा सकता, क्योकि इस प्रवृत्ति का विकसित होना विभिन्न परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। नैतिक सूझ का सिद्धान्त हमारे सामने ऐसा व्यापक आदर्श प्रस्तुत नही करता, जोकि मानव-मात्र के लिए अनिवार्य रूप से पालन करने योग्य हो अथवा जो प्रत्येक मनुष्य के लिए, प्रत्येक धर्म-सकट मे, निरपेक्ष आदेश देने के योग्य हो। अत नैतिकता को सौन्दर्य के निर्वाचन की भाति दक्षता एव कला नही माना जा सकता।

किन्तु यह दृष्टिकोण सर्वथा असगत है, यह भी स्वीकार नही किया जा सकता। नैतिक कर्म के निर्वाचन मे हमारे भावो का स्थान अवश्य है। शेफ्ट्सबरी ने नैतिक विवेक को एक प्रकार की आन्तरिक वृत्ति मानकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि किसी कर्म को उसके बाहरी परिणाम के आधार पर ही शुभ नही माना जा सकता और न ही किसी व्यक्ति को उसके औपचारिक शिष्टाचार के कारण सदाचारी कहा जा सकता है। शेफ्ट्सबरी के शब्दो मे, "एक अच्छा व्यक्ति वह होता है, जोकि अपने स्वभाव अथवा भावो के झुकाव से प्रेरित होकर तुरन्त शुभ की ओर आकर्षित होता है और अशुभ का विरोध करता है, न कि वह व्यक्ति है, जो गौण रूप से अथवा आकस्मिक

परिस्थितियो के वश मे नैतिक कर्म करता है।"[1] दूसरे शब्दो मे, केवल औपचारिक दृष्टि से शुभ कर्म करना ही नैतिकता नही है, अपितु वास्तविक नैतिकता वह है, जो मनुष्य के स्वभाव से एव उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति से परिस्फुटित होती है।

शेफ्ट्सवरी का यह दृष्टिकोण आन्तरिक सद्वृत्ति पर वल देकर एकागी सिद्धान्त अवश्य प्रस्तुत करता है, किन्तु वह हमे चेतावनी देता है कि हम किसी व्यक्ति को केवल इसलिए ही सदाचारी न मान ले, क्योकि वह रुचि और उत्साह से जनता की सेवा करता है, अपितु इसलिए कि उसके (व्यक्ति के) अन्तस् मे सत् तथा असत् की सूझ एव अन्तर्दृष्टयात्मक प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दो मे, सत्कर्म वह कर्म है जो न्यायपूर्ण, समता तथा शुभ भावना द्वारा किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शेफ्ट्सवरी मध्यकाल के उस सिद्धान्त मे दृढ विश्वास रखता था, जिसके अनुसार भावो तथा सवेगो को कर्म का मुख्य स्रोत माना जाता था। उसने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए सरल भापा का प्रयोग किया है। चाहे उसका सिद्धान्त शत-प्रतिशत मान्य न हो, किन्तु उसने आचार-विज्ञान मे एक प्रेरणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। शेफ्ट्सवरी के दृष्टिकोण की व्याख्या हचीसन के द्वारा ही की गई है। उसने कहा है कि कर्म का मूल्याकन अथवा उसका औचित्य तथा वहिष्कार इतने सरल विचार हैं कि उनकी व्याख्या करना सम्भव नही है। इसलिए हचीसन नैतिक औचित्य को सूझ (Sense) कहता है। वह इस वात को स्पष्ट करने की चेष्टा करता है कि नैतिक मूल्याकन एक प्रत्यक्ष क्रिया है एव प्राथमिक अनुभव है, जोकि सान्तर अथवा तर्कात्मक ज्ञान से सर्वथा विभिन्न है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह इस सूझ को अन्तर्दृष्टयात्मक तत्त्व तो अवश्य मानता है, किन्तु उसका विशेष आशय यह है कि वह इस सूझ को सद्वृत्यात्मक स्वभाव से उत्पन्न स्वच्छन्द प्रवृत्ति एव क्रियात्मक सुझाव प्रमाणित करे। हचीसन के शब्दो मे, "प्रत्येक ऐसा कर्म जिसको कि हम नैतिक दृष्टि से शुभ अथवा अशुभ मानते है, वह कर्म है जो किसी न किसी ऐसे भाव से उत्पन्न होता है, जो हमारा सवेदनात्मक स्वभाव होता है, और जिसको हम गुण अथवा दोष कहते है या तो वह इसी प्रकार का भाव होता है और या कोई ऐसा कर्म होता है, जो उसका (भाव का) परिणाम होता है।"[2] इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्कर्म केवल वही कर्म नही है, जोकि अच्छे परिणाम मे फलित होता है, अपितु वह ऐसा कर्म है जो हमारे हृदय मे निहित सद्भावना से प्रेरित होता है। अत. शेफ्ट्सवरी तथा हचीसन का

---

१ Characteristics by Shaftsbury, Vol. II, Page 26

२. "Every action which we apprehend as either morally good or evil, is always supposed to flow from some affection towards sensitive natures, and whatever we call virtue or vice, is either some such affection, or some action consequent upon it."

—An Enquiry into the Origin of our Ideas of Beauty and Virtue by Hutchinson, IV Edition, Page 132

दृष्टिकोण आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व रखता है।

यदि हम शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण की सुखवाद से तुलना करे, तो हम यह कह सकते है कि जहा सुखवादी, सुख को केवल बाह्यात्मक विषयो द्वारा प्राप्त तृप्ति मानते है, वहा शेफ्ट्सबरी वास्तविक सुख (Happiness) एव प्रसन्नता को ऐसी उपाधि मानता है, जोकि बाहरी परिस्थितियो से सर्वथा स्वतन्त्र है और अन्तरात्मक है। इसको प्राप्त करने के लिए हमे प्रकृति की इच्छा (Will of Nature) के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। प्रकृति की इच्छा हमसे यह आशा करती है कि हम आत्मा की रक्षा तथा उसका विकास करे। किन्तु आत्मा के इस विकास का यह अर्थ नही कि हम स्वार्थसिद्धि को ही अपना लक्ष्य समझे। प्रकृति की इच्छा, जो एक व्यक्ति को प्रेरित करती है, वह अन्य व्यक्तियो को भी प्रेरित करती है। वह इच्छा सबके कल्याण को लक्ष्य बनाती है। अतः जो कर्म प्रकृति की इच्छा से प्रेरित होकर किया जाता है, वह ऐसा कर्म है जोकि व्यक्ति तथा समाज दोनो के हित का समन्वय करता है। इसलिए नैतिक सूझ का सिद्धान्त सुखवाद को एक आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करके उसे उपयोगितावाद बनाने मे सहायक सिद्ध होता है। यही कारण है कि सिजविक ने भी अन्त करण को एक आन्तरिक न्याय का नियम स्वीकार करके व्यक्तिगत सुखवाद तथा सामूहिक सुखवाद के सघर्ष को सुलझाने की चेष्टा की है।

अन्तःकरण का सिद्धान्त

पश्चिमीय दर्शन के इतिहास मे आचार-विज्ञान के सम्बन्ध मे विशप बटलर की विचारधारा का विशेष महत्त्व है। बटलर भी शेफ्ट्सबरी की भाति अन्तर्दृष्टयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और नैतिकता को आन्तरिक भावना से प्रेरित मानता है। किन्तु उसका यह सिद्धान्त नैतिक सूझ के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है और मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। बटलर मानवीय मनोविज्ञान को प्लेटो की भाति तीन भागो मे विभक्त करता है। इसका प्रथम भाग एव अग सवेगो अथवा भावो का समूह है। इन प्रवृत्तियो को वह क्रोध, कामवृत्ति, इच्छा, ईर्ष्या-द्वेष आदि प्रेरणाए कहता है। प्रत्येक ऐसी प्रेरणा का मुख्य उद्देश्य तृप्ति प्राप्त करना है। मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव का दूसरा अग अथवा स्तर दो ऐसे सामान्य नियम हैं, जो मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरित करते है और वे नियम जनहित अथवा उदारता (Benevolence) तथा आत्मप्रेम (Self-love) हैं। जनहित का अर्थ वह सार्वजनिक प्रवृत्ति है, जो हमे सब व्यक्तियो के 'अधिक से अधिक सुख' को लक्ष्य बनाने के लिए प्रेरित करती है। आत्मप्रेम वह प्रवृत्ति है, जोकि मनुष्य को अधिक से अधिक व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य के स्वभाव का तीसरा मनोवैज्ञानिक भाग अथवा स्तर वह उच्चतम नियम है, जिसे अन्त करण कहा गया है और जिसका अन्य सभी आतरिक नियमो एव प्रेरणाओ पर आधिपत्य है। यह अन्त करण निश्चित करता है कि किन

प्रेरणाओ को वांछनीय स्वीकार किया जाए और किनको अस्वीकार। यह अन्त करण सर्वोपरि होने के कारण यह भी निर्णय देता है कि आत्मप्रेम तथा जनहित के अन्तरात्मक नियमो मे से किसका अनुसरण किया जाए।

बटलर मनुष्य के स्वभाव के इन तीनो स्तरो को अन्योन्याश्रित मानता है और तीनो को ही अपने-अपने स्थान पर उचित स्वीकार करता है। दूसरे शब्दो मे, बटलर का दृष्टिकोण एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। यदि हम मनुष्य के स्वभाव के तीनों स्तरों को ठीक प्रकार से परस्पर सम्बन्धित करें, तो हमारा कर्म शुभ हो सकता है। अशुभ कर्म तभी घटित होता है, जब हम मानवीय स्वभाव के इन तीनो अंगो को ठीक प्रकार से समन्वित नही करते अथवा जब हम उनमे से किसी एक अग को ही महत्त्व दे देते है। मनुष्य का यह स्वभाव एव उसके व्यक्तित्व के अग एक घड़ी की भांति यान्त्रिक पूर्ण है, जिसमे कि प्रत्येक अग दूसरे अग से सम्बन्धित है। जिस प्रकार कि एक घड़ी के विभिन्न पुरजों को जानना-मात्र ही पर्याप्त नही है, अपितु यह जानना भी आवश्यक है कि उसके विभिन्न भागो का पूर्ण यत्र मे क्या स्थान है एव उनकी क्या क्रिया है, ठीक उसी प्रकार मानवीय स्वभाव को समझने के लिए केवल उसके विभिन्न अगो को जानना ही पर्याप्त नही है। इसके विपरीत इन विभिन्न अगो के सम्यक् सम्बन्ध का ज्ञान रखना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न अगो, प्रेरणाओ, जनहित तथा आत्मप्रेम के नियमो तथा अन्त करण के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए बटलर कहता है कि प्रेरणाओ को जनहित तथा आत्मप्रेम के नियमो के अधीन करना चाहिए और इन नियमो को अन्त करण के आधिपत्य मे होना चाहिए। अत. बटलर अन्त करण के सिद्धान्त को, जिसको कि वह न्याय एव सदाचार का उच्चतम नियम मानता है, अन्य सभी नियमो से श्रेष्ठ स्वीकार करता है। उसके अनुसार यह नियम मानवीय स्वभाव का सर्वोत्तम तत्त्व होने के कारण ऐसा निरपेक्ष सिद्धान्त है कि जिसके आदेश का अनुसरण करना प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। बटलर का कहना है कि अन्त करण का यह सिद्धान्त इतना प्रभावशाली सिद्धान्त है कि इसके द्वारा हम न ही केवल अपने भावात्मक कर्मो का मूल्याकन करते है, अपितु जनहित तथा आत्मप्रेम के संघर्ष का भी निर्णय करते है। अन्त -करण की स्पष्ट धारणा तो नही बनाई जा सकती, किन्तु यह कहा जा सकता है कि उसकी एकमात्र सत्ता निर्णय देने मे, निर्देश मे एव आधिपत्य मे है। बटलर के शब्दो मे, "यह (अन्त करण) विचार अथवा स्वयं उस प्रवृत्ति का तत्त्वात्मक अग है और प्राधान्य तथा राज्य करना इसके ऐसे तत्त्व हैं, जोकि मनुष्य के स्वभाव तथा मितव्ययिता से प्राप्त हुए है। यदि इसके पास उतना बल होता, जितना कि इसके पास अधिकार है ; उतनी शक्ति होती, जितना कि उसका अभिव्यक्त आधिपत्य है, तो वह विश्व के ऊपर निरपेक्ष रूप से

राज्य करता।"[१]

बटलर के अनुसार, एक आदर्श मानवी स्वभाव मे अन्त करण आत्मप्रेम तथा जनहित पर आधिपत्य करता है अर्थात् वह इस बात का निर्णय करता है कि इन दोनो नियमो की सीमाए क्या है। इसी प्रकार आत्मप्रेम और जनहित विशेष प्रेरणाओ की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वे दोनो यह निश्चित करते है कि इन प्रेरणाओ की तृप्ति किस सीमा तक होनी चाहिए ? बटलर अन्त करण के आधिपत्य पर बल इसलिए देता है कि किसी भी सामान्य मनुष्य मे उसका आत्मप्रेम उसके अन्त करण पर विजयी हो सकता है और इस प्रकार जनहित की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि किसी व्यक्ति मे आत्मप्रेम की अपेक्षा जनहित का नियम अधिक प्रभावशाली हो जाए और वह व्यक्ति आत्मप्रेम की उपेक्षा करके अपने प्रति न्याय न कर सके। ऐसी घटना तब घटित होती है, जबकि कोई मनुष्य अपने को सुसस्कृत करने की क्रिया की अवहेलना करता है और जन-कल्याण मे इतना प्रवृत्त हो जाता है कि वह अपने स्वास्थ्य और सुख को भी उपेक्षा के कारण खो बैठता है। दोनो प्रकार के व्यक्ति एकागी दृष्टिकोण रखने के कारण नैतिक नही कहे जा सकते, यद्यपि हम प्राय आत्मप्रेम से प्रभावित व्यक्ति को अनैतिक समझते है और स्वार्थ की अवहेलना करनेवाले परमार्थी व्यक्ति को बुरा नही समझते। इसी प्रकार किसी व्यक्ति मे विशेष प्रेरणाए भूख, कामवृत्ति आदि आवश्यकता से अधिक उग्र हो सकती है और वे आत्मप्रेम तथा जनहित दोनो नियमो पर आच्छादित हो सकती है। आत्महित पर अनेक बार अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध आदि इतने आच्छादित हो जाते है कि वे व्यक्ति के सुख को तथा समाज के कल्याण को क्षति पहुचाते है। इसलिए आदर्श मानवी स्वभाववाला व्यक्ति वही है, जिसकी विशेष प्रेरणाए आत्मप्रेम तथा जनहित के अधीन होती है और आत्मप्रेम तथा जनहित के दोनो सामान्य नियम अन्त - करण के परम नियम के अधीन होते है।

बटलर के अनुसार, अन्त.करण के परम नियम के दो मुख्य अग है एक ज्ञानात्मक अग (Cognative aspect) और दूसरा अधिकारात्मक अग (Authoritative aspect)। ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से, अन्त करण एक तर्कात्मक एव विचारात्मक नियम है। उसके विचार के विषय कर्म, व्यक्तियो के चरित्र तथा उनके उद्देश्य होते हैं। अन्त करण इन कर्मों का केवल प्रत्याह्वान नही करता, अपितु उनके सत्-असत् होने पर तर्क-वितर्क एव चिन्तन करता है। दूसरे शब्दो मे, अन्त करण मे सत्-असत् का निर्णय देने के लिए बौद्धिक तत्त्व उपस्थित होता है। अत अन्त करण असत्कर्म मे और ऐसे कर्म मे भेद मानता

१. "This is a constituent part of the idea, that is, of the faculty itself; and to preside and govern, from the very economy and constitution of man, belongs to it Had it strength, as it has right, had it power, as it has manifest authority, it would absolutely govern the world" —Bishop Butler Sermon II.

है, जोकि अनायास किया गया हो और जिसका परिणाम असत् हो। जो कर्म जान-बूझकर किसी व्यक्ति को क्षति पहुचाने के लिए किया जाए, ऐसे कर्म को तो अन्त.करण असत् घोषित करता है, किन्तु अनजाने मे किए गए हानिकारक कर्म को असत् नही मानता। इसी प्रकार यदि किसी निर्दोष मनुष्य को दु ख सहन करना पडता है, तो उसके प्रति हमारे अन्त:करण मे सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु जो व्यक्ति अपने कुकर्म के फलस्वरूप दु ख भोग रहा हो, उस समय हमारे अन्त करण मे सहानुभूति की भावना नही होती। अत हम यह कह सकते है कि ज्ञानात्मक दृष्टि से अन्त करण हमारी वह आन्तरिक प्रवृत्ति है, जो व्यक्तियो, कर्मो तथा उद्देश्यो के प्रति शुभ-अशुभ और सत्-असत् के प्रकरण मे निर्णय देती है। यहा पर यह कहना आवश्यक है कि अन्त करण इस प्रकार का निर्णय देते समय कर्मों तथा उद्देश्यो को कर्म करनेवाले व्यक्ति अथवा कर्ता के चरित्र से पृथक् नही करता। इसके विपरीत अन्त करण का निर्णय कर्ता के आदर्श स्वभाव पर ही निर्भर रहता है। उदाहरणस्वरूप, एक शिशु अथवा एक पागल व्यक्ति का आदर्श, स्वभाव एव व्यक्तित्व एक सामान्य बुद्धिवाले प्रौढ मनुष्य से विभिन्न होता है, अत. अन्त -करण इन तीनो व्यक्तियो द्वारा किए गए कर्म का निर्णय समान नही देगा।

अन्त करण के अधिकारात्मक अग का अर्थ यह है कि अन्त करण द्वारा दिया गया निर्णय न ही केवल वाछनीय होता है, अपितु वह अन्तिम निर्णय स्वीकार किया जाता है। जो निर्णय अन्त करणं देता है, वह सम्भवतया आत्मप्रेम के द्वारा अवाछनीय माना जा सकता है अथवा जनहित की प्रवृत्ति के विरुद्ध हो सकता है, किन्तु वह इन दोनो से ऊपर उठा हुआ होता है और इसलिए उन दोनो से श्रेष्ठ होता है। यदि आत्मप्रेम और जनहित के नियमो का परस्पर सघर्ष हो जाए, तो इन दोनो मे से किसीके भी स्वभाव मे ऐसा तत्त्व उपस्थित नही है, जोकि किसी एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ घोषित करे। कई बार आत्मप्रेम के लिए जनहित के सामने सिर झुका देना उचित होता है और कई बार जनहित का आत्मप्रेम के द्वारा पराजित होना उचित होता है। किन्तु अन्त करण इन दोनो की अपेक्षा श्रेष्ठ है और वह कदापि इनसे पराजित नही होता। एक आदर्श मनुष्य मे अन्त करण कदापि जनहित अथवा आत्मप्रेम के अधीन नही हो सकता। इस प्रकार बटलर अत करण को उच्चतम निर्णायक घोषित करता है।

इस प्रकार बटलर के द्वारा प्रस्तुत किया गया सिद्धान्त केवल अन्त करण से प्रेरित कर्म को ही नैतिक घोषित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आत्मप्रेम तथा जनहित के नियमो का मानवीय जीवन मे अपना स्थान अवश्य है, किन्तु इनका यह स्थान भी अन्त.-करण के द्वारा ही निश्चित किया जाता है। एक स्थान पर बटलर यह कहता है कि अन्त -करण तथा आत्मप्रेम मे परस्पर सघर्ष नही हो सकता, क्योकि अन्त करण किसी भी ऐसे कर्म को उचित घोषित नही करता, जोकि युक्त आत्मप्रेम अथवा युक्त स्वार्थ के विरुद्ध हो। इसी प्रकार सुख की प्राप्ति के सम्बन्ध मे भी बटलर अन्त करण की प्रेरणा को ही एकमात्र आदेश मानता है। बटलर की यह धारणा थी कि जो कर्म अन्त करण के आदेश

से किया जाए, वह निस्सन्देह जन-कल्याण के लिए ही होगा। यहां पर यह कह देना उचित है कि बटलर की अन्त करण मे अगाध निष्ठा इसलिए है कि वह अन्त करण को ईश्वर की देन मानता है। अतः उसके सिद्धान्त के अनुसार हमारा कर्तव्य अपने अन्त करण के अनुसार कर्म करना है और सार्वजनिक सुख को केवल उन्ही साधनो द्वारा प्रवृद्ध करना है, जिनको कि अन्त करण स्वीकार करता है, चाहे हमारा अपना विचार यह भी कहता हो कि हम असत्य और पक्षपात के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियो मे ऐसे सुख को अधिक प्रवृद्ध कर सकते है। अन्त करण के आदेश को व्यक्तिगत विचार की अपेक्षा बटलर इसलिए श्रेष्ठ मानता है कि अन्त करण ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट होता है और ईश्वर मनुष्य की अपेक्षा सार्वजनिक सुख की सम्भावना को अधिक जानता है।

बटलर के दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या यह प्रमाणित करती है कि उसके अन्त - करणवाद का उद्देश्य एक अन्तर्दृष्टयात्मक व्यापक नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। बटलर अन्त करण को व्यापक इसलिए स्वीकार करता है कि उसके अनुसार यह एक ऐसा आन्तरिक नियम है, जो प्रत्येक सामान्य व्यक्ति मे उपस्थित रहता है। उसका यह मनोवैज्ञानिक तर्क यह तो प्रमाणित करता है कि अन्त करण सभी मनुष्यो मे समान रूप से उपस्थित है, किन्तु वह अन्त करण की प्रवृत्ति के निर्माण की पृष्ठभूमि की अवहेलना करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान, और विशेषकर मनोविश्लेषण का अनुसधान यह बतलाते है कि अन्त करण का उद्भव बाल्यकाल की दबी हुई इच्छाओ के कारण होता है। यदि यह सत्य है, तो अन्त करण को सत्-असत् कर्म का एकमात्र निर्णायक मानना असगत होगा।

यदि अन्त करण को एक जन्मजात ऐसी मूल प्रवृत्ति भी मान लिया जाए, जोकि मनुष्य को ऐसे कर्म करने की प्रेरणा देती है, जोकि समाज की भलाई के लिए उपयोगी होते है, तो भी इसका विकास उस सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है, जिसके प्रभाव से व्यक्ति-विशेष मे अन्त करण का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्त - करण का विकास वातावरण के प्रभाव से ही होता है और वह वातावरण विशेषकर उन धारणाओ तथा मान्यताओ पर निर्भर होता है, जोकि विशेष समाज मे प्रचलित होती है। यही कारण है कि कुछ कर्म ऐसे होते है, जोकि एक व्यक्ति के अन्त करण के अनुसार वाछनीय होते है और दूसरे व्यक्ति के अन्त करण के अनुसार अवाछनीय ; क्योकि उन दोनो का सामाजिक वातावरण विभिन्न होता है और उनके अन्त करण भी विभिन्न होते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति व्याख्या की दृष्टि से विभिन्न अन्त करण रखता है, यदि कोई विश्व-व्यापी आदर्श अन्त करण नही है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत अन्त करण को नैतिक निर्णायक मानना हर प्रकार के कर्मो को शुभ घोषित करना है। इसका कारण यह है कि एक चोर और डाकू भी विशेष वातावरण मे रहने के कारण, विशेष प्रकार के अन्त - करण का विकास करता है और उसके अनुसार ही व्यवहार करता है। किसी भी व्यक्ति-विशेष का अन्त करण उसकी अपनी दृष्टि से अनैतिक नही होता, किन्तु अन्य व्यक्तियो

की दृष्टि से वह अनैतिक हो सकता है। रसकिन के शब्दो मे, "किसी व्यक्ति का अन्त करण एक गधे का अन्त करण (The conscience of an ass) भी हो सकता है।" किन्तु जब बटलर अन्त करण को नैतिकता का आधार स्वीकार करता है, तो हम यह कह सकते हैं कि उसका अभिप्राय व्यक्तिगत अन्त.करण से नही है, अपितु सामान्य व्यापक अन्त करण से है। इस धारणा मे भी कठिनाई यह उत्पन्न हो जाती है कि यह व्यापक अन्त.करण मनुष्य मे कैसे उत्पन्न होता है। यदि यह व्यापक अन्त करण भी सामाजिक वातावरण का परिणाम है, तो हमे यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न देशो मे और इतिहास के विभिन्न युगो मे मनुष्य का यह व्यापक अन्त करण भी विभिन्न प्रकार का होगा। अत अन्त करण को हर अवस्था मे एक सापेक्ष प्रेरणा ही मानना पड़ेगा। दूसरे शब्दो में, अन्त करण का सिद्धात रोचक होते हुए भी नैतिक आदर्श नही बन सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य अवश्य हो सकता है और इसे प्रेरणाओ तथा आत्मप्रेम और जनहित के नियमो से श्रेष्ठ भी अवश्य माना जा सकता है। किन्तु उसका अभिप्राय यह नही कि अन्त करण प्रत्येक व्यक्ति के धर्मसकट मे एक अचूक नियम है। इस सापेक्षता के कारण अन्त करणवाद को एकमात्र नैतिक आदर्श स्वीकार करना और उसके आदेश को प्रत्येक परिस्थिति मे लागू करना एक भूल है। यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि बटलर स्वय इस कठिनाई का अनुभव करता है और उसकी धारणा है कि हमारे जीवन की प्रत्येक घटना को अन्त करण के द्वारा नियन्त्रित नही किया जाना चाहिए। उसका यह विश्वास है कि अन्त करण को आगे लाने की अपेक्षा जितना अधिक पृष्ठभूमि मे रखा जाए, उतना अच्छा है। उसका कहना है कि हमे अपने कर्मों को निरन्तर अन्त करण के परीक्षण मे नही रखना चाहिए, किन्तु वे कर्म ऐसे होने चाहिए, जोकि परीक्षा किए जाने पर अन्त करण द्वारा स्वीकार किए जा सके। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अन्त करण भी नैतिक सूझ की भाति एक अस्पष्ट प्रवृत्ति ही प्रमाणित होता है।

अन्त.करणवाद की यह आलोचना बौद्धिक दृष्टि से एक सगत आलोचना है। यदि हमारा नैतिक नियम एक व्यापक नियम है और वह प्रत्येक व्यक्ति मे समान रूप से उपस्थित है, तो वह नियम एक अस्पष्ट प्रवृत्ति-मात्र नही हो सकता, चाहे उस प्रवृत्ति को नैतिक सूझ कहा जाए, चाहे उसे ईश्वरकी देन कहा जाए। यदि अन्तरात्मक नैतिक नियम व्यापक हो सकता है, तो वह निस्सन्देह एक स्पष्ट तर्कका नियम (Law of Reason) होना चाहिए। ऐसा स्पष्ट नियम ही हमे निरपेक्ष आदेश दे सकता है और हमारे सभी कर्मों का मूल्यांकन करने मे सहायक हो सकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि नैतिक आदर्श केवल वही नियम बन सकता है, जो हर अवस्था मे और हर समय पर समान रूप से लागू किया जा सके। ऐसा निरपेक्ष नियम हमे काट के निरपेक्ष आदेशवाद के सिद्धान्त मे मिलता है। अत अब हम काट के नैतिक दृष्टिकोण का अध्ययन करेगे।

कांट का निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त

इससे पूर्व कि हम काट के नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या करे, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि काट के सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण की सक्षिप्त व्याख्या की जाए। एमेनुअल काट जर्मनी का विख्यात तत्त्ववादी विचारक हुआ है, जिसने कि विशेषकर ज्ञान-मीमासा के क्षेत्र मे मौलिक धारणाए प्रस्तुत की है। उसकी सम्पूर्ण विचारधारा तर्क पर आधारित है और उसकी प्रत्येक धारणा बौद्धिक विश्लेषण की अद्भुत उत्पत्ति है। अत उसका दर्शन आरम्भ से अन्त तक एक बुद्धिवादी दर्शन है, जोकि आलोचनात्मक और तर्कात्मक है। काट की तीन मुख्य कृतिया हैं ' 'निर्णय की आलोचना' (Critique of Judgment), 'विशुद्ध तर्क की आलोचना' (Critique of Pure Reason) तथा 'व्यवहारात्मक तर्क की आलोचना' (Critique of Practical Reason)। जैसाकि उसकी कृतियो के शीर्षको से स्पष्ट है, वह इनमे मनुष्य के ज्ञान तथा उसकी तर्कात्मक प्रवृत्तियो की बौद्धिक व्याख्या करता है। सर्वप्रथम वह ज्ञान की क्षमता और विचार की उन धारणाओ की व्याख्या करता है, जिनके आधार पर मनुष्य के विचार की प्रक्रिया विकसित होती है। 'विशुद्ध तर्क की आलोचना' मे काट इस परिणाम पर पहुचता है कि हमारा विश्व के प्रति ज्ञान अन्तरात्मक प्रक्रिया है, और विज्ञान का क्षेत्र बाहरी वस्तुओ द्वारा प्राप्त इसी अन्तरात्मक एव तथ्यात्मक (Phenomenal) सिद्धान्तो को एव मन द्वारा निर्मित ज्ञान के आधार पर प्रकृति के व्याख्यात्मक सिद्धान्तो को प्रतिपादित करना है। काट का यह भी मत है कि विज्ञान केवल वस्तुओ के गुणो का विश्लेषण कर सकता है और भौतिक द्रव्य के व्यवहार की व्याख्या-मात्र कर सकता है, किन्तु वह यह नही जान सकता कि वस्तुए अपने-आपमे (Things in themselves) क्या है। इस प्रकार विशुद्ध तर्क के क्षेत्र मे वह वस्तु के आन्तरिक स्वरूप को अज्ञेय स्वीकार करता है। इसी अज्ञेयवाद के फलस्वरूप, काट व्यवहारात्मक तर्क की आलोचना मे ऐसी मान्यताओ को प्रस्तुत करता है, जिनके बिना हमारा व्यावहारिक जीवन निरर्थक हो जाता है। जैसाकि हमने आचार की आधारभूत मान्यताओ के सम्बन्ध मे पहले उल्लेख किया है, उसकी मुख्य मान्यताए ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा का अमरत्व और सकल्प की स्वतन्त्रता हैं। ये सभी धारणाए काट के उस नतिकवाद की देन है, जोकि उसके दर्शन का सवसे महत्त्वपूर्ण अग है। काट नैतिकता को मनुष्य का एक अभिन्न तत्त्व मानता है और उसका यह मत है कि नैतिक आदेश (Moral command) एक ऐसा आदेश है, जिसका उल्लघन कोई भी व्यक्ति नही कर सकता और जिसके बिना कोई भी मनुष्य, मनुष्य नही कहा जा सकता। वह नैतिक आदर्श को एक ऐसा अनिवार्य नियम मानता है, जो विश्वव्यापी है और जिसकी अवहेलना करना किसी भी सामान्य बुद्धिवाले मनुष्य के लिए अनुचित है। अत वह इस नियम की अन्य व्याप्त नियमो से तुलना करता है।

यदि हम आचार के नियमो की अन्य नियमो से तुलना करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि चाहे वे नियम राजनीतिक नियम हो, चाहे सामाजिक हो और चाहे वे किसी

विशेष विज्ञान के नियम हो, उन्हे इस प्रकार निरपेक्ष नही माना जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन मे हर समय और हर अवस्था मे उनपर आवश्यक रूप से चले। उदाहरणस्वरूप, अर्थशास्त्र के नियम एक सामाजिक विज्ञान के नियम है, जो विशेष परिस्थितियो मे सत्य प्रमाणित होते हैं। अनेक बार ये नियम व्यावहारिक क्षेत्र मे असत्य भी प्रमाणित होते है, किन्तु जो व्यक्ति व्यापार-उद्योग आदि में रुचि न रखता हो, वह इन नियमो के जाने बिना ही अपने जीवन का निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकता है। इसी प्रकार इजीनियरिंग-विज्ञान के नियम व्यापक नियम तो अवश्य है और वे देश और काल के भेद के बिना सब स्थानो पर समान रूप से लागू होते है, किन्तु इन नियमो का क्षेत्र भी केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है, जो मकानो तथा सड़को के बनाने अथवा नहरो आदिके खोदने से सम्बन्धित हो। जनसाधारण के लिए इन नियमो का जानना आवश्यक नही है। न ही केवल इतना, अपितु तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्य-विज्ञान जैसे आदर्शवादी विज्ञानो के नियम भी निरपेक्ष स्वीकार नही किए जा सकते। उदाहरणस्वरूप, तर्कशास्त्र के नियम हमे यह बताते है कि यथार्थ चिन्तन किस प्रकार किया जा सकता है। यदि हम तर्कशास्त्र के नियमो का पालन करे और उनको समझे, तो हम यह बता सकते हैं कि अमुक विचार यथार्थ है और अमुक अयथार्थ, अमुक तर्क-सगत है और अमुक दोषपूर्ण। किन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति तर्कशास्त्र के नियमो को अपने जीवन मे लागू किए बिना भी सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है। जो लोग वाद-विवाद मे रुचि रखते है और जिनका व्यवसाय ऐसा है कि उसमे वाद-विवाद के द्वारा दूसरो को प्रभावित करना पडता है, उनके लिए तो तर्कशास्त्र के नियम अनिवार्य माने जा सकते है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति ईश्वर मे विश्वास रखकर सद्भावना से अपना जीवन-निर्वाह करता है, उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह अपने जीवन के प्रत्येक कर्म मे तर्क-वितर्क करता रहे। अनेक बार आवश्यकता से अधिक तर्क करनेवाला व्यक्ति कुछ काम नही कर पाता और जीवन मे असफल रहता है। व्यावहारिक जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मविश्वास अथवा ईश्वरनिष्ठा की अधिक आवश्यकता रहती है, इसलिए हिन्दी के अद्वितीय कवि तुलसीदासजी ने कहा है:

"होइ है सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥"

इसमे कोई सन्देह नही कि आवश्यकता से अधिक तर्क करने का परिणाम नवीन सिद्धान्तों तथा नवीन दृष्टिकोणो को जन्म देता है। प्राय ये दृष्टिकोण एक-दूसरे के अनुकूल नही होते और इस प्रकार कम से कम बौद्धिक सघर्ष को जन्म अवश्य देते है। अत तर्कशास्त्र के नियमो को हम ऐसे निरपेक्ष नियम नही मान सकते, जोकि अनिवार्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर लागू किए जाएं। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे नियमो का जानना उचित है, किन्तु इस औचित्य की अवहेलना की जा सकती है और इस अवहेलना से सामाजिक जीवन को विशेष क्षति नही पहुच सकती। जहां तक आचार के नियमो का सम्बन्ध है, हमे यह स्वीकार करना पडता है कि ये नियम प्रत्येक सामान्य मनुष्य के लिए

इसलिए अनिवार्य है कि इनको जाने बिना और इनपर चले बिना, व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति वाद-विवाद से अपने-आपको पृथक् रखे, यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति तटस्थता का जीवन व्यतीत करते हुए, ललित कला आदि से सम्बन्ध न रखता हुआ, सौन्दर्यशास्त्र के नियमो की अवहेलना करता हुआ सफल जीवन व्यतीत करे, किन्तु यह बात सम्भव नही हो सकती कि कोई भी व्यक्ति सदाचार के नियमो का उल्लघन करे और उनको जानने के बिना ही जीवन व्यतीत करे। आचार के नियमो का सम्बन्ध हमारे कर्म से है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन मे कर्म करना ही पडता है। इजीनियरिंग के नियम भले ही केवल उन व्यक्तियो पर लागू हो सके, जोकि विशेष परिस्थितियो मे इस विज्ञान की सहायता लेना चाहते है और अन्य व्यक्ति इन नियमो से अपने-आपको पृथक् मान सकते है, क्योकि वे कह सकते है कि उनका भवन बनाने मे और सडको का निर्माण करने से कोई सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि सदाचार के नियम केवल उन व्यक्तियो के लिए हैं, जो नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहते है और अन्य व्यक्ति इन नियमो से मुक्त है। काट का कहना है कि "जो कर्म हमे करना चाहिए, वह करना ही चाहिए।"[1] कोई भी व्यक्ति अपने-आपको नैतिक औचित्य से पृथक् नही मान सकता। दूसरे शब्दो मे, नैतिक नियम ऐसा नियम है जो समान रूप से सभी व्यक्तियो पर, सभी परिस्थितियो मे अनिवार्य रूप से लागू होता है और जो किसी भी व्यक्ति को किसी विशेषता के कारण, नैतिकता को भग करने की आज्ञा नही देता। अत नैतिक नियम वह होना चाहिए, जोकि सर्वमान्य हो एव सापेक्ष हो।

काट का यह दृष्टिकोण स्वत. ही हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है, तो वह बाह्यात्मक न बनकर अन्तरात्मक ही होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, आचार का निरपेक्ष नियम वही नियम हो सकता है, जोकि मनुष्य के अन्तस् मे उपस्थित हो। यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष सिद्ध होगा, क्योकि सम्भवतया उसके पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियो पर निर्भर रहना पडेगा। राजनीतिक नियम नैतिकता का आदर्श नही बन सकता, क्योकि उसका प्रतिपादन और उसका परिवर्तन राजनीतिक सत्ता पर निर्भर रहता है। ईश्वर को भी नैतिकता के नियम का स्रोत नही माना जा सकता, क्योकि वह ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से मनुष्य के बाहर अस्तित्व रखता है। इस प्रकार काट इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि नैतिकता का निरपेक्ष नियम केवल मनुष्य मे ही नियत हो सकता है। उसका लक्ष्य मानवीय ही हो सकता है, इसलिए वह अपना उद्देश्यवादी दृष्टिकोण प्रतिपादित करते हुए मनुष्य को स्वलक्ष्य घोषित करता है और कहता है कि "मानव को, चाहे वह मानव तुम स्वय हो, चाहे कोई अन्य व्यक्ति हो, कदापि साधन मत बनाओ, अपितु सदैव उसे साध्य

---

१. "What we ought to do, we ought to do."

एवं लक्ष्य स्वीकार करो।"[1]

इस प्रकार अपने उद्देश्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कांट मनुष्य के अन्तस् मे निहित ऐसे क्रियात्मक तत्त्व को ढूढने की चेष्टा करता है, जो अपने-आपमे स्वलक्ष्य हो और जो ऐसा निर्विरोध हो कि प्रत्येक व्यक्ति उसे सत्कर्म का आधार स्वीकार कर सके। काट अपने बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा तुरन्त इस खोज मे सफल होता है और घोषित करता है कि वह विश्वव्यापी परममूल्य शुभ सकल्प एव सद्भावना एक अद्वितीय रत्न है, जो प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् मे निहित है। यह शुभ सकल्प ही ऐसा निरपेक्ष तत्त्व है, जोकि कदापि साधन नही बनता, अपितु साध्य रहकर स्वलक्ष्य सिद्ध होता है। हम ज्ञान, शक्ति, सम्पत्ति आदि गुणो एव मूल्यो को वाछनीय तो मानते है, किन्तु ये सभी मूल्य, साधन होने के कारण, अनैतिक कर्म को भी जन्म दे सकते है और देते है। शक्ति का प्राप्त करना एक लक्ष्य है, लोग सतत प्रयत्नो के पश्चात् शक्ति, अधिकार एव सत्ता को प्राप्त करते है, किन्तु उसको प्राप्त करने के पश्चात् सत्ता का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी। सत्ताधारी व्यक्ति अनेक बार अन्याय करता है, दूसरों के अधिकार की अवहेलना करता है और पक्षपात करता है। सत्ता को प्राप्त करने से पूर्व नम्र भाववाला व्यक्ति भी, सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् अभिमानी और स्वार्थी बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है:

"कोउ न जन्मा अस जग माही। प्रभुता पाइ जाइ मद नाही॥"

अत. सत्ता की प्राप्ति को हर अवस्था मे वाछनीय इसलिए नही माना जा सकता कि वह साध्य नही है, अपितु साधन है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना एक सद्गुण है। ज्ञानी व्यक्ति निस्सन्देह उत्कृष्ट माना जाता है, किन्तु प्राय. यह देखा गया है कि ज्ञान भी मनुष्य को अभिमानी और स्वार्थी बना सकता है। जब तक अणुबम बनाने का ज्ञान केवल एक ही राष्ट्र तक सीमित था, तो यही ज्ञान विश्व मे भय और आतक का कारण बना हुआ था। यदि ज्ञान को रहस्य के रूप मे रखा जाए, तो वह अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध हो सकता है, इसलिए ज्ञान को भी स्वलक्ष्य स्वीकार नही किया जा सकता।

जहा तक सम्पत्ति एव धन का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक समय मे इसका वड़ा महत्त्व है। आज के समाज मे भी व्यक्ति का स्तर, उसकी सम्पत्ति एवं धन के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। धनवान व्यक्ति हर प्रकार के सुख को प्राप्त कर सकता है, वह अपनी सभी इच्छाओ की पूर्ति कर सकता है। यदि वह चाहे तो धन के द्वारा राजनीतिक सत्ता को भी प्राप्त कर सकता है और उच्च से उच्च कोटि के विद्वान के ज्ञान को भी मोल ले सकता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि अर्थ एक स्वलक्ष्य मूल्य है। अर्थ का जहा सदुपयोग हो सकता है, वहा उसका दुरुपयोग भी अधिकतर हो सकता है और होता है। धन की लालसा ही समाज मे रिश्वत और व्यभिचार

१. "Never treat man, either in thine own person or in that of others, as a means, but always as an end in himself"

का कारण बनती है। इसकी प्राप्ति के लिए लोग अनेक पापो का आचरण करते है और अन्याय तथा अत्याचार के द्वारा भी धन एकत्र करते है। अत सम्पत्ति एव अर्थ को, साधन होने के कारण, निरपेक्ष रूप से वाछनीय मूल्य कदापि स्वीकार नही किया जा सकता।

शुभ सकल्प का महत्त्व बतलाते हुए काट ने लिखा है, "इस विश्व मे अथवा विश्व के बाहर, शुभ सकल्प के अतिरिक्त कोई भी ऐसी बुद्धिगम्य वस्तु नही है, जिसको कि निरपेक्ष रूप से शुभ कहा जा सके। यदि प्रकृति की निष्ठुरता तथा कृपणता के कारण यह शुभ सकल्प किसी परिणाम मे फलित न भी हो सके और केवल शुभ सकल्प ही रह जाए, तो भी यह एक रत्न की भाति अपने ही प्रकाश से आभासित होगा।" काट इसी आन्तरिक शुभ सकल्प एव नैतिक सकल्प को भौतिक जगत् से श्रेष्ठ मानता है और उसे मनुष्य-मात्र के अन्तस् मे निहित स्वीकार करता है। यह नैतिक तत्त्व ऐसा तत्त्व है कि यह बाहरी जगत् के कार्य-कारण-सम्बन्ध से परे है और इसका कोई ठोस रूप नही है। इसकी प्राप्ति अथवा इसपर आधारित कर्म का नियम उस समय उत्पन्न हो सकता है, जबकि हम किसी परिस्थिति पर विचार करते हैं। इसकी उत्पत्ति काट के अनुसार मनुष्य के नैतिक स्वभाव से ही होती है। अत मानव एक नैतिक प्राणी होने के नाते वस्तु-जगत् के उस क्षेत्र का निवासी नही है, जिसमें कि वस्तुए आभास-मात्र प्रतीत होती है, अपितु वह उस क्षेत्र का निवासी है, जिसमे कि वस्तुए अपने यथार्थ रूप मे उपस्थित होती हैं। इसी कारण जब वह नैतिक नियम का पालन करता है तो कहा जाता है कि वह ऐसे नियम का पालन कर रहा है, जोकि उसके उस व्यक्तित्व से उत्पन्न होता है, जो उसकी विचारशीलता और उसके वास्तविक अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। नैतिकता एव नैतिक नियम की आज्ञा का यह पालन एक ऐसी नैतिक स्वतन्त्रता है, जिसकी व्याख्या नही की जा सकती। इसका कारण यह है कि व्याख्या का सम्बन्ध बुद्धि से होता है और बुद्धि केवल आभासित वस्तु-जगत् तक ही सीमित रहती है। वस्तु-जगत्, विज्ञान का एव तथ्यो की व्याख्या का जगत् है और नैतिक जगत् औचित्य, कर्तव्य एव मूल्यो का जगत् है।

इस प्रकार आकारात्मक होते हुए भी नैतिक सकल्प द्वारा हम नैतिक आदेश अवश्य प्राप्त कर सकते है। काट की यह धारणा थी कि नैतिक सकल्प जो आदेश देता है वह यह है कि हर अवस्था मे ऐसे सामान्य नियमो पर चलना चाहिए जिनको कि हम अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा नैतिक कर्तव्य मानते हैं। यह सामान्य नियम ऐसे हैं कि जिन्हे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ और परिस्थितियो की परवाह न करता हुआ स्वीकार करता है। उदाहरणस्वरूप, झूठ बोलना असगत है, प्रतिज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए, निष्ठुरता की अपेक्षा दया श्रेष्ठ है इत्यादि ऐसे सामान्य नियम हैं जिनको प्रत्येक व्यक्ति नैतिक स्वीकार करता है। काट का कहना है कि ये सभी नियम, जोकि नैतिक सकल्प द्वारा निर्धारित किए जाते है, ऐसे नियम है जो तर्कसगत है अर्थात् जिनमे विरोधाभास नही है। अत: हम नैतिक सकल्प पर आधारित एक ऐसे निरपेक्ष आदेश पर पहुच सकते है, जिसको कि

हम सर्वमान्य स्वीकार कर सकते हैं। काट का यह नियम इस प्रकार है, "उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो, जिसका कि तुम समान रूप से एक विश्वव्यापी नियम स्वीकार किए जाने का सकल्प कर सकते हो।"[१] .

काट इस नियम का प्रतिपादन करते समय अनेक उदाहरणो द्वारा इस निरपेक्ष नैतिक आदेश की व्याख्या करता है और यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि नैतिक कर्म वह कर्म है, जो विरोधाभास के विना विश्वव्यापी वनाया जा सकता है, जवकि अनैतिक कर्म ऐसा प्रमाणित नही हो सकता। अत उसके आदेश का अभिप्राय यह है कि हमे इस प्रकार कर्म करना चाहिए कि हम उस कर्म को उसी प्रकार करने के लिए विना विरोधाभास अथवा सघर्ष के प्रत्येक व्यक्ति का सकल्प वना सके। उदाहरणस्वरूप, वचन के भग करने की समस्या को लीजिए। यदि कोई व्यक्ति इस धर्मसकट मे पड़ जाए कि क्या उसे दिए गए वचन का पालन करना चाहिए या नही, तो इस धर्मसकट मे उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि क्या वचन का भग करना एक विश्वव्यापी संकल्प हो सकता है। यदि मान लीजिए कि वचन का भग करना विश्वव्यापी सकल्प वन जाता है, तो उसका परिणाम यह होगा कि सभी दिए गए वचन भग किए जाएगे। इस अवस्था मे, जवकि प्रत्येक दिया गया वचन भग होगा, तो कोई भी व्यक्ति वचन का विश्वास नही करेगा। जब सभी दिए गए वचन अविश्वसनीय होगे, तो कोई भी व्यक्ति वचन नही देगा। जव कोई भी वचन नही दिया जाएगा, तो कोई वचन भग भी नही होगा ; दूसरे शब्दो मे, वचन का भग करना एक विरोधाभास है एव असम्भव है। इस प्रकार काट शुभ और सत्य को प्रमाणित करता है। उसके अनुसार तर्क का नियम ही नैतिकता का नियम है। इसी नियम की पुष्टि करते हुए, कांट यह भी प्रमाणित करता है कि आत्महत्या को तथा चोरी करने को तथा लोगो की दुरवस्था के प्रति तटस्थता के कर्म को, इसलिए विश्वव्यापी नही वनाया जा सकता कि यदि ऐसा किया जाए, तो वह असंगत प्रमाणित होता है। जव हम किसी कर्म को दूसरो के द्वारा किए जाने की कल्पना नही कर सकते, तो ऐसे कर्म को हम अपने सकल्प का विषय भी नही वना सकते। अत काट का नैतिक सिद्धान्त हमे यह आदेश देता है कि हम ऐसे ढग से कर्म करे कि प्रत्येक व्यक्ति हमारे जैसी सामान्य परिस्थितियो मे उस कर्म के करने का सकल्प कर सके। काट का यह निरपेक्ष नैतिक आदेश आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व रखता है। इसमे कोई सन्देह नही कि यह सिद्धान्त सबसे अधिक व्याप्त सिद्धान्त है और यह प्रमाणित करता है कि अनैतिक कर्म सदैव हानिकारक कर्म होता है, किन्तु यह आकारात्मक होने के कारण अनेक व्यावहारिक नैतिक समस्याओ मे स्पष्ट रूप से हमारा मार्गदर्शन नही करता। इसलिए इस सिद्धान्त की कडी आलोचना

---

१. "Act only according to that maxim which you can at the same time will to be a universal law."

—Guide to Philosophy of Morals and Politics by C E. M. Jode, Op. cit. Page 208.

की गई है।

काट का सिद्धान्त एक अमूर्त सिद्धान्त इसलिए प्रमाणित होता है कि उसके शुभ सकल्प की धारणा एक विश्वव्यापी पूर्णतया स्वच्छन्द और स्वतन्त्र सकल्प की धारणा है। अत उसका निरपेक्ष आदेश हमे व्यावहारिक दृष्टि से किसी ठोस कर्म के करने की प्रेरणा नही देता। सर्वप्रथम हम यह कह सकते है कि काट का सिद्धान्त केवल निषेधात्मक आदेश देता है और वह आदेश भी एक सीमित क्षेत्र मे ही प्राप्त होता है। यदि हम उसके आदेश को अपने कर्म पर लागू करके इस परिणाम पर पहुचते हैं कि वह कर्म विश्वव्यापी सकल्प नही बन सकता, तो उसका अभिप्राय यह हो जाता है कि वह कर्म अवाछनीय है, एव उसका अनुसरण करना अनुचित एव अनैतिक है। यह हमे केवल इतना आदेश देता है कि हमे किस प्रकार के कर्म का तिरस्कार नही करना चाहिए और यह नही बतलाता कि कौन-से कर्म को स्वीकार करना चाहिए। जब हम इस आदेश से यह जानना चाहे कि हमारा कर्तव्य क्या है, तो यह एक कोरा सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि इसपर आचरण तभी हो सकता है, जब हम कुछ विशेष परिस्थितियो एव मान्यताओ को स्वीकार करके चले। यदि हम ऐसी मान्यताओ को लेकर नही चलते, तो काट के सिद्धान्त को लागू करने से एक शुभ कर्म भी अनैतिक प्रमाणित हो सकता है। यदि हम यह मानकर न चले कि सामाजिक जीवन की सफलता के लिए कुछ व्यक्तियो का विशेष परिस्थितियो मे ब्रह्मचारी रहना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य जैसा नैतिक कर्म भी अनैतिक सिद्ध होता है, क्योकि ब्रह्मचर्य को विश्वव्यापी सकल्प नही बनाया जा सकता। ससार के सभी मनुष्य जब ब्रह्मचारी हो जाए, तो उसका परिणाम शुभ के स्थान पर अशुभ ही होगा और ब्रह्मचर्य एक अवाछनीय कर्म हो जाएगा। इसी प्रकार यदि हम यह मानकर न चलें कि समाज मे दु ख के निवारण के लिए तथा नैतिक विकास के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है, तो समाज-सेवा जैसा नैतिक कर्म भी अनैतिक ही सिद्ध होगा। यदि सभी मनुष्य समाज-सेवा मे लग जाए, तो प्रश्न यह होता है कि सेवा करानेवाला कौन रहेगा। काट के सिद्धान्त से हमे नैतिक कर्म की ठोस सामग्री प्राप्त नही होती। अत उसका (काट का) शुभ सकल्प हमे कुछ स्पष्ट आदेश नही देता। वह केवल इतना बताता है कि सकल्प ही हमारे कर्म का लक्ष्य है, वह हमे यह नही बताता कि कौन-सा सकल्प हमारा लक्ष्य है। अत हम यही प्रश्न करके रह जाते है कि शुभ सकल्प क्या है। हम इस शुभ सकल्प को स्वतन्त्र सकल्प अथवा विश्वव्यापी सकल्प अथवा स्वच्छद सकल्प अथवा आकारात्मक सकल्प कह सकते हैं। अन्त मे हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि शुभ सकल्प सकल्प, का कोरा आकार ही है और यही लक्ष्य है, जिसकी मैंने अनु-भूति करनी है, वह मेरे व्यक्तित्व की ही अनुभूति है। वह अनुभूति किसी विशेष लक्ष्य की नही हो सकती। अत किसी विशेष अनुभूति न होने के कारण वह एक आकार-मात्र ही रह जाती है। यदि यह शुभ सकल्प हमारे सकल्प का आकार-मात्र ही है, तो इस आकार मे हमें ठोस सामग्री कहा से प्राप्त हो सकती है। यदि मैं इस आकार को अपने-आपपर

लागू करता हू, तो मै देखता हू कि मै आकार-मात्र नही हू । मेरे व्यक्तित्व मे अनुभवात्मक स्वरूप है; उसमे विशेष स्तरो की शृखला है; उसमे इच्छाओ, प्रवृत्तियो, सवेगो, सुखो तथा दु खो का समूह है । इस ठोस व्यक्तित्व को हम अपने अहं का सवेदनात्मक अग कह सकते है । हमारे व्यक्तित्व के इस अग मे ही वह सारी सामग्री उपलब्ध होती है, जो शुभ सकल्प के आकार मे रखी जा सकती है । इस सामग्री के विना संकल्प का आकार-मात्र अमूर्त रह जाता है । काट के सिद्धान्त की यह एक मुख्य त्रुटि है ।

यदि हम काट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करे, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि उसका सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक है। सकल्प का मूल तत्त्व क्रियाशीलता मे है। जो सकल्प कर्म मे परिवर्तित नही होता, वह सकल्प नही है और कर्म सदैव विशेष घटना होता है । कांट विशेष घटना को कोई स्थान नही देता और संकल्प को सामान्य तथा विश्वव्यापी ही बनाना चाहता है । जब हम कोई कर्म करना चाहते है, तो हमारा संकल्प किसी वस्तु का निश्चित सकल्प होना चाहिए, अर्थात् वह विशेष संकल्प होना चाहिए । सामान्य रूप से, कोई संकल्प करना असम्भव है । वह केवल आकार है और आकार क्रियाशील नही हो सकता ।

काट के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए हम इसके दो विभिन्न अर्थ निकाल सकते हैं । हम यह मान सकते हैं कि उसका आदेश व्यवहार के सामान्य प्रकारो पर लागू होता है और किसी भी विशेष परिस्थिति को स्थान नही देता अथवा हम यह कह सकते हैं कि वह विशेष कर्मों पर लागू होता है और उसमे देश, काल और परिस्थितियो की सीमाओ को भी स्थान दिया गया है । यदि इस सिद्धान्त का आशय पहली प्रकार का हो, तो हम आगे चलकर देखेगे कि इसके पालन करने का अर्थ एक नितान्त कठोर आदर्श का पालन करना है । इसमे कोई सन्देह नही कि काट ने स्वय निरपेक्ष नैतिक आदेश का प्रतिपादन इसी दृष्टि को लेकर किया था । इस तथ्य का प्रतीक उसका अपना सयमपूर्ण जीवन है । वह आयु-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहा और अपने नित्यप्रति के कार्यक्रम मे इतना यन्त्रवत् दृढ और नियमित रहा कि लोग उसके कार्यक्रम के आधार पर घडी का समय ठीक किया करते थे । उनको यह विश्वास था कि उनकी घडियां समय देने मे दोषपूर्ण हो सकती हैं, किन्तु काट का कार्यक्रम, एक क्षण के लिए भी इधर-उधर नही हो सकता । यदि हम इस निरपेक्षवाद का अर्थ दूसरी दृष्टि के आधार पर करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि यह सिद्धान्त इतना आवश्यकता से अधिक व्यापक हो जाता है कि इसके आधार पर प्रत्येक व्यक्तिगत कर्म नैतिक सिद्ध हो जाता है । दूसरे शब्दो मे, पहली दृष्टि से काट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक सकीर्ण और दूसरी दृष्टि से ढीला हो जाता है।

यदि निरपेक्ष नैतिक आदेश को जीवन पर लागू करते समय हम यह मानकर चलें कि एक सामान्य दृष्टि से विना किसी भी विशेष परिस्थिति को स्थान दिए ही, हमे ऐसे सामान्य नियम का अनुसरण करना है, जिसको कि विश्वव्यापी सकल्प बनाया जा सके, तो हमारे मार्ग मे अनेक व्यावहारिक कठिनाइया आएगी और हमे अनेक अवाछनीय

और दयनीय घटनाओ की अवहेलना करते हुए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना होगा। उदाहरणस्वरूप, यदि हमे यह आदेश दिया जाए कि किसी विशेष परिस्थिति की परवाह न करते हुए झूठ बोलने के कर्म को, उसके विश्वव्यापी सकल्प न बन सकने के कारण त्याग करना ही नैतिक है, तो हमारे सामने प्रश्न यह खडा होता है कि यदि एक रोगी को उसके वास्तविक रोग के प्रति सत्य कह देने से उसकी मृत्यु निश्चित हो और उसको गुप्त रखने से उसके जीवन की रक्षा होती हो, तो क्या ऐसी अवस्था मे भी झूठ बोलना अनैतिक है ? काट के दृष्टिकोण के अनुसार, इसका उत्तर 'हा' मे होगा। इसी प्रकार हिंसा न करना एव अहिंसा का पालन करना भी इस व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार ऐसी व्यावहारिक समस्याए खडी कर देता है कि निरपेक्ष अहिंसा पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए जीवित रहना भी अनैतिक सिद्ध होता है। यदि हम बिना विशेष परिस्थितियो पर विचार किए निरपेक्ष रूप से अहिंसा को परम धर्म माने, तो सास लेना भी इसलिए अनैतिक माना जाएगा कि इस क्रिया मे असख्य सूक्ष्म जीवो का सहार होता है। भारत मे जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक शाखा 'तेरा पथ' इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार करती है। इस मत के अनुसार, यदि बिल्ली चूहे को मारने के लिए उसका पीछा कर रही हो, तो उस बिल्ली को लाठी से घायल करके चूहे की रक्षा करना इसलिए मोक्ष-धर्म नही है कि यह कर्म निरपेक्ष अहिंसा नही माना जा सकता।

निरपेक्ष अहिंसा का सिद्धान्त केवल एक अमूर्त आदर्श इसलिए रह जाता है कि उसपर चलना मनुष्य के लिए असम्भव है। मनुष्य अपने जीवन मे केवल सापेक्ष अहिंसा का ही पालन कर सकता है। महात्मा गाधी ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। अपनी कृति 'बुद्ध और अहिंसा' मे गाधीजी ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए है, "अहिंसा एक बहुत व्यापक शब्द है। मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के बिना जीवित नही रह सकता। वह खाते, पीते, बैठते और उठते समय अनिवार्य रूप से किसी न किसी प्रकार की हिंसा करता ही रहता है। जो व्यक्ति इस प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है, जिसके मन मे दया है और जो सूक्ष्म जीवो को भी नष्ट नही करना चाहता, उसीको अहिंसा का पुजारी मानना चाहिए। ऐसे मनुष्य का सयम और उसकी कोमलहृदयता निरन्तर बढती चली जाएगी। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त हो सके।"

गाधीजी के इस दृष्टिकोण का अभिप्राय यह है कि अहिंसा उच्चतम आदर्श होते हुए भी, व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य के लिए निरपेक्ष नैतिक नियम स्वीकार नही किया जा सकता। व्यावहारिक जीवन मे, सापेक्ष रूप से अहिंसा का पालन करना भी नैतिकता ही स्वीकार किया जाना चाहिए। गाधीजी ने सदैव सापेक्ष हिंसा का, विशेषकर उस समय समर्थन किया है, जबकि मनुष्य की रक्षा के लिए इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा अनिवार्य हो जाती ह। एक बार जब गाधीजी से यह पूछा गया कि उन बन्दरो को मार भगाने की क्रिया नैतिक है या नही, जोकि अन्नकी खेती को क्षति पहुचाते है, तो उन्होने पत्र 'हरिजन'

मे यह स्पष्ट किया कि मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए, उन पशुओ पर हिंसा करना उचित है, जोकि मनुष्यो के भक्षक है। गाधीजी ने इन शब्दो मे अपने इस विचार को प्रकट किया, "मेरी अहिंसा एक विशेष निजी अहिंसा है, मैं प्राणी-मात्र के प्रति अनुकम्पा के अर्थ को पचा नही सकता। मैं उन प्राणियो की रक्षा करने के लिए अनुकम्पा नही रखता, जो मनुष्यो को खा जाते हैं अथवा उन्हे क्षति पहुचाते हैं। मै उनके फलने-फूलने को प्रोत्साहन देने को पाप समझता हू। अत मैं चीटियो को, वन्दरो को और कुत्तो को खाना नही खिलाऊगा, मैं उनकी रक्षा करने के लिए मनुष्यो का सहार नही करूगा।"[१]

गाधीजी के इन विचारो का आशय यह है कि जो भी नैतिक नियम निर्धारित किया जाए, उसका अभिप्राय मनुष्य का कल्याण ही होना चाहिए। मनुष्य नियम का निर्माता है न कि नियम मनुष्य का। काट इस बात को भूल जाता है कि नैतिकता मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य नैतिकता के लिए। इसका अभिप्राय यह नही कि व्यक्ति नैतिक नियमो का उल्लघन ही करता रहे। इसके विपरीत मनुष्य के लिए नैतिक बनना इसलिए अनिवार्य है कि वह विचारशील प्राणी है और वही केवल नैतिकता के अर्थ को समझ सकता है। जहां तक अहिंसा की निरपेक्षता का सम्बन्ध है, गांधीजी का यह मत था कि यदि बिना हिंसा के शुभ कर्म किया जा सकता है, तो निस्सन्देह अहिंसा का पालन करना चाहिए। जब गाधीजी से यह पूछा जाता था कि क्या उस मनुष्य अथवा मनुष्यो के समूह का सहार करना उचित है जोकि बहुत सख्या मे मनुष्यो को दु ख दे रहा हो, तो गाधीजी का यह कहना था कि ऐसा कर्म अनैतिक है। वन्दरो का सहार करना इसलिए अनिवार्य है कि पशु का हृदय परिवर्तित करने के लिए हमारे पास कोई उपाय नही हैं। अत कृषि को विनाश से बचाने के लिए वन्दरो का सहार करना क्षम्य हो सकता है, किन्तु जहा मनुष्य का सम्वन्ध है, दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करने की भी सभावना सदैव रहती है। इस प्रकार के परिवर्तन के साधन भी समाज मे उपस्थित हैं। अत अहिंसा के क्षेत्र मे स्वार्थ के लिए मनुष्यो का सहार करने का कोई स्थान नही है। गाधीजी का यह मत था कि मनुष्यो के सहार को अनिवार्य कदापि नही माना जा सकता। यदि काट के समक्ष ऐसी समस्या उपस्थित की जाती, तो अहिंसा को हर अवस्था मे अनिवार्य रूप से नैतिक स्वीकार किया जाता और पशुओ तथा मनुष्यो की तुलना मे मनुष्यो को श्रेष्ठ न समझा जाता। काट के सिद्धान्त की यह सकीर्णता मानवता के विरुद्ध है।

यदि काट के सिद्धान्त का अर्थ दूसरी दृष्टि के आधार पर किया जाए और यह स्वीकार किया जाए कि नैतिकता के निरपेक्ष आदेश को जीवन मे लागू करते समय, प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी विशेष परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुए, ऐसी चेष्टा करे कि उसका कर्म विश्वव्यापी सकल्प वन सके, तो हम यह देखेंगे कि यह सिद्धान्त एक शिथिल सिद्धान्त सिद्ध होता है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति अपनी परिस्थितियो को ऐसी विशेष परिस्थितिया मानता है कि वह उन्हे अनिवार्य स्वीकार करता है और उनके वश मे,

१. M. K. Gandhi : Harijan, Dated 26th April, 1946.

वह जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसको भी अनिवार्य मानता है। मनुष्य का मन न ही केवल चचल है, अपितु वह ऐसा लचीला है कि हर परिस्थिति मे वह अपने-आपको अनुकूल बना लेता है और अपने कर्म को नैतिक सिद्ध करने के लिए तर्क ढूढ लेता है। एक हत्यारा डाकू भी अपने व्यवहार को, अपनी विशेष परिस्थितियो को अनिवार्य प्रमाणित करके, नैतिक ही घोषित करता है। वह कहता है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति, जो उन परिस्थितियो मे रखा जाए, जिनमे कि वह ऐसा कर्म कर रहा है, तो वह व्यक्ति भी उसी डाकू की भाति ही व्यवहार करेगा। दूसरे शब्दो मे, शराबी, चोर और जुआरी सभी अपने-अपने कर्म को और अपनी आदत को अनिवार्य परिस्थितियो का परिणाम स्वीकार करते है। यदि इन विशेष परिस्थितियो की सापेक्षता से उनके कर्म को विश्वव्यापी सकल्प बनाने की आज्ञा दे दी जाए, तो सभी अनैतिक कर्म नैतिक ही स्वीकार किए जाएगे। दूसरे शब्दो मे, काट का निरपेक्ष नैतिक आदेश इतना सापेक्ष और शिथिल सिद्ध होगा कि ससार का कोई भी कर्म अनैतिक स्वीकार नही किया जाएगा।

वास्तव मे काट ने स्वय निरपेक्ष आदेशवाद के सिद्धान्त को किसी भी दृष्टि से सापेक्ष स्वीकार नही किया। उसका कारण यह है कि वह शुभ सकल्प को न ही केवल स्वलक्ष्य मानता है, अपितु उसे स्वयम्भू निरपेक्ष वास्तविकता स्वीकार करता है, इसलिए वह किसी भी अवस्था मे विशुद्ध शुभ सकल्प को किसी अन्य प्रेरक से सम्बन्धित करना नही चाहता और केवल 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' को ही उच्चतम नैतिक आदर्श मानता है। यही कारण है कि काट भाव (Feeling) को अपने नैतिक सिद्धान्त मे कोई स्थान नही देता। उसका कहना है कि नैतिक कर्म वही है जो दया, अनुकम्पा आदि की भावना से प्रभावित न होकर केवल कर्तव्यपरायणता के लिए ही किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, काट भगवद्गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त की भाति अनासक्त कर्तव्य को ही चरम लक्ष्य मानता है। यदि कोई न्यायाधीश एक हत्यारे को इसलिए मृत्यु का दण्ड देता है कि उसने किसी निर्दोष नवयुवक की ऐसी दुर्दशा से हत्या की है कि जिसकी मृत देह को देखकर न्यायाधीश के मन मे करुणा उत्पन्न हो जाती है, तो काट के दृष्टिकोण के अनुसार न्यायाधीश का यह कर्म इसलिए अनैतिक होगा कि वह कर्तव्य के लिए कर्तव्य नही है। काट कर्तव्य को, दया, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि सभी प्रकार के भावो से पृथक् करके, एक अत्यत शुष्क और कठोर नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वह इस तथ्य की अवहेलना करता है कि जिस प्रकार शुभ सकलपसे प्रेरित होकर शुभ कर्म किया जासकता है, उसी प्रकार देशभक्ति अथवा किसी व्यक्ति के प्रति सच्चे प्रेम से प्रेरित होकर भी नैतिक कर्म किया जा सकता है। हम देशभक्ति की भावना से प्रेरित उस व्यक्ति के वलिदान को कदापि अनैतिक नही कह सकते, जो अपने देश की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए हसते-हसते सूली पर चढ जाता है।

काट की इस कठोरता की काफी आलोचना की गई है। एक आलोचक ने व्यग्यात्मक आलोचना करते हुए कहा है, "मैं काट के नैतिक सिद्धान्त का अनुयायी हू, अत.

मै कर्तव्य का पालन करते समय किसी प्रकार के भाव से प्रभावित नही होता। मैं भूखे व्यक्तियो को खाना और नगो को वस्त्र तो देता हू, किन्तु उनपर दया करना पाप समभता हू। मै रोगियो को ओषधि तो बिना मूल्य के देता हू, किन्तु उनके दु.ख से प्रभावित होकर आसू बहाना घोर अपराध समभता हूं, क्योकि यदि मै दया, करुणा आदि भावो से प्रेरित होकर कर्म करूं, तो मैं निस्सन्देह अनैतिक माना जाऊगा।" इस प्रकार काट का सिद्धान्त भावहीन, कठोर और शुष्क होने के कारण, बिना सामग्री के आकार, बिना शरीर के आत्मा तथा बिना कारण के कार्य प्रमाणित होता है। इसलिए याकोवी ने कहा है, "काट का सकल्प वह सकल्प है जो कुछ भी सकल्प नही करता।"[1]

काट के निरपेक्ष आदेशवाद की उपर्युक्त आलोचना का अभिप्राय यह नही कि उसका नैतिक सिद्धान्त सर्वथा असगत है। हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि कांट ने शुभ सकल्प को, आन्तरिक निरपेक्ष नैतिक नियम स्वीकार करके नैतिकता को विश्व-व्यापी बनाने का जो प्रयत्न किया है, वह विश्व के दार्शनिक इतिहास मे एक अमूल्य देन है। इसमे कोई सन्देह नही कि शुभ सकल्प मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अमूल्य अग है, किन्तु काट ने इस सकल्प को केवल तर्कात्मक मानकर, मनुष्य के भावात्मक व्यक्तित्व की अवहेलना की है। काट ने यदि नैतिकता के प्रति पूर्ण सत्य नही कहा, तो उसने आशिक सत्य अवश्य कहा है। मनुष्य के व्यक्तित्व मे ज्ञान, भाव और संकल्प तीनो समान रूप से उपस्थित होते है और ये तीनो ही मानव के आन्तरिक तत्त्व हैं। इन तीनो मे से किसी एक या दो को महत्त्व देकर तीसरे तत्त्व की अवहेलना करना पूर्ण सत्य नही हो सकता। यदि सुखवाद हमे बिना आकारके सामग्री प्रस्तुत करता है, तो काट का निरपेक्ष आदेशवाद बिना सामग्री के आकार को ही नैतिक आदर्श घोषित करता है। 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' व्यक्तित्व के विकास की ठोस सामग्री से सर्वथा पृथक् रहकर एक निरुद्देश्य प्रेरकहीन अमूर्त और अव्यावहारिक सिद्धान्त बनकर रह जाता है। ठोस जीवन मे आकार तथा सामग्री, कारण तथा कार्य, प्रेरक तथा उद्देश्य सदैव समन्वित रहते है। काट स्वय इस बात को स्वीकार करता है कि कर्तव्यपरायण व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति होती है और होनी चाहिए। एक ओर तो काट कर्तव्य के लिए कर्तव्य को उच्चतम नैतिक आदर्श मानता है और दूसरी ओर वह कहता है कि शुभ सकल्प का शुभ फल एव आनन्द प्रदान करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। अत. काट का सिद्धान्त शत-प्रतिशत सगत तथा पूर्ण नही माना जा सकता। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त काट के निरपेक्ष आदेशवाद तथा सुखवाद का समन्वय करने का चेष्टा करता है।

कांट तथा सुखवाद

ऊपर दिए गए विवेचन तथा आलोचना से तो यह प्रमाणित होता है कि काट का

१. "Kant's will is a will that wills nothing."

एकमात्र सिद्धान्त निरपेक्ष ग्रादेशवाद है, जोकि केवल कर्तव्य पर ही बल देता है ग्रौर नैतिकता के लक्ष्य की ग्रोर ध्यान नही देता। किन्तु उसके दर्शन का गम्भीर ग्रध्ययन यह प्रमाणित करता है कि काट ने नैतिक लक्ष्य तथा नैतिक नियम दोनो को स्वीकार किया है। उसे हम सुखवादी तो नही कह सकते ग्रौर न ही वह तृप्ति की दृष्टि से सुख को जीवन का लक्ष्य मानता है, किन्तु उसने ग्रपने सिद्धान्त को पूर्णतया ग्राकारात्मक होने से बचाने के लिए स्वीकार किया है कि नैतिक जीवन का लक्ष्य द्विमुखी लक्ष्य है, जिसके ग्रनुसार हम ग्रपने पूर्णत्व तथा ग्रन्य लोगो के श्रेयस् (Happiness) को कर्तव्यपरायणता का उद्देश्य मानते हैं। हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता का ग्रर्थ शुभ सकल्प का वह विकास है, जो हमे विश्वव्यापी सकल्प के स्तर पर ले जाता है। काट यह तो स्वीकार करता है कि नैतिकता का दूसरा उद्देश्य ग्रन्य लोगो का श्रेयस् है, किन्तु वह इस श्रेयस् की पूरी व्याख्या नही करता। उसका कारण यह भी हो सकता है कि हम ग्रन्य लोगो मे बौद्धिक परिवर्तन उत्पन्न करके उनके शुभ सकल्प का विकास नही कर सकते। ग्रत हम ग्रन्य लोगो की पूर्णता को ग्रपना लक्ष्य नही बना सकते। जब हम ग्रपने शुभ सकल्प को विकसित करने के द्वारा नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुंच जाते है, तो स्वत ही हमारा कर्म ऐसा सत्कर्म होगा, जो कि समाज के श्रेयस् के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि काट का 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' इतना ग्रमूर्त ग्रौर शुष्क नही है, जितना कि उसके ग्रालोचक समझते है। इसमे कोई सन्देह नही कि काट श्रेयस् ग्रथवा सुख को नैतिक व्यक्ति का प्रत्यक्ष उद्देश्य नही मानता, किन्तु उसका यह विश्वास है कि परम मानवीय शुभ की व्याख्या मे सुख एव श्रेयस् को नैतिकता के साथ ग्रवश्य उपस्थित मानना चाहिए, यद्यपि सुख की यह उपस्थिति नैतिकता के ग्रधीन ही होगी। काट सुख तथा नैतिकता को दो ऐसे तत्त्व मानता है जो एक-दूसरे से ग्रभिन्न है। उनका परस्पर सम्बन्ध समन्वय का है, न कि विच्छिन्नता का। यही कारण है कि काट सुख को नैतिकता का स्वाभाविक परिणाम मानता है, यद्यपि वह सुख की प्राप्ति को नैतिकता का प्रेरक नही मानता। काट का यह दृष्टिकोण है कि यद्यपि नैतिक व्यक्ति सुख को उद्देश्य मानकर नही चलता, तथापि मनुष्य के सम्पूर्ण कल्याण मे सुख तथा सद्-गुण दोनो उपस्थित होने चाहिए। यही कारण है कि काट नैतिकता के फलस्वरूप नैतिक व्यक्ति को, उसके कर्तव्य के ग्रनुसार श्रेयस् प्रदान करने के लिए ईश्वर के ग्रस्तित्व को स्वीकार करता है। हमारी ग्रपनी पूर्णता तथा ग्रन्य व्यक्तियो के श्रेयस् को नैतिक जीवन का उद्देश्य मानने का यही ग्रभिप्राय है।

इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ सीमा तक काट उस लक्ष्य की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, जिसकी ग्रनुभूति वाछनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि काट के दृष्टि-कोण से विश्वव्यापी ग्रात्मा (Universalself) ही वह ग्रादर्श लक्ष्य है, जिसकी ग्रनुभूति सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है। इसलिए वह एक उद्देश्यात्मक विश्व का समर्थन करता है, जिसमे कि मनुष्य तथा मनुष्य मे स्थित शुभ सकल्प को वह स्वलक्ष्य मानता है। किन्तु

यह बात कांट ने स्पष्ट नही की है कि क्या निरपेक्ष आदेश का अनुसरण करने से व्यक्ति किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है, जोकि उसे नैतिक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। यद्यपि काट का यह कहना है कि सद्गुण तथा सुख दोनो मिलकर पूर्ण शुभ का निर्माण करते है, तथापि वह यह स्पष्ट नही करता कि उन दोनो का समन्वय किस प्रकार सम्भव है। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए वह एक ऐसे ईश्वर की धारणा को स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है, जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है और जो सद्गुण तथा श्रेयस् का समन्वय करने के लिए समर्थ है। निस्सन्देह यह एक विचित्र बात है कि उद्देश्यात्मक विश्व का समर्थक काट, जो इस बात पर बल देता है कि मानव अपना उद्देश्य स्वय है, ईश्वर की मान्यता केवल इसलिए स्वीकार करता है कि सद्गुण तथा श्रेयस् के समन्वय करने का ईश्वर साधन-मात्र बन सके।

काट सद्गुण की सगतता के सिद्धान्त को यथार्थ प्रमाणित नही कर सका। उसका कारण सम्भवतया यह है कि वह मनुष्य को स्वलक्ष्य तो मानता है, किन्तु आत्मानुभूति एव मोक्ष-प्राप्ति के सिद्धान्त को नही जानता। यही कारण है कि वह मनुष्य की उस आत्मा के स्वरूप की व्याख्या नही करता, जिसकी प्राप्ति के लिए हमारे सभी कर्म साधन बनने चाहिए। वह सुख को नैतिकता का फल प्रमाणित करने के लिए एक ऐसा अपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत करने पर बाध्य हो जाता है जो आधा नैतिक है और आधा धार्मिक। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धान्त के लिए एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जोकि व्यावहारिक दृष्टि से प्राप्त करने योग्य आदर्श बन सके और जो अन्तरात्मक भी हो। काट ने सद्गुण के अन्तरात्मक होने पर तो बल दिया है, किन्तु वह अपने नैतिक सिद्धान्त को पूर्ण बनाने के लिए एक बाह्यात्मक ईश्वर की धारणा प्रस्तुत करने के लिए विवश हो जाता है। इस प्रकार उसका नैतिक सिद्धान्त न तो पूर्ण है और न स्पष्ट। उसका निरपेक्ष आदेश नैतिक औचित्य के प्रति कैसे-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर तो देता है, किन्तु यह नही बताता कि नैतिक औचित्य का क्यो अनुसरण करना चाहिए। सुखवाद अथवा उपयोगितावाद हमे यह बताता है कि नैतिकता का क्यो अनुसरण करना चाहिए, किन्तु वह यह नही बताता कि उसका अनुसरण कैसे किया जाता है। काट तथा सुखवाद की धारणाए हमे नैतिकता के प्रति क्रमश 'कैसे' तथा 'क्यो' का उत्तर देती है। ये दोनो सिद्धान्त परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव मे ये दोनो एक-दूसरे के पूरक है और सापेक्ष है। इनका परस्पर-विरोध किसी निरपेक्ष सिद्धान्त के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जो पूर्णता को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है और जिसके अनुसार इच्छाओ की तृप्ति तथा तर्कात्मक सयम, उपयोगिता तथा कर्तव्य, सुख तथा त्याग दोनों को उचित स्थान दिया गया है। हम ऐसे पूर्णवादी सिद्धान्त की व्याख्या यथास्थान करेगे। इससे पूर्व विकासवादी नैतिक सिद्धान्त के प्रति पश्चिमीय आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है।

सातवा अध्याय

विकासवादी नैतिक सिद्धांत

(The Evolutionary Theories of Ethics)

आचार का सम्बन्ध जीवन से है और जीवन निस्सन्देह एक ऐसी प्रक्रिया है जो गतिशील और क्रियात्मक है, जिसका आरम्भ है, विकास है एव अन्त भी है। अनेक विद्वानो ने पश्चिम मे विकास के सिद्धान्त को जीवन पर तथा जीवन-सम्बन्धी अन्य प्रक्रियाओ पर लागू किया है। न ही केवल इतना, अपितु विश्व की सृष्टि को भी विकासवादी सिद्धात के अधीन करके यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि सम्पूर्ण ब्रह्माड एक भौतिक विकास है। सर्वप्रथम विकासवाद की धारणा जर्मनी के विख्यात दार्शनिक हीगल ने प्रस्तुत की थी। उसके अनुसार विश्व की आधारभूत सत्ता ठीक उसी प्रकार की विकासवादी प्रक्रिया है जिस प्रकार कि मनुष्य मे स्थित तर्क एव विचार की प्रक्रिया है। तर्क की प्रक्रिया मे पहले एक धारणा (Thesis), उत्पन्न होती है फिर उसकी विरोधी धारणा (Antithesis) उत्पन्न होती है और अन्त मे समन्वय (Synthesis) के द्वारा एक नवीन परिणाम प्राप्त होता है। यही विकासवाद एव परिणामवाद का सिद्धान्त जीव की उत्पत्ति पर लागू किया गया है और आधुनिक ज्योतिषशास्त्र (Astronomy) तथा भूगोलशास्त्र (Geography) के विद्वानो द्वारा विश्व तथा पृथ्वी की सृष्टि की व्याख्या मे लागू किया गया है।

डार्विन के अनुसार जीवन-प्रक्रिया एक विकासवादी प्रक्रिया है और छोटे से छोटे जन्तु ऐमीबा (Amoeba) से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे मनुष्य के रूप मे विकसित हुई है। इस विकास मे असख्य जीव उत्पन्न हुए और वातावरण से सघर्ष करते हुए उनमे से अनेको प्रकार के जीव सदा के लिए नष्ट भी हो गए। केवल जीवो की वे श्रेणिया निरन्तर विकसित होती रही और आज तक विकसित हो रही है, जोकि सफलतापूर्वक जीवन के सघर्ष मे वातावरण का सामना कर सकी और इस प्रकार प्रकृति द्वारा निर्वाचित रही। जीवन के विकास मे, सघर्ष तथा निर्वाचन दो नियमो का प्रभुत्व माना गया है। लैमार्क का कहना है कि जीवो मे अपने जीवन को बनाए रखने की प्रेरणा के कारण उन लक्षणो का विकास होता रहता है, जो उन्हे वातावरण पर विजय प्राप्त करने मे सहायक होते है। रचनात्मक विकासवादी (Creative evolutionists) तथा वर्तमान समय के वैज्ञानिक

दार्शनिक हेनरी वर्गसान ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जीवन का विकास उद्देश्यात्मक और रचनात्मक है। इस प्रकार विकासवाद के सिद्धान्त मे अनेक परिवर्तन हुए हैं और अनेक शाखाए उत्पन्न हुई है। इन सभी शाखाओं के उल्लेख का यहा महत्त्व नही है। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि उन्नीसवी शताब्दी मे अनेक ऐसे नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए, जोकि विकासवाद पर आधारित थे। विकास एक ऐसी विश्वव्यापी प्रक्रिया है, जिसकी विशेष अभिव्यक्ति मानव है। अत जो नियम विकास की प्रक्रिया पर लागू होते है, वे मनुष्य के स्वभाव पर भी लागू होते हैं, ऐसी धारणा नैतिक विकासवादियो की है। नैतिक विकासवादी सक्षेप मे इस धारणा के समर्थक है कि जो भी परिस्थितिया एव कर्म जीवन वनाए रखने के लिए उपयोगी हैं, वे ही शुभ माने जा सकते हैं और वे ही सुखद है।

स्पैन्सर का नैतिक सिद्धांत

हरबर्ट स्पैन्सर (१८२० से १९०३) के नैतिक सिद्धान्त को हम मुख्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त कह सकते हैं। उसने अपनी तीन पुस्तकों 'नैतिकता के सिद्धान्त' (The Principles of Ethics)', 'नैतिकता के आगमन' (Induction of Ethics) तथा 'सामाजिक गणित' (Social Statistics) मे अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। स्पैन्सर का नैतिक दृष्टिकोण तर्कात्मक तथा वैज्ञानिक है। सर्वप्रथम स्पैन्सर ने व्यवहार की व्याख्या दी है और शुभ व्यवहार तथा अशुभ व्यवहार मे भेद बताया है। क्योकि स्पैन्सर व्यवहार को विकासात्मक क्रिया मानता है, इसलिए उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह व्यवहार की व्याख्या समस्त जीवन के आधार पर देता है। उसका कहना है कि मनुष्य मे तथा अन्य प्राणियो मे शुभ तथा अशुभ व्यवहार उपस्थित होता है और वह व्यवहार जीवन से सम्बन्ध रखता है। स्पैन्सर का कहना है कि जीवन के न्यून से न्यून स्तर मे भी मुख्य उद्देश्य प्राणी का आन्तरिक प्रेरणाओ के आधार पर अपने-आपको वातावरण के अनुकूल बनाना है। जीवन को बनाए रखने की प्रेरणा प्रधान है। अत. समस्त व्यवहार या तो प्राणी की वातावरण से अनुकूलता को सहायता देता है या उसमे बाधक होता है। प्राणी-मात्र के इस व्यवहार को हम शुभ व अशुभ कह सकते है। जो व्यवहार इस अनुकूलता मे सहायक होता है, वह शुभ है और जो बाधक होता है, वह अशुभ है। क्योकि जीवन को बनाए रखनेवाला व्यवहार शुभ है, इसलिए स्पैन्सर उसे सुखद मानता है और अशुभ व्यवहार को दु खद स्वीकार करता है। हमारा सामान्य व्यवहार सुख और दु ख का मिश्रण होता है एव शुभ भी होता है और अशुभ भी। जिस व्यवहार मे दु ख तनिक-मात्र भी न हो और जो केवल सुखद हो, उसी व्यवहार को स्पैन्सर ने पूर्णतया शुभ स्वीकार किया है। हमारा व्यवहार इस प्रकार एक सापेक्ष व्यवहार है। जिस व्यवहार मे दु.ख की मात्रा कम और सुख की मात्रा अधिक होती है, उसको हम सापेक्ष रूप से शुभ मान लेते है। हमारा नैतिकता का चरम उद्देश्य यही है कि हम विकास की प्रक्रिया मे अधिक से

अधिक वातावरण से अनुकूलता उत्पन्न करने की चेष्टा करे।

स्पैन्सर के लिए शुभ का अर्थ विशेष बाह्यात्मक शुभ नही है, अपितु उसका अर्थ विशेष प्रकार का शुभ है। एक वस्तु अपने प्रकार का शुभ तभी प्रमाणित होती है, जब वह अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करती है। अत शुभ किसी कर्म को ठीक प्रकार से निभाने के उद्देश्य का साधन है। इसी कर्म को तभी सफलतापूर्वक निभाया गया माना जाएगा, जब वह सुख अथवा तृप्ति का देनेवाला हो। स्पैन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक विचारशील प्राणी के लिए एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक सुख और कम से कम दु.ख प्राप्त करना है। इस उद्देश्य मे अग्रसर होते हुए सुख के आधिक्य को प्राप्त करते हुए यदि ऐसी अवस्था उपलब्ध हो जाए कि जिसमे दु ख सर्वथा अनुपस्थित हो, तो वह अवस्था निरपेक्ष लक्ष्य हो जाएगी। इस दृष्टि से हम स्पैन्सर को सुखवाद का समर्थक भी मान सकते हैं। किन्तु स्पैन्सर एक विशेष प्रकार का सुखवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके लिए सुख इसलिए शुभ नही है कि वह हमे सुखद अनुभव देता है, अपितु वह इसलिए वाछनीय है कि वह जीवन को बनाए रखने के उद्देश्य की पूर्ति करता है।

स्पैन्सर का कहना है कि दार्शनिक के लिए केवल यह पर्याप्त नही है कि वह इतना बता दे कि कुछ वस्तुए सुखद होने के कारण शुभ है, इसके अतिरिक्त उसके लिए यह बताना नितान्त आवश्यक है कि वे वस्तुए क्यो शुभ हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्पैन्सर वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करते हुए विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। उसका कहना है कि प्रत्येक प्राणी का स्वभाव एक परिणामी उत्पत्ति एव विकास द्वारा उत्पन्न लक्षण के द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, किसी प्राणी के स्वभाव की व्याख्या करते हुए हमे सदैव इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि वह प्राणी विकास द्वारा उत्पन्न तत्त्व है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी विकसित होना चाहेगा और अपने-आपको विकसित करने के साथ-साथ उस सन्तान को उत्पन्न करना चाहेगा, जोकि उस वर्ग को निरन्तर बनाए रखे, जिसमे कि वह स्वय उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार का विकासात्मक कर्म निस्सन्देह सुखद कर्म है। अत. सुखद कर्म अपने-आपमे शुभ नही है, अपितु जीवन के बनाए रखने के उद्देश्य का साधन होने के कारण शुभ स्वीकार किया गया है। मनुष्य इसी कारण अधिक से अधिक सुख के लिए सघर्ष करता है। सुख, जीवन की वृद्धि-सम्बन्धी व्यवहारकी अभिव्यक्ति है और दु ख प्राणीके जीवन से प्रतिकूल व्यवहारकी अभिव्यक्ति है।

स्पैन्सर इस बात को भी स्पष्ट करता है कि जो प्राणी अपने वातावरण से ठीक प्रकार से अनुकूलित नही है, उसके जीवित रहने की सम्भावना कम होगी, इसलिए वह व्यवहार जोकि प्राणी को अपने वातावरण के अनुकूल बनाने मे सहायक होता है, विशेप प्राणियो के वर्ग मे स्थायी रहेगा। इसके विपरीत वह व्यवहार, जो जीवन को बनाए रखने मे सहायक नही है, विशेप प्राणी-वर्ग मे स्थायी नही रहेगा। इस प्रकार दु खद क्रियाओ के बहिष्कार करने की प्रवृत्ति और सुखद व्यवहार को अपनाने की प्रवृत्ति प्राणियो मे स्वाभाविक है। वे प्राणी जीवित रह सकेंगे जो दु ख की अपेक्षा सुख को अधिक अपनाते

है। इसलिए प्राणियो मे उस व्यवहार को अपनाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होगी, जोकि जीवन के अस्तित्व के सघर्ष मे सहायक होगी। इस प्रकार स्पेन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार, सुख को प्रोत्साहन देनेवाला व्यवहार इसलिए किया जाता है कि वह विकास की प्रक्रिया मे सहायक होता है और वह व्यवहार, जो विकास की दृष्टि से उपयोगी है, इसलिए किया जाता है कि वह सुखद है।

जैसाकि हमने ऊपर बताया है, स्पैन्सर न ही केवल यह धारणा प्रस्तुत करता है कि जीवन को बनाए रखने तथा विकास को अग्रसर करनेवाला व्यवहार सुखद होता है, अपितु वह इस बात की पूरी व्याख्या करता है कि कौन-सा व्यवहार ऐसा है जो जीवन को बनाए रखने मे सहायक होता है और कौन-सा ऐसा है जो विकास को प्रोत्साहन देता है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार जो व्यवहार मनुष्य को उसके वातावरण से अनुकूलित करता है, वही व्यवहार जीवन को बनाए रखता है और विकास को प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार का अनुकूलित होना मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो तथा उन परिस्थितियोमे सामजस्य उत्पन्न करता है, जोकि मूल प्रवृत्तियो को प्रेरित करती है। स्पैन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार, सुचारु रूप से अनुकूलित व्यक्ति यन्त्रवत् क्रिया करता है। वह अपने वातावरण के प्रति एक ऐसे स्निग्ध यन्त्र की भाति प्रतिक्रिया करता है और ऐसा व्यवहार करता है, जोकि उष्णता उत्पन्न किए बिना कम से कम प्रयत्न द्वारा पूर्ण होता है। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार तेल से भली प्रकार से स्निग्ध यन्त्र कम से कम शक्ति लगाकर बिना उष्ण हुए चालू रहता है, उसी प्रकार अनुकूलित व्यक्ति का शरीर अपने वातावरण मे व्यवहार करते समय सुगमतापूर्वक और कम से कम प्रयत्न के द्वारा व्यवहार करता है। इस प्रकार के व्यक्ति को सन्तुलित व्यक्ति कहा जाता है और इसी सन्तुलित अवस्था मे ही वह व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। स्पैन्सर का यह सन्तुलन का दृष्टिकोण भगवद्गीता के सयमी व्यक्ति की धारणा के सदृश प्रतीत होता है। स्पैन्सर का कहना है कि इस अवस्था की प्राप्ति ही मानवीय चेष्टा का स्थायी लक्ष्य है। अत हमारे सभी कर्म इस अवस्था की अनुभूति एवं प्राप्ति का साधन-मात्र होते हैं। इस दृष्टि मे भी स्पैन्सर की धारणा की तुलना उस स्थितप्रज्ञ एव जीवन्मुक्त व्यक्ति की धारणा से की जा सकती है, जिसका प्रतिपादन भगवद्गीता मे किया गया है। इसकी व्याख्या हम यथास्थान करेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीवन की प्रक्रिया विकासात्मक है और वह विकास निरन्तर अग्रसर हो रहा है, तो इस गति का अन्तिम उद्देश्य क्या है। स्पैन्सर के अनुसार, जहा तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, विकास का एकमात्र उद्देश्य वह सन्तुलन की अवस्था है जोकि अनुकूलित व्यवहार से प्राप्त होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि सन्तुलन की अवस्था पूर्णतया प्राप्त नही होती, यही कारण है कि स्पैन्सर के लिए शुभ का कोई निरपेक्ष मापदण्ड नही है। वह कहता है कि परम शुभ एक ऐसा उद्देश्य है, जिसकी अनुभूति न तो होती है और न ही हो सकती है, क्योकि पूर्ण सन्तुलन न तो अनुभूत होता है और न अनुभूत किया जा सकता है। यहा पर स्पैन्सर का दृष्टिकोण भगवद्गीता के दृष्टिकोण

से मेल नही खाता, क्योकि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को पूर्ण रूप से सन्तुलित स्वीकार किया जाता है। स्पैन्सर का शुभ सापेक्ष शुभ है। वह कहता है कि जो व्यवहार इस सन्तुलन के उद्देश्य के अनुकूल है, वही शुभ है। स्पैन्सर मनुष्यो के विभिन्न वातावरण तथा उनकी क्षमता की विभिन्नता को स्थान देता है, इसलिए वह कहता है कि नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निश्चित नियम निर्धारित नही किए जा सकते। वैज्ञानिक आचार-मीमासा केवल सामान्य निर्देश दे सकती है और यह वता सकती है कि इस प्रकार के व्यवहार को क्यो अपनाना चाहिए। वह यह भी वता सकती है कि यदि अनुकूलित व्यवहार किया जाए तो व्यक्ति सुख का अनुभव करेगा। इस प्रकार स्पैन्सर नैतिक नियमो को गणित के नियमो की भाति सुनिश्चित न मानकर अनिश्चित और अस्थायी नियम ही स्वीकार करता है।

स्पैन्सर का विकासवादी सिद्धान्त न ही केवल व्यक्तिगत व्यवहार की व्याख्या करता है, अपितु वह सामाजिक व्यवहार की भी उचित व्याख्या देने की चेष्टा करता है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, जीवन के विकास मे प्राकृतिक निर्वाचन के नियम का अर्थ जीवन मे सघर्ष तथा व्यक्ति के लिए जीवन को वनाए रखने के उद्देश्य की प्रधानता है। यदि इस सघर्ष के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन को वनाए रखने मे सफल होता है, तो उसमे दूसरे व्यक्तियो के जीवन को सुरक्षित रखने की भावना उत्पन्न नही हो सकती। दूसरे शब्दो मे, विकासवाद मे सघर्ष का नियम सामूहिक विकास के विरुद्ध प्रतीत होता है। अत स्पैन्सर के सामने यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि वह सामाजिक विकास की समस्या को कैसे सुलझाए। और वह इस कठिनाई से वाहर निकलने की पूरी चेष्टा करता है।

स्पैन्सर का कहना है कि विकास की विशेपता यह है कि विकास की प्रगति सरलता से जटिलता की ओर होती है। सरल से सरल एमीवा जन्तु धीरे-धीरे विकसित होकर मनुष्य जैसे जटिलतम प्राणी मे विकास की चरमसीमा पर पहुचता है। अत विकास मे एक अनिश्चित असम्बन्धित समरूपता एक निश्चित सुव्यवस्थित विभिन्नता मे परिवर्तित हो जाती है। छोटे से छोटे जन्तु एमीवा की रचना सरलतम होती है जवकि मनुष्य का शरीर एक जटिल आकारवाला है और उसके शरीर के सभी अग एक-दूसरे से विभिन्न है। इसी प्रकार समाजिक जीवन मे भी सरलता से जटिलता की ओर विकास हुआ है। आदिम समाज मे सभी मनुष्य एक प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे और समाज का ढाचा सरलतम था। ज्यो-ज्यो समाज सुसस्कृत हुआ और उसका विकास आगे वढा, तो मनुष्यो के जीवन तथा व्यवहार मे हर प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न होने लगी। उनके रहने-सहने और खाने-पीने तथा वेशभूषा मे विभिन्नताए उत्पन्न हुईं। विकसित समाज मे मनुष्य का जीवन अधिक से अधिक जटिल हो जाता है, इस अवस्था मे सहयोग की भावना एक अनिवार्य तत्त्व वन जाती है। स्पैन्सर के अनुसार, सहयोग इसलिए आवश्यक है कि इसके द्वारा मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति होती है और इस प्रकार वे अपनी

शक्ति को अपने-अपने विकास के लिए प्रयोग मे ला सकते है। यही कारण है कि मनुष्य मे स्वार्थी प्रवृत्तियो के साथ-साथ धीरे-धीरे वे प्रवृत्तिया भी उत्पन्न हो जाती हैं, जोकि उसे अन्य व्यक्तियो से सहयोग करने पर प्रेरित करती है। ये प्रवृत्तिया भी मनुष्य के जीवन को बनाए रखने के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी कि व्यक्तिगत प्रवृत्तिया होती हैं। अत सामाजिक प्रवृत्तिया भी विकासवाद के लिए अनिवार्य है।

ये सामाजिक प्रवृत्तिया, पशुओ मे समूह मे रहने की भावना तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करती है। भेड़े सदैव समूह मे चलती है। शहद की मक्खिया सहयोग से छत्ता बनाती हैं। किन्तु मनुष्य मे ये प्रवृत्तिया उच्चतम विकसित रूप धारण करती है। ये मनुष्य को सहयोगी सामाजिक प्राणी बनाती हैं, इसलिए मनुष्य को परोपकारी बनना पडता है। दूसरे शब्दो मे, समाज अनिवार्य रूप से सहयोग की भावना के आधार पर निर्भर रहता है। समाज के रीति-रिवाज तथा नैतिकता के नियम उसके सदस्यो के हित को हानि पहुचाए बिना, समूह मे सहयोग उत्पन्न करते है। इस प्रकार स्पैन्सर सामूहिक कल्याण एव सामूहिक सुखवाद को भी विकासवाद के अन्तर्गत मानता है।

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तिया व्यक्ति को इस बात से तो बचाती हैं कि वह समाज के हित को हानि न पहुंचा सके, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि सघर्ष का नियम समाज मे क्रियाशील नही रहता। इसके विपरीत व्यक्ति-व्यक्ति के सघर्ष की अपेक्षा एक समूह का दूसरे समूह से सघर्ष जारी रहता है। इसी कारण युद्ध की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार वे व्यक्तिगत गुण, जोकि जीवन के संघर्ष मे व्यक्ति को सफलता प्रदान करते है, जीवन को बनाए रखने की दृष्टि से व्यक्ति के लिए विकासात्मक मूल्य रखते है, उसी प्रकार जो गुण समुदायो के सघर्ष मे किसी विशेष समुदाय को सफलता देने मे सहायक होते है, वे ही विकासात्मक सुरक्षा-सम्बन्धी मूल्य (Evolutionary survival value) रखते है। हम यह जानते है कि समुदाय की रक्षा के लिए साहस, परमार्थ, सहयोग, सहानुभूति आदि गुण उपयोगी सिद्ध होते हैं, इसलिए समुदाय मे इन गुणो को मूल्यवान समझा जाता है और इनको विकसित करने का प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रकार यदि व्यक्तिगत दृष्टि से शुभ का अर्थ वह कर्म है, जो व्यक्ति को उसके वातावरण से अनुकूलित करने मे सहायता देता है, तो सामूहिक दृष्टि से वह व्यवहार शुभ है, जो समूह की सुरक्षा तथा उसके कौशल मे सहायक होता है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए उसका व्यक्तिगत सन्तुलन शुभ है, उसी प्रकार समुदाय के लिए भी सामूहिक सन्तुलन शुभ है। इसमे कोई सदेह नही कि समाज मे भी निरपेक्ष सन्तुलन उपस्थित नही है, जिस प्रकार कि निरपेक्ष सन्तुलित व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नही है। स्पैन्सर के अनुसार सामाजिक निरपेक्ष सन्तुलन निरपेक्ष शुभ भी भांति एक आदर्श-मात्र है।

निरपेक्ष शुभ यदि केवल कल्पना ही है, तो प्रश्न यह उठता है कि कर्तव्य की क्या धारणा हो सकती है। प्रथम दृष्टिपात से ऐसा प्रतीत होता है कि स्पैन्सर के नैतिक सिद्धान्त मे कर्तव्य का कोई स्थान नही हो सकता। किन्तु स्पैन्सर स्वय इस धारणा को

स्वीकार नही करता। उसके अनुसार विकासात्मक नैतिकता मे मनुष्य के कर्तव्य का उचित स्थान है। वह कर्तव्य विकास की क्रिया को अग्रसर होने मे सहायता करना है। मनुष्य स्वय विकास की प्रक्रिया का अग है, किन्तु वह जड पदार्थ की भाति अचेतन और अन्य प्राणियो की भाति बुद्धिहीन अग नही है। मनुष्य विकास की प्रक्रिया का एक विचारशील और बुद्धियुक्त अग होने के कारण तथा आत्मचेतन होने के कारण यह उत्तरदायित्व रखता है कि वह विकास की प्रक्रिया मे बाधा न डालकर उसमे सहायता दे। स्पैन्सर का कहना है कि यदि विकास के चरम लक्ष्य की अभी तक प्राप्ति नही हुई है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम विकास के परम उद्देश्य अर्थात् प्राणियो की अधिक सुखी और अधिक श्रेष्ठ जाति को उत्पन्न करने मे सहायता दें। वर्तमान समय मे नैतिकता सापेक्ष और स्थायी है, क्योकि मनुष्य की अपनी अवस्था अपूर्ण और अस्थायी है। किन्तु स्पैन्सर का विश्वास है कि जब विकासात्मक प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जाएगी, तो उस समय निरपेक्ष शुभ का उदय होगा। हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम यथासम्भव इस निरपेक्ष शुभ के विकास मे सहायता दे और विकासात्मक प्रक्रिया को आगे बढाए, क्योकि यह प्रक्रिया उस परम शुभ की ओर अग्रसर हो रही है। इस प्रकार स्पैन्सर का दृष्टिकोण जीवनके विकासवाद के सिद्धान्त पर आधारित है और वह जीवन की रक्षा को ही नैतिक शुभ स्वीकार करता है।

आलोचना

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि स्पैन्सर का नैतिक सिद्धान्त एक सुन्दर वैज्ञानिक विवेचन तथा नैतिकता का एक विश्लेषणात्मक ऐतिहासिक अनुसन्धान अवश्य है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि वह एक ऐसा नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसको कि मानवीय जीवन का लक्ष्य बनाया जा सके। इसमे कोई सन्देह नही कि कुछ सीमा तक जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य प्रतीत होता है। स्पैन्सर के पश्चात् जीव-विज्ञान के क्षेत्र मे जो अनुसन्धान हुए हैं, वे स्पैन्सर के इस दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। आधुनिक जीव-विज्ञान पुन स्वभाववादी दृष्टिकोण को छोडकर उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण को अपना रहा है। बर्गसान का रचनात्मक विकासवाद यह प्रमाणित करता है कि जीवन की प्रक्रिया मे पूर्णत्व का उद्देश्य है। लायड मार्गन का आकस्मिक विकासवाद (Emergent evolution) भी यही प्रमाणित करता है कि विकास का उद्देश्य केवल जीवन को बनाए रखना नही है। यदि जीवन की रक्षा ही विकास का उद्देश्य होता, तो वे विशालकाय प्राणी, जिन्होने कि लाखो वर्षों तक इस पृथ्वी पर राज्य किया और जो मनुष्य के शरीर की तुलना मे शत गुणा विशाल थे, वे ही विकास की अन्तिम सीढी प्रमाणित होते। किन्तु आज उन महान शक्तिशाली प्राणियो का इस विश्व मे अस्तित्व ही नही है। यदि हम विकास के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हमे यह प्रतीत होगा कि विकास की प्रक्रिया का चरम लक्ष्य, शारीरिक विपुलता और प्राणात्मक (Biological) प्रगति-

मात्र नही है, अपितु चेतना की उत्तरोत्तर प्रगति और बुद्धि की वह उत्कृष्टता है जो मानव को दिव्य मानव, और पुरुष को पुरुषोत्तम बना सके। स्पैन्सर ने विकासवाद का एकपक्षीय विश्लेषण किया है। वर्तमान जीव-विज्ञान स्पैन्सर के इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही करता।

वैज्ञानिक प्रगति के प्रतिकूल होता हुआ भी स्पैन्सर का सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य रखता है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का विकास भी हमे यह प्रेरणा देता है कि जीवन के प्रत्येक अग को एक-दूसरे से सम्बन्धित होना चाहिए। नैतिक जीवन का अध्ययन सामान्य जीवन से पृथक् नही किया जा सकता। हम यह नही कह सकते कि जीवन के विकास का नैतिक विकास से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु जीवन का विकास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, जबकि नैतिक जीवन का सम्बन्ध जीवन के आदर्श एव मूल्य से है। विकासवाद एक तथ्यात्मक और व्याख्यात्मक सिद्धान्त है, जोकि जीवन की व्याख्या-मात्र करता है और हमे बताता है कि विश्व मे प्राणी किस प्रकार वास्तविक रूप से व्यवहार करते है। इसके विपरीत आचार-विज्ञान एक आदर्शवादी नियामक और औचित्य-सम्बन्धी अध्ययन है, जो सर्वथा मूल्यात्मक है और हमे यह बताता है कि प्राणी-मात्र का नही, अपितु विचारशील प्राणियो एव मनुष्यो के जीवन का परम लक्ष्य क्या होना चाहिए। स्पैन्सर ने तथ्यात्मक विश्लेषण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है और तथ्यो तथा मूल्यो के परस्पर भेद की अवेहलना की है। इसमे कोई सन्देह नही कि विज्ञान और दर्शन का परस्पर समन्वय होना चाहिए और तथ्यो तथा मूल्यो का समन्वय किया जाना चाहिए। किन्तु यह कहना कदापि सगत नही है कि जो तथ्य है वह मूल्य है, जो व्याख्या है वह औचित्य है और जो वास्तविकता है वह आदर्श है। कुछ समय के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि प्रकृति का उद्देश्य विकास की प्रक्रिया के द्वारा जीवन को बनाए रखना है, तो भी यह नही कहा जा सकता कि विचारशील मनुष्य जीवन की रक्षा-मात्र को ही नैतिक आदर्श स्वीकार करता है। यदि ऐसा होता तो आदर्शो के लिए प्राण त्याग देनेवाले व्यक्ति को अनैतिक स्वीकार किया जाता।

स्पैन्सर ने तथ्यो और मूल्यो का तादात्म्य करके एक ऐसा असगत और अव्यावहारिक नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो एक ओर तो एक ऐसे बाह्यात्मक निरपेक्ष लक्ष्य को प्रस्तुत करता है, जिसका कि न कोई वैज्ञानिक आधार है और न तत्त्वात्मक, और दूसरी ओर नैतिक व्यवहार को केवल सापेक्ष कर्तव्य ही प्रमाणित करने की चेष्टा की है। यदि विकास का चरम लक्ष्य प्रकृति मे उपस्थित है और यदि जीवन की प्रक्रिया उस लक्ष्य की ओर स्वत. ही अग्रसर हो रही है और यह सब कुछ मनुष्य के सकल्प से सर्वात्मना स्वतन्त्र रूप से घटित हो रहा है, तो नैतिकता के लिए न तो किसी सापेक्ष कर्तव्य की आवश्यकता है और न किसी व्यक्ति को उस बाह्यात्मक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। इस दृष्टि से आचार-विज्ञान केवल एक ऐतिहासिक अध्ययन और स्वाभाविक व्याख्या-मात्र रह जाता है। गम्भीर विचार करने पर यह सिद्ध होता है

कि यह स्वाभाविक व्याख्या भी यथार्थ व्याख्या नही है। हम यह नही कह सकते कि वर्तमान समाज की नैतिकता अतीत के समाज की नैतिकता की अपेक्षा सर्वथा उत्कृष्ट तथा अधिक विकसित है। स्पैन्सर इस बात को भूल जाता है कि यदि नैतिकता का चरम लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व से बाहर हो, तो वह लक्ष्य सदैव एक कल्पना-मात्र रहेगा और उसके प्रति मनुष्य का कर्तव्य कदापि निरपेक्ष कर्तव्य नही हो सकेगा। यहा पर हमे काट के निरपेक्ष आदेशवाद के अन्तरात्मक तत्त्व को स्वीकार करना पडता है। नैतिक नियम निस्सन्देह निरपेक्ष नियम ही हो सकता है और कोई भी व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही माना जा सकता। यदि ऐसा है, तो नैतिकता का लक्ष्य मनुष्य के अन्तस् मे निहित होना चाहिए, न कि बाहरी वातावरण मे।

स्पैन्सर इस बात मे भूल करता है कि सामान्यतया प्राणी और विशेषकर मनुष्य अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित कर सकता है, जब उसमे ऐसा करने की क्षमता, स्वच्छन्दता एव स्वतन्त्रता हो। किसी भी वस्तु अथवा परिस्थिति को अनुकूलित अथवा प्रतिकूल स्वीकार करने की प्रक्रिया मे निस्सन्देह एक आदर्श एव लक्ष्य उपस्थित रहता है। जब हम यह कहते है कि दो वस्तुए एक-दूसरे से अनुकूलित नही है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि उन दोनो का परस्पर-सम्बन्ध ऐसा नही है, जोकि होना चाहिए। अनुकूलित होने का अर्थ एक वाछनीय अवस्था एव आदर्श की प्राप्ति है। यदि ऐसा नही होता, तो ससार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना को स्वत ही अनुकूलित स्वीकार किया जाता। मैकन्ज़ी ने इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए कहा है, "एक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु के प्रति अनुकूलित है। मृत्यु एक प्रकार की अनुकूलता है, एक जीवित प्राणी अनुकूलता के एक विशेप अभाव के प्रति इसलिए चैतन्य होता है, क्योकि उसके कुछ निश्चित उद्देश्य होते है। वैज्ञानिक मनुष्य इस बात का अनुभव करता है कि उसके विचार प्रकृति के तथ्यो के प्रति पूर्णतया अनुकूलित नही है और वह इसलिए ज्ञान की खोज करता है कि वह उन विचारो को अधिक पूर्णता से अनुकूलित कर सके। किन्तु एक पत्थर इस प्रकार के प्रयास की आवश्यकता के बिना ही अपने वातावरण से अनुकूलित है।"[१]

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अनुकूलता की धारणा मे आदर्श की धारणा निहित रहती है और वह आदर्श प्राकृतिक वातावरण मे उपस्थित नही होता, अपितु अपने-आपको अनुकूलित करनेवाले प्राणी अथवा व्यक्ति मे उपस्थित होता है। जब हम यह कहते हैं कि एक प्राणी अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित करता है, तो उसका अभिप्राय यह नही होता कि वह अपने-आपको भौतिक वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए परिवर्तित करता है, इसके विपरीत अनुकूलता को प्राप्त करने के लिए वह वातावरण मे परिवर्तन उत्पन्न करता है। विशेषकर मनुष्य के सम्बन्ध मे तो हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि वह अनुकूलता की प्राप्ति के लिए वातावरण मे तथा अपने-आपमे परिवर्तन

१. A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Page 199.

उत्पन्न करता है। यदि मनुष्य मे इस प्रकार अनुकूलता करने की क्षमता न होती एव सकल्प की स्वतन्त्रता न होती, तो उसके लिए अनुकूलता की धारणा का कोई भी अर्थ न होता। सत्य तो यह है कि केवल मनुष्य मे ही नही, अपितु पशुओ मे भी इतनी स्वतन्त्रता अवश्य है कि वे अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सके। अत. स्पैन्सर ने उद्देश्य एव लक्ष्य को प्रधानता न देकर और आरम्भ से व्याख्या करके एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो सिर के बल खडा हुआ है। तर्कशास्त्र मे इस प्रकार के विचार-सम्बन्धी दोष को प्रतिकूल तर्क (Hysteron-proteron) का दोष कहते है, जिसका अर्थ घोड़े के आगे गाड़ी रखना (Putting the cart before the horse) है।

यदि हम यह प्रश्न करे कि हम प्रकृति मे सन्तुलन उत्पन्न करने के लिए केवल जीवन की रक्षा को ही उद्देश्य मानकर सुखद कर्म को शुभ क्यो समझे, तो स्पैन्सर का सिद्धान्त हमे कोई सन्तोषजनक उत्तर नही देता। यदि शुभ का अर्थ जीवित रहने की क्षमता है, तो सर्वोत्तम शुभ का अर्थ सबसे अधिक क्षमता रखना है। यदि यह पूछा जाए कि वह क्षमता किस बात के लिए है, तो स्पैन्सर उसका उत्तर देगा कि जीवित रहने के लिए। यदि यह पूछा जाए कि जीवित रहना शुभ क्यो है, तो हमे इसका उत्तर नही मिलता। हम इसका उत्तर उस समय तक प्राप्त नही कर सकते, जब तक कि हम शुभ का अर्थ निर्धारित न कर ले। इसमे कुछ सन्देह नही कि जीवित रहना आंशिक दृष्टि से शुभ हो सकता है, किन्तु जीवित रहना-मात्र ही पूर्ण शुभ नही हो सकता।

जहा तक स्पैन्सर के दृष्टिकोण का भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ एव सन्तुलित व्यक्ति से तुलना का सम्बन्ध है, वहा पर यह कह देना पर्याप्त है कि स्पैन्सर की दृष्टि से सन्तुलन का अर्थ प्राणी द्वारा कम से कम सघर्ष करके कर्म करना है। उसके साथ ही साथ वह प्राणी की आवश्यकताओ की पर्याप्त पूर्ति को, जोकि उसी स्थायी वातावरण से प्राप्त होती है, सन्तुलन मानता है। इसके विपरीत भगवद्गीता के अनुसार, सन्तुलन बाह्यात्मक स्थिति नही है, अपितु ज्ञानी पुरुष की अन्तरात्मक अवस्था है। यहा पर हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवद्गीता मे सन्तुलन की धारणा उस तत्त्व-मीमासा पर आधारित है, जोकि भौतिक शरीर को आधार न मानकर, केन्द्रस्थ सत्ता आत्मा को ही उच्चतम सत्ता स्वीकार करती है। भगवद्गीता के अनुसार, ज्ञानेन्द्रियां, जोकि सुख-दु ख के अनुभव का साधन हैं, मन द्वारा नियन्त्रित होती हैं, मन, बुद्धि द्वारा नियन्त्रित होता है और बुद्धि, आत्मा पर निर्भर रहती है और आत्मा ही उच्चतम सत्ता है, जिसकी अनुभूति स्थितप्रज्ञ का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को सुख-दु ख की अवस्था से ऊपर उठना पडता है। यही कारण है कि भगवद्गीता मे कहा गया है कि सुख-दु ख, शीत-उष्ण आदि क्षणिक अनुभव हैं और जो व्यक्ति इन अनुभवो से प्रभावित न होकर, दु ख-सुख मे समान रूप से व्यवहार करता है, वही मोक्ष का अधिकारी है। स्पैन्सर प्राणी के शारीरिक स्तर को ही सम्भवतया उच्चतम स्तर मानता है और इसलिए वह कहता है कि सन्तुलित अवस्था मे प्राणी सुख का अनुभव करता है। वह सुख के अनुभव को ही शुभ मानता है,

अत उसे नैतिक लक्ष्य स्वीकार करता है। इसके विपरीत भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को सुख-दु.ख से परे जाना पड़ता है। स्पैन्सर के अनुसार, मनुष्य की बुद्धिमत्ता इसीमे है कि वह अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित करके अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति करे, यद्यपि वह परम शुभ एव निरपेक्ष शुभ को ऐसा लक्ष्य मानता है जिसकी पूर्ति सम्भव न हो। उसका यह दृष्टिकोण आशिक रूप से तत्त्वात्मक और आशिक रूप से अनुभवात्मक है।

स्पैन्सर यह भूल जाता है कि यदि निरपेक्ष शुभ वास्तव मे परम लक्ष्य है, तो वह अवश्य प्राप्त करने के योग्य होना चाहिए और उसकी प्राप्ति ही मनुष्य की चेष्टा का एकमात्र प्रेरक होना चाहिए। यदि परम शुभ ऐसा है जिसकी अनुभूति असम्भव है तो वह एक अमूर्त धारणा-मात्र ही प्रमाणित होता है। इसलिए स्पैन्सर इस परम शुभ एव सन्तुलन की परम अवस्था की व्याख्या नही करता और उसे एक सम्भावित कपोल-कल्पित लक्ष्य मानकर ही रह जाता है। ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हम पुनः भगवद्गीता के इस दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि स्थितप्रज्ञ के लिए सुख-दु ख आदि से ऊपर उठ जाने की अवस्था सन्तुलित अवस्था अवश्य है और इस अवस्था में सासारिक विरोध भी अवश्य समन्वित हो जाते है, किन्तु उसकी यह व्यक्तिगत अवस्था भी एक साधन-मात्र है जोकि उसे और भी ऊचा उठा सकती है। स्पैन्सर के लिए सन्तुलित अवस्था ही उद्देश्य है और निरपेक्ष सन्तुलित अवस्था असम्भव है। यही कारण है कि भगवद्गीता ऐसी विधि प्रतिपादित करती है जिसपर चलकर व्यक्ति परम शुभ को प्राप्त कर सकता है, जबकि स्पैन्सर कोई ऐसी विधि प्रतिपादित नही कर सका। अत स्पैन्सर का नैतिक सिद्धान्त अपूर्ण, अव्यावहारिक और असगत है।

अन्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त

स्पैन्सर का विकासवादी नैतिक सिद्धान्त, जैसाकि हमने ऊपर बताया है, न तो पूर्णतया वैज्ञानिक है (क्योकि वह निरपेक्ष शुभ की धारणा प्रस्तुत करता है) और न ही पूर्णतया दार्शनिक (क्योकि वह उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भी परम शुभ को असम्भव तत्त्व मानता है)। अन्य विकासवादी नैतिक विचारक, विकासवाद के आधार पर केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। वे डार्विन के 'अस्तित्व के लिए सघर्ष' (Struggle for existence) को स्वीकार करके, नैतिकता के क्षेत्र मे भी इसी प्रकार के सघर्ष की उपस्थिति को मान्यता देते हैं। उनकी यह धारणा है कि जिस प्रकार जीवन के सघर्ष मे, प्राकृतिक निर्वाचन (Natural selection) के द्वारा सबसे अधिक क्षमतावाला (The fittest) प्राणी ही जीवित रह सकता है, उसी प्रकार नैतिक आदर्शो और परम्पराओ के सघर्ष मे केवल सबसे अधिक शक्तिशाली एव प्रभावशाली नैतिक आदर्श ही समाज मे स्थिर रहते है। ये विकासवादी नैतिक विचारक निरपेक्ष शुभ को

स्वीकार नही करते, अपितु केवल सामाजिक सन्तुलन अथवा व्यवहार की अनुकूलता को ही लक्ष्य मान लेते है। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे दृष्टिकोण सापेक्ष दृष्टिकोण हैं और वास्तव मे अपूर्ण व्याख्यात्मक धारणाए है। इन विचारको का उद्देश्य आचार-विज्ञान को आदर्शवादी विज्ञान के स्तर से हटाकर एक व्याख्यात्मक एव प्राकृतिक विज्ञान वना देना है। ऐसे विचारको मे से प्रोफेसर एलैग्जाण्डर का दृष्टिकोण, जोकि अन्य सभी दृष्टिकोणो का साराश है, यहा उल्लेखनीय है।

प्रोफेसर एलैग्जाण्डर यह मानकर चलता है कि नैतिकता विकासात्मक उत्पत्ति है और नैतिक आदर्श व्यवहार की अनुकूलता एव व्यक्ति तथा वातावरण मे सन्तुलन है। शुभ का अर्थ पूर्ण सामजस्य है। अलैग्जाण्डर के शब्दो मे, "किसी व्यक्ति अथवा कर्म का मूल्याकन ऐसे विशेष व्यवहार-सम्बन्धी मापदण्ड द्वारा किया जाता है, जिसको नैतिक आदर्श कहते हैं। यह नैतिक आदर्श क्रम की वह अनुकूलित व्यवस्था है, जो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो पर आधारित है और जो उन (प्रवृत्तियो) मे सन्तुलन उत्पन्न करती है। शुभ, इस सन्तुलित पूर्ण मे, अनुकूलता के अतिरिक्त और कुछ नही है।"[१] इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि ऐलैग्जाण्डर विकासवादी प्राकृतिक निर्वाचिन के सघर्ष के सिद्धान्त को नैतिक क्षेत्र मे लागू करता है। यह तथ्य उसके एक लेख 'नैतिकता मे प्राकृतिक निर्वाचन' से और भी पुष्ट हो जाता है। इस लेख का साराश प्रोफेसर मैकन्जी ने भी अपनी पुस्तक (ए मैनुअल आफ एथिक्स)[२] मे दिया है। इसी लेख मे ही प्रोफेसर एलैग्ज़ाण्डर ने वास्तव मे विकासवादी नैतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा है, प्रो० एलैग्ज़ाण्डर प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त को नैतिक विचारो के विकास का सिद्धान्त मानता है। अत वह अपने लेख मे सर्वप्रथम निर्वाचन के सिद्धान्त की सामान्य व्याख्या करता है। इस व्याख्या के अनुसार, जीवन के विकास मे प्राकृतिक निर्वाचन उस प्रक्रिया को कहा जा सकता है, जिसके द्वारा विशेष लक्षणो के ढाचे (Characteristic structures) वाले प्राणियो की जाति प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए सघर्ष करती है और उनमे से एक प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और सापेक्ष रूप से स्थायी हो जाती है। जिस प्रकार इस नियम के आधार पर पशुओ के जीवन मे सघर्ष होता है और उस सघर्ष के फलस्वरूप अधिक क्षमता एव शक्तिवाला पशु जीवित रह सकता है, उसी प्रकार मनुष्य के आदर्शो मे भी सघर्ष होता है। किन्तु इस प्राकृतिक निर्वाचन के सघर्ष मे वह आदर्श स्थायी नही वनता, जोकि व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयोगी

१. "An act or person is measured by a certain standard or criterion of conduct, which has been called the moral ideal This moral ideal is an adjusted order of conduct, which is based upon contending inclinations and establishes an equilibrium between them Goodness is nothing, but this adjustment in the equilibrated whole"
—Moral Order and Progress by Professor Alexander, Page 399

२. A Manual of Ethics by J S. Mackenzie, Pages 202, 203.

हो, अपितु वह जीवन-शैली एव आदर्श स्थायी बनता है, जोकि सामाजिक कल्याण के लिए उपयुक्त होता है। पशुओ के जीवन के सघर्ष मे तो जिनमे ऐसे शारीरिक लक्षण होते है, जोकि उनको वातावरण के विरोध मे जीवन बनाए रखने के लिए सहायक सिद्ध होते है, जीवित रहते है और निर्बल प्राणियो का अन्त हो जाता है। किन्तु आदर्शों के सघर्ष मे, एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो द्वारा प्रतिपादित विचारधारा सामाजिक सघर्ष मे सफल रहती है, यद्यपि उसको प्रतिपादित करनेवाला व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का समूह मृत्यु को भी प्राप्त करता है।

इस सघर्ष की व्याख्या प्रो० एलैग्जाण्डर ने विस्तारपूर्वक की है। उसका कहना है कि एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का समूह, जिसकी भावनाए कम या अधिक चिन्तन द्वारा परिवर्तित होती है और जो उन भावनाओ से प्रेरित होकर जीवन के नये मार्ग पर चलना चाहता है, उत्पन्न होता है ; वह निर्दयता अथवा रूक्षता को नापसन्द करता है अथवा स्त्रियो के बन्धनो और अन्य सामाजिक दोपो का विरोध करता है। सम्भवतया वह अकेला अथवा कुछ मित्रो के साथ अपने दृष्टिकोण का प्रचार करता है। लोग उसकी विचारधारा पर सम्भवतया हसी उडाते हैं और उससे घृणा करते है। इस सघर्ष मे उसे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है और सम्भवतया उसको अपने आदर्शों के लिए जीवन का बलिदान भी देना पडता है। लोग उसकी मृत्यु से पूर्व तथा पश्चात् धीरे-धीरे उसके विचारो को अपनाने लगते है और अन्त मे उसके आदर्श समाज पर छा जाते हैं। नैतिकता के निर्वाचन मे प्रेरणा और शिक्षा, विरोधी जीवो के संहार तथा अपने वर्ग के प्राणियो के प्रसार का स्थान ले लेते है। दूसरे शब्दों मे, जहा जीवन के सघर्ष मे एक प्राणी-वर्ग अपने विरोधी वर्ग का अन्त करता है, वहा नैतिकता के सघर्ष मे प्रेरणा, विरोधी विचारो की समाप्ति का साधन बनती है। एक मन की दूसरे मन पर विजय प्रेरणा के द्वारा होती है। जहा जीवन के सघर्ष मे एक प्राणी-वर्ग अपनी सन्तान की वृद्धि के द्वारा जीवन की रक्षा करता है, वहा नैतिक सघर्ष मे शिक्षा के द्वारा आदर्शों की रक्षा होती है।

आलोचना

प्रो० एलैग्ज़ाण्डर का यह दृष्टिकोण निस्सदेह एक व्याख्यात्मक और विश्लेपणात्मक दृष्टिकोण है, किन्तु हम इसे नैतिक सिद्धान्त एव आदर्श नही मान सकते। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि यह नैतिक जीवन के विकास का एक विशेप प्रकार का इतिहास है। यह इतिहास भी एक दृष्टिकोण को लेकर चलता है और सामाजिक घटनाओ की उस दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करता है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते है कि आचार-विज्ञान की विशेषता इसीमे है कि वह एक आदर्शवादी विज्ञान है, जोकि औचित्य का निर्णय देता है, जबकि एलैग्ज़ाण्डर का विकासवादी दृष्टिकोण, उसे एक प्राकृतिक और व्याख्यात्मक विज्ञान बनाने की [illegible] है। जीव-विज्ञान मे हम विकासवाद के

सिद्धान्त को लागू कर सकते है, क्योकि वह विज्ञान व्याख्यात्मक है और उसका उद्देश्य यह बताना है कि जीवन का क्या स्वरूप है। किन्तु आचार-विज्ञान नियामक विज्ञान (Normative Science) होने के कारण, हमे जीवन के औचित्य (Ought)-सम्बन्धी मूल्यो से अवगत कराता है और हमे यह बताता है कि हमारे जीवन को किस प्रकार होना चाहिए। अत इस क्षेत्र मे विकासवादी व्याख्यात्मक सिद्धान्त को लागू करना आचार-विज्ञान के स्वरूप तथा उसकी विशेष विधि के सर्वथा विपरीत है।

विकासवादी नैतिक विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध जीवन से अवश्य है, किन्तु यह सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है, क्योकि आचार-विज्ञान नियामक होने के कारण व्यवहार के आदर्श से सम्बन्ध रखता है, न कि व्यवहार की व्याख्या से। चाहे वह आदर्श व्यवहार-सम्बन्धी नियम एवं कर्तव्य हो, चाहे वह ऐसा उद्देश्य हो जिसकी ओर व्यवहार हमे निर्दिष्ट करता है, व्यवहार की नैतिकता यह पूछने से निर्धारित नही होती कि व्यवहार किस प्रकार प्रत्पन्न होता है। इसके विपरीत व्यवहार की नैतिकता का मूल्याकन यह प्रश्न पूछने से होता है कि क्या वह निर्धारित नियम एव नैतिक लक्ष्य के निकट है अथवा उसके अनुसार है कि नही? दूसरे शब्दो मे, आचार-विज्ञान मे हमारा सम्बन्ध शुभ सकल्प अथवा आदर्श व्यक्तित्व से होता है, न कि कर्म के प्रकार एव क्रिया की व्याख्या से। जहा पर औचित्य नही है, वहा नैतिकता उपस्थित नही हो सकती। विकासवादी नैतिक सिद्धान्त व्याख्या पर बल देने के कारण औचित्य को कोई स्थान नही देते। अत उनके सिद्धान्तो को हम आचार-विज्ञान मे स्थान नही दे सकते।

यदि यह मान भी लिया जाए कि किसी नैतिक आदर्श को समाज द्वारा तभी शुभ मान लिया जाता है, जब वह स्थायी हो जाता है, फिर भी हम यह नही कह सकते कि उस आदर्श का शुभ होना उसकी सफलता पर ही निर्भर है। ऐलैग्ज़ाण्डर के दृष्टिकोण से कोई नवीन जीवन-शैली इसलिए शुभ प्रमाणित होती है कि वह सघर्ष मे सफल हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, किसी आदर्श की सफलता उसके शुभ होने का चिह्न है। किन्तु यह धारणा निस्सन्देह एक भ्रान्त धारणा है। क्योकि यदि ऐलैग्ज़ाण्डर से यह पूछा जाए कि वह कौन-सा लक्षण है, जोकि उसको शुभ बनाता है और नैतिक आदर्शो को वाछनीय बनाता है, तो वह (ऐलैग्जाण्डर) यह उत्तर देगा कि शुभ का वह सामान्य लक्षण ऐसी जीवन-शैली है जोकि अस्तित्व की परिस्थितियो के अनुकूल होती है। दूसरे शब्दो मे, वह समाज का सन्तुलन है। यदि यह पूछा जाए कि सामाजिक सन्तुलन क्यो वांछनीय है, तो विकासवादी इसका यह उत्तर देते हैं कि यह सन्तुलन जीवन के विकास के लिए उपयुक्त है। जीवन का विकास एक प्रक्रिया है, जो पुन प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय है। यदि सामाजिक सन्तुलन को शुभ मान भी लिया जाए, तो वह पूर्ण शुभ नही होगा, अपितु एक प्रकार का शुभ होगा। इस प्रकार ऐलैग्ज़ाण्डर का विकासवादी दृष्टिकोण भी स्पैन्सर के दृष्टिकोण की भाति उद्देश्य एव लक्ष्य को प्रधान न मानकर, केवल

व्याख्या को ही प्रधान मानता है।

हमने पहले भी निर्देश किया है कि आधुनिक अनुसन्धान ने जीवन को केवल प्राकृतिक क्रिया न मानकर उद्देश्यात्मक प्रक्रिया माना है। विकासवादियो की अपनी व्याख्या भी यह सकेत करती है कि विकासवाद उद्देश्यात्मक है। प्राणियो का सम्पूर्ण जीवन एक पूर्ण अनुकूलता प्राप्त करने का सघर्ष माना गया है। दूसरे शब्दो मे, पूर्ण अनुकूलता एक ऐसा आदर्श है जो विकास की प्रक्रिया की व्याख्या करता है एव उसका नियन्त्रण करता है। जब तक हम विकासवाद के उद्देश्यात्मक अग की पूरी व्याख्या न करे, तब तक हम उसके अर्थ को नही समझ सकते। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि हीगल जैसे दार्शनिको ने समस्त जीवन की प्रक्रिया को ही नही, अपितु जड तथा चेतन सम्पूर्ण अस्तित्व-मात्र को उद्देश्यात्मक सृष्टि की उत्पत्ति माना है। एक क्षण के लिए यदि अन्य प्राणियो के जीवन को उद्देश्यात्मक न भी माना जाए, जहा तक मनुष्य के जीवन का सम्बन्ध है, हमे अनिवार्य रूप से उसकी नैतिकता को उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण के अधीन करना पडता है।

विकासवादी नैतिक सिद्धान्त आचार-विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान बना देने की धुन मे यह भूल जाते हैं कि आचार की विशेषता उसका मूलभूत आधार कर्तव्य ही है। ऐसे विचारक अपने सिद्धान्त मे या तो कर्तव्य को स्थान ही नही देते या उसकी अस्पष्ट धारणा प्रस्तुत करते है। न ही केवल इतना, अपितु वे आचार-विज्ञान को कर्तव्य के बिना तथा सत्य, शिव, सुन्दरम् के मूल्यो के बिना एक विचित्र विज्ञान बना देना चाहते है। आचार-विज्ञान को विशुद्ध वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा मे एक अमरीकी वैज्ञानिक डाक्टर चासी डी० लीक आचार-विज्ञान का नाम परिवर्तित करके उसे आचार के आधार का विज्ञान (Ethico-genesis) कहता है। उसके अनुसार, परम्परागत आचार-विज्ञान एक तत्त्वात्मक असगतता है और रूढिवादी आदर्शवाद है। अत आचार के अध्ययन मे उसी व्याख्यात्मक विधि को अपनाना चाहिए, जो वैज्ञानिक खोज का लक्षण है और उसके द्वारा एक ऐसे प्राकृतिक नियम को ढूढ निकालना चाहिए, जोकि मानवीय सम्बन्धो का आधार है। वैज्ञानिक विधि मे उन अनुभवो का कोई स्थान नही हो सकता, जिनका निरीक्षण नही किया जा सकता और जिनपर प्रयोग नही किया जा सकता। अत. मूल्यो को विज्ञान का विषय नही बनाना चाहिए, क्योकि वे केवल तत्त्वात्मक धारणाए है। क्योकि सत्य, शिव, सुन्दरम् के निरपेक्ष और शाश्वत मूल्यो को व्याख्यात्मक विधि के द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता, इसलिए मूल्यो की धारणा अवैज्ञानिक है। आचार-विज्ञान मूल्य-सम्बन्धी विज्ञान नही है, जिसका उद्देश्य शुभ को बाह्यगत मूल्य मानकर उसकी परिभाषा देना हो। इसके विपरीत, आचार-विज्ञान एक जीवन-सम्बन्धी विज्ञान है, जोकि अधिक व्यापक जीव-विज्ञान के अन्तर्गत है। लीक का कहना है कि जीव-विज्ञान के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि किसी भी प्राणी अथवा प्राणियो की जाति के लिए, जीवन को बनाए रखना ही शुभ है। इस प्रकार लीक भी डार्विनवाद से सहमत है और यह स्वीकार करता है कि नैतिकता को समझने के लिए उस विकासवाद की व्याख्या आवश्यक है, जिसका

ग्राधारभूत सिद्धान्त यह है कि जीवन की रक्षा वातावरण-सम्बन्धी परिस्थितियो से ग्रनुकूलता द्वारा ही की जा सकती है।

स्पैन्सर ने ग्राचार-विज्ञान को स्वभाववादी विज्ञान बनाने की चेष्टा नही की, यद्यपि उसके विकासवादी सिद्धान्त मे यह धारणा निहित ग्रवश्य है। लीक ने इस निहित धारणा को स्पष्ट करके ग्राचार-विज्ञान की परिभाषा ही परिवर्तित कर दी है। उसके ग्रनुसार, उस व्यक्ति ग्रथवा व्यक्तियो के समूह के, जो समरूपतापूर्वक ग्रन्य व्यक्तियो ग्रथवा समूहो से ग्रपने-ग्रापको ग्रनुकूलित करता है, जीवन की रक्षा की ग्रधिक सम्भावना रहती है। विकासवाद के इस तथ्य के ग्राधार पर नैतिकता के क्षेत्र मे उसी व्यवहार को शुभ कहा जा सकता है जोकि वातावरण के प्रति सन्तुलित एव समरूप (Harmonious) ग्रनुकूलता मे सहायक होता है। लीक इस सिद्धान्त को ग्राचार-विज्ञान का सामजस्य (Harmony) का सिद्धान्त कहता है। यही कारण है कि नैतिक नियम वाछनीय माने जाते है। उदाहरणस्वरूप, ग्रपने पड़ोसी से ग्रपने समान प्रेम करना इसलिए वांछनीय है कि इस प्रकार के व्यवहार द्वारा हम ग्रपने-ग्रापको सन्तुलित रूप से ग्रपने वातावरण से ग्रनुकूल बनाकर, ग्रपने जीवन की रक्षा कर सकते है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि विकासवाद की, जीवन के लिए सघर्ष की धारणा नैतिकता के नियमो के विरुद्ध मनुष्य को ग्रहिंसा की ग्रपेक्षा हिंसा की ग्रोर ले जाती है, तो लीक उत्तर देता है कि विकासवाद की यह ग्रालोचना ग्रसगत है। उसका कहना है कि डार्विन के विकासवाद का ग्राचार-विज्ञान मे महत्त्व यह है कि ग्ररस्तू के द्वारा प्रस्तुत नैतिकता के सामंजस्य के सिद्धान्त को पुष्ट किया जाए। इस प्रकार नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है जो ग्रनुकूलता, मेल ग्रौर समन्वय करनेवाला व्यवहार होता है ग्रौर जो व्यक्तियो के परस्पर-सम्बन्ध मे सन्तोष उत्पन्न करता है।

लीक के उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि उसने विकासवाद को ग्राचार-विज्ञान का ग्राधार मानकर, एक व्याख्यात्मक नैतिक नियम का प्रतिपादन किया है। उसकी यह धारणा है कि व्यक्तियो ग्रथवा व्यक्तियो के समुदायो मे वे सम्बन्ध ही सम्भवतया ग्रधिक समय तक स्थायी रह सकते है, जोकि उन व्यक्तियो ग्रथवा समूहो के सह-ग्रस्तित्व के लिए सन्तोषजनक होते हैं। इस प्रकार नैतिकता का नियम ग्रन्य प्राकृतिक विज्ञानो की भाति एक प्राकृतिक नियम है ग्रौर चाहे हम इसे जानते हो या न जानते हो, यह स्वत ही काम करता रहता है। इस नियम को स्वीकार करने का लाभ यही है कि हम इसका सदुपयोग करके ग्रधिक कुशलता से व्यवहार कर सकते है।

लीक का यह सिद्धान्त परम्परागत नैतिकता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या देने की चेष्टा करता है। किन्तु यह व्याख्या भी एक ग्रस्पष्ट व्याख्या हैं। यदि हम नैतिकता के इतिहास पर भी दृष्टि डालें, तो हम यह नही कह सकते कि किसी भी संस्कृति मे त्याग की भावना ग्रौर ग्रादर्शो के लिए दु ख को सहन करने की प्रवृत्ति को ग्रनैतिक स्वीकार किया गया है। लीक की भाति कुछ ग्रन्य विचारको ने भी मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार की,

सुख-दु.ख के अनुभव के आधार पर व्याख्या देने की चेष्टा की है। उनके अनुसार, सभ्य समुदायो मे भी शुभ का अनुसरण इसलिए किया जाता था कि उसपर चलने से पारितोषिक की सम्भावना थी और उसपर न चलने से दण्ड मिलने का भय रहता था। इस प्रकार की व्याख्या मनुष्य के मूल्यात्मक अग की अवहेलना करती है। मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर रहनेवाला प्राणी नही है। उसका तर्क उसे प्राकृतिक स्तर से ऊपर उठाता है और उसमे आदर्श की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनुष्य की सामाजिक प्रगति का रहस्य केवल सुखद व्यवहार को अपनाने तथा दुःख से बचने की चेष्टा-मात्र मे ही निहित नही है। इसके विपरीत उसका रहस्य मनुष्य मे उपस्थित उस बौद्धिक शक्ति मे है, जो उसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। इसी विशेषता के कारण ही, मनुष्य अपने सकल्प को आदर्शों की प्राप्ति का साधन बनाता है। यदि मनुष्य की आदर्श को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का वैज्ञानिक अध्ययन नही किया जा सकता, तो मनुष्य को कदापि विज्ञान का विषय भी नही बनाया जा सकता। यदि मनुष्य ब्रह्माण्ड के अन्य तथ्यो की भाति प्रकृति का एक अग है और यदि मनुष्य के स्वभाव मे आदर्श को प्राप्त करने की प्रेरणा एव मूल्य की अनुभूति एक तथ्य है, तो मूल्यात्मक विज्ञान भी निश्चित रूप से उतना ही महत्त्वपूर्ण विज्ञान होना चाहिए, जितना कि कोई भी अन्य प्राकृतिक विज्ञान हो सकता है। अत लीक तथा अन्य विकासवादियो की यह धारणा कि मूल्य का वैज्ञानिक अध्ययन नही किया जा सकता, एक असगत धारणा है।

एक अन्य अमरीकी विचारक पैट्रिक रोमानेल ने भी वैज्ञानिक विधि को, केवल व्याख्यात्मक विधि स्वीकार करने की प्रवृत्ति का एक सकुचित प्रवृत्ति माना है। उसके अनुसार, वैज्ञानिक विधि का अर्थ केवल निरीक्षण और व्याख्या नही है। उस विधि मे रचनात्मक कल्पना (Constructive imagination) का भी प्रयोग किया जाता है। हर प्रकार की वैज्ञानिक खोज मे, चाहे वह खोज नैतिकता की भी क्यो न हो, रचनात्मक कल्पना का प्रयोग अवश्य किया जाता है। किन्तु स्वाभाववादी विज्ञानो मे तथा आदर्शवादी विज्ञानो मे अन्तर केवल दृष्टिकोण का ही रहता है, न कि विधि का। स्वभाववादी विज्ञानो मे, उद्देश्य अस्तित्ववादी (Existential) होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञानो मे उद्देश्य नियामक होता है। दूसरे शब्दो मे, स्वभाववादी अथवा प्राकृतिक विज्ञान का सम्बन्ध वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप से होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञान का सम्बन्ध उनके औचित्य से होता है। अत इन विज्ञानो का परस्पर अन्तर यह नही है कि स्वभाववादी विज्ञान व्याख्यात्मक विधि को अपनाते है और आदर्शवादी विज्ञान नियामक विधि को अपनाते है। इसके विपरीत उनमे भेद इस बात का है कि स्वभाववादी विज्ञानो का उद्देश्य व्याख्यात्मक होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञानो का उद्देश्य नियामक होता है। अत आचार-विज्ञान को नियामक विज्ञान स्वीकार न करना और उसकी परिभाषा को बदलकर उसे केवल व्याख्यात्मक विज्ञान घोषित करना सर्वथा भ्रात और असगत है। यहा पर यह कह देना आवश्यक है कि पश्चिमीय दार्शनिको के दृष्टिकोण के अनुसार, दार्शनिक को

केवल एक वैज्ञानिक ही स्वीकार किया जाता है। दार्शनिक का उद्देश्य केवल सिद्धान्त को प्रतिपादन करना है। दर्शन और विज्ञान का भेद केवल इतना है कि जहा दर्शन सम्पूर्ण विश्व को जानने की चेष्टा करता है, वहा विज्ञान विश्व के आशिक ज्ञान को लक्ष्य बनाता है। पश्चिमीय दर्शन की यह प्रवृत्ति ही विकासवादी नैतिकता जैसी भ्रान्त धारणाओ का मुख्य कारण है। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, दर्शन का सम्बन्ध जीवन से है। उसका मुख्य उद्देश्य व्याख्यात्मक ज्ञान देना ही नही है, अपितु वास्तविकता की अनुभूति है। दूसरे शब्दो मे, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन का अर्थ वास्तविकता से तादात्म्य एव आत्मानुभूति स्वीकार किया गया है। यह अनुभूति निस्सन्देह व्यक्ति को उस ऊचे स्तर पर पहुचा देती है, जहा कि ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हो जाते है और जहा सासारिक सापेक्षताए निरपेक्ष अनुभूति मे विलीन हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, नैतिकता उस उच्चतम आत्मानुभूति का साधन है, जिसको प्राप्त करके व्यक्ति विज्ञान तथा नैतिकता दोनो से ऊपर उठ जाता है। अत नैतिकता को पूर्ण से सम्बन्धित न करके, उसे आंशिक विज्ञान से सम्बन्धित करना आचार-विज्ञान के स्तर को नीचे की ओर ले जाना है। दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर और नैतिकता को आत्मानुभूति का साधन स्वीकार करने के पश्चात्, हम यह कह सकते हैं कि लीक ने आचार-विज्ञान के आधार को नष्ट करने की चेष्टा की है। उसने कोई नवीन नैतिक आधार प्रस्तुत नही किया।

लीक के सिद्धान्त की अपूर्णता और अस्पष्टता हमे इस बात को जानने के लिए प्रेरित करती है कि क्या पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे कोई ऐसा नैतिक सिद्धान्त भी है जो पूर्णता (Perfection) को नैतिकता का लक्ष्य मानता है। लीक इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकता कि जीवन की रक्षा का क्या अर्थ है और वह क्यो वांछनीय है, क्योकि वह मनुष्य मे स्थित उस उच्चतम तत्त्व की अवहेलना करता है, जिसे विवेक (Reason) कहा गया है और जो जीवन के विकास की उच्चतम सीढी स्वीकार की गई है। यदि जीवन का विकास विवेक एवं बुद्धि की उत्पत्ति का साधन सिद्ध हुआ है, तो क्या यह नही कहा जा सकता कि इस बुद्धि द्वारा निर्धारित मूल्य ही नैतिक लक्ष्य हो सकते हैं और नैतिकता का उद्देश्य सुख की प्राप्ति नही, अपितु आत्मानुभूति होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर हमे पश्चिमीय दर्शन मे ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त (Self-realization) मे मिल सकता है।

आठवां अध्याय

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त

(Perfectionism as the Standard of Morality)

हमने पिछले अध्याय मे विकासवादी नैतिक सिद्धान्तो की अपूर्णता का निरीक्षण किया है। इस अपूर्णता का मुख्य कारण प्रकृति तथा जीवन को केवल तथ्य मानकर विकासवाद को एक निरुद्देश्य यान्त्रिक प्रक्रिया स्वीकार करना है। ऐसी धारणाओ को प्रस्तुत करनेवाले विचारक मनुष्य की विचारशीलता की अवहेलना करके, उसकी उत्कृष्ट रचनात्मक तथा कलात्मक मानसिक शक्ति के महत्त्व को ही कम नही करते, अपितु विचार को प्रकृति से पृथक् करके, विकास की प्रक्रिया की भ्रान्त धारणा प्रस्तुत करते है। हमने पहले भी कहा है कि यदि विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है और उस निरन्तरता मे मनुष्य की विवेकशक्ति और उसकी रचनात्मक कल्पना की उत्पत्ति सत्य, शिव, सुन्दरम् के शाश्वत मूल्य, उसी शक्ति की देन है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास एक निरुद्देश्य प्रक्रिया नही है। विकास का उद्देश्य प्रगति है और वह प्रगति जड से चेतन और चेतन से आत्मचेतन की ओर अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है। अत. हम विकासवाद से जो प्रेरणा प्राप्त कर सकते है, वह यह है कि मनुष्य अपने मे स्थित, विवेक के उच्चतम तत्त्व का प्रयोग करके पूर्णत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करे। यह पूर्णत्व निस्सन्देह उसकी आत्मानुभूति ही होगी, क्योकि आत्मचेतना ही विकास की प्रक्रिया का उद्देश्य प्रमाणित होता है। इस प्रकार का नैतिक सिद्धान्त श्री टी० एच० ग्रीन ने प्रस्तुत किया है। किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व उस पृष्ठभूमि का उल्लेख करना आवश्यक है, जिस-पर कि यह सिद्धान्त आधारित है।

ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त प्रत्ययवाद (Idealism) की उस धारणा की उत्पत्ति है, जो विश्व के विकास को एक चेतनात्मक एवं आध्यात्मिक विकास मानता है और जो चेतना को ही विश्वव्यापी तत्त्व स्वीकार करता है। इस विश्वव्यापी प्रत्ययवाद (Objective Idealism) का निर्माता विख्यात जर्मन दार्शनिक हीगल है। हीगल का दर्शन पश्चिमीय दर्शन के इतिहास मे विशेष महत्त्व रखता है। उसके प्रत्ययवाद ने दर्शन मे दो मुख्य धारणाओ को जन्म दिया है। एक विचारधारा तो हीगल के प्रत्ययवाद का ही नवीन रूप है और उसे नवीन हीगलवाद कहा जाता है, दूसरी विचारधारा कार्ल मार्क्स का तर्कात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। नवीन हीगलवाद

के समर्थक टी० एच० ग्रीन, एफ० एच० ब्रैडले तथा बी० बौन्साके आदि हुए है। यहा पर मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या का कोई सम्बन्ध नही है। अत हम हीगल के दृष्टिकोण की सक्षिप्त व्याख्या नवीन हीगलवाद के प्रकरण की दृष्टि से करेंगे।

हीगल के अनुसार मनुष्य उस आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ उत्पत्ति है, जोकि विश्व की प्रक्रिया मे निहित है। उसके अनुसार सत्-मात्र, मनुष्य के विचार की भाति, एक विकासात्मक पूर्ण है। जिस प्रकार हमारे विचार मे विकास और गति होती है और उसमे प्रथम विचार एक धारणा प्रस्तुत करता है, दूसरा विचार उसका विरोध करता है और तीसरा विचार दोनो का समन्वय करता है, ठीक उसी प्रकार विषयगत जगत् मे विरोधी तत्त्वो का समन्वय होता है। हीगल के अनुसार, एक विश्व-व्यापी विचार ही अपने-आपको विश्व के विकास मे अभिव्यक्त कर रहा है। सत् एक तर्कात्मक प्रक्रिया है, जिसका अर्थ और उद्देश्य है। यह अव्यवस्थित और अर्थहीन घटना नही है, अपितु एक व्यवस्थित विकास एव प्रगति है। हीगल ने एक विश्वव्यापी आत्मा अथवा ईश्वर को ही वह व्यापक विचार माना है, जोकि विश्व की निहित शक्ति है और ऐसा समयातीत सम्पूर्ण है, जिसमे विकास की सभी क्षमताए उपस्थित हैं। यह विचार रचनात्मक तर्क है, जो जड-जगत् मे सुप्त अवस्था मे है, वनस्पति-जगत् मे अर्धचेतन है, प्राणियो मे चेतनावस्था मे है और मनुष्य मे आत्मचेतन हो जाता है। समयातीत सम्पूर्ण अथवा तर्क, समय और स्थान के अन्तर्गत विभिन्न स्तरो से गुज़रता हुआ विकास को प्राप्त होता है। अत. विश्वव्यापी चेतना एक क्रम से ही विकसित होती है।

यह आत्मा अथवा विश्वव्यापी तर्क न ही केवल प्रकृति के विकास मे अपने-आपको व्यक्त करता है, किन्तु मानवीय सस्थाओ मे, इतिहास मे, सत् एव नियम मे, नैतिकता अथवा अन्त करण मे तथा परम्परा अथवा नैतिक रीति-रिवाजो मे भी अभि-व्यक्त होता है। इन सस्थाओ तथा इतिहास मे यह तर्क अपने-आपको अनुभूत करता है और अव्यक्त से व्यक्त होता है। इसी दृष्टि से इसको जगद्व्यापी तर्क कहा जाता है। जिस तर्क अथवा विचार ने मानवीय सस्थाओ को जन्म दिया है, वही तर्क है जो उनको सम-झने की चेष्टा करता है। वह तर्क जिसने कि अनायास विधान, परम्परा तथा राज्य का विकास किया है, वही सत् के दर्शन मे स्थित प्रक्रिया के प्रति चैतन्य होता है। दर्शन का उद्देश्य यह बताना है कि तर्कात्मक सस्थाए किस प्रकार सत् अथवा न्याय के स्वरूप की धारणा से विकसित होती हैं। जगद्व्यापी तर्क, ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियो के समाज मे अनु-भूत होता है, जिसमे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समुदाय के विधान तथा रीतियो को अपने सकल्प पर लागू करता है। ऐसे समाज मे व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अन्त.करण को जगद्-व्यापी तर्क के अधीन करता है। वह अपनी विश्वव्यापी तथा यथार्थ आत्मा को अपने समुदाय के रीति-रिवाजो एव नैतिक परम्पराओ मे अभिव्यक्त-अनुभूत करता है। आत्म-चेतन व्यक्तियो के समुदाय मे नैतिक जाग्रति का विकास क्रियात्मक तर्क के विकास का परिणाम है। समाज मे अनेक अनुभवो के प्राप्त करने के पश्चात्, व्यक्ति यह सीखता है

कि जगद्व्यापी उद्देश्य का संकल्प करने मे, वह अपना सकल्प कर रहा है और वह इस प्रकार स्वतन्त्र है। वास्तविकता और आदर्श यहा एक हो जाते है। व्यक्तिगत तर्क जगद्-व्यापी तर्क को अपना स्वीकार कर लेता है। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत भावना को त्याग देता है और व्यक्तिगत तर्क को उस जगद्व्यापी तर्क के अधीन कर देता है, जोकि समुदाय की चेतना मे अथवा राष्ट्रीय मन मे अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। यही सस्थागत नैतिकता है।

इस प्रकार हीगल के अनुसार, मानवीय इतिहास को एक ऐसी क्रमिक प्रक्रिया स्वीकार किया गया है, जोकि एक पूर्ण प्रकार की ऐसी आत्मचेतना की ओर अग्रसर हो रही है, जोकि परम सत्य की अनुभूति है। हीगल के इन विचारो का समर्थन अनेक विद्वानो ने किया है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, एफ० एच० ब्रैडले और टी० एच० ग्रीन ऐसे हीगल के समर्थको मे से दो मुख्य विचारक है। इन्होने सर्वप्रथम अंग्रेजी भाषा मे हीगल के दृष्टि-कोण को प्रस्तुत किया है। ब्रैडले की पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) ऐसी प्रथम पुस्तक थी, जिसके द्वारा अंग्रेज़ी भाषा मे हीगल के विचारो को अभिव्यक्त किया गया है। किन्तु ग्रीन का दृष्टिकोण अधिक सरल और स्पष्ट है, यद्यपि वह भी हीगल के विचारो से प्रभावित है। यह तो सत्य है कि ब्रैडले ने सर्वप्रथम आत्मानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या की है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से तथा सरलता की दृष्टि से ग्रीन के नैतिक सिद्धान्त को ब्रैडले के सिद्धान्त की अपेक्षा पहले प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ग्रीन का दृष्टिकोण

इससे पूर्व कि हम ग्रीन के नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या करे, उसकी तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी धारणाओ पर प्रकाश डालना इसलिए आवश्यक है कि ये धारणाए इस प्रश्न का उत्तर देने मे सहायक होती है कि मनुष्य का प्रकृति मे क्या स्थान है। जब तक हम इस प्रश्न का उत्तर नही देते, तब तक हम उसके व्यवहार के आदर्श को निर्धारित नही कर सकते। ग्रीन के अनुसार, प्रकृति विविध है, किन्तु फिर भी उसमे एकत्व है। अत प्रकृति को समझने के लिए हमे आत्मचेतना का उदाहरण देना चाहिए। जिस प्रकार आत्म-चेतना बुद्धियुक्त प्रक्रिया है, उसी प्रकार विश्व, सम्बन्धित तथ्यो का एक व्यवस्थित आध्यात्मिक समन्वय है, जो एक शाश्वत बुद्धि पर आधारित होने के कारण सम्भव है। विश्व का अस्तित्व इस बात को प्रमाणित करता है कि ससार मे इस प्रकार का एकत्व उत्पन्न करनेवाली चेतना का अस्तित्व है। उसके स्वरूप को जानने का एकमात्र उपाय, हममे उपस्थित उस चेतना की क्रिया का आश्रय लेना है। वह क्रिया हमे विश्व तथा एक नैतिक आदर्श का ज्ञान देती है।

अत मनुष्य विश्व मे एक विशेष स्थान इसलिए रखता है कि वह एक ज्ञान का अनुभव करनेवाला आत्मचेतन सत् है, एव एक स्वतन्त्र क्रिया है। वह ऐसी क्रिया है, जो समय मे स्थित नही है, जो प्राकृतिक विकास की शृखला की कडी नही है, जिसका अपने

से अतिरिक्त पूर्व अग एव कारण नही है। ग्रीन के अनुसार आत्मचेतना का कोई आरम्भ नही; क्योकि हम ऐसे समय की ओर सकेत नही कर सकते, जबकि आत्मचेतना का अस्तित्व नही था। हमारे मस्तिष्क तथा स्नायुओ की सब प्रक्रियाए, हमारे जीवन की सब क्रियाए तथा सवेदनाए और हमारे मानसिक इतिहास मे उपस्थित तथ्यो की शृखला—सभी विश्व-व्यापी चेतना से निर्मित हुए है। किन्तु मानवीय चेतना स्वय इसलिए विश्वव्यापी मन की पुनरावृत्ति स्वीकार की जा सकती है, क्योकि वह समन्वयात्मक है और स्वयम्भू है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना विश्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। हम विकास-वाद को स्वीकार करते हुए भी इस धारणा को पुष्ट कर सकते हैं। मनुष्य का शरीर सम्भवतया अन्य प्राणियो के शरीर से विकसित हुआ है और प्राणियो का विकास भी धीरे-धीरे असख्य स्तरो से गुजरता हुआ माना जा सकता है। किन्तु मूलभूत आध्यात्मिक आधार की स्वीकृति विकास की धारणा से अप्रमाणित नही होती, क्योकि विश्व का समस्त विकास शाश्वत और विश्वव्यापी आत्मचेतना की अभिव्यक्ति है।

आत्मचेतना की यह विकासात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य के ज्ञान की विशेषता से प्रमाणित होती है, क्योकि मनुष्य का ज्ञान केवल सवेदनात्मक न होकर सवेदनाओ द्वारा प्राप्त एक व्यवस्थित प्रक्रिया है, जो आत्मा एव कर्ता के विना सम्भव नही है। जिस प्रकार ज्ञान का अनुभव ज्ञाता के विना नही हो सकता, उसी प्रकार जीवन-सम्बन्धी आवश्य-कताए तथा मूल प्रवृत्तिया-मात्र, मानवीय कर्म नही हो सकती। मानवीय कर्म, कर्ता पर निर्भर रहता है। अत वह सदैव उद्देश्यात्मक होता है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि मानवीय प्रक्रियाए इसलिए विशेष प्रकार की प्रक्रियाए होती हैं कि उनमे आत्मचेतना होती है। आत्मा हमारे ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक व्यवहार को विशेष प्रकार का व्यवहार बना देती है। यह आध्यात्मिक तत्त्व ही तर्कात्मक तत्त्व है।

ग्रीन ने अपने विकासवादी दृष्टिकोण पर आधारित नैतिक सिद्धान्त को अपनी महान कृति Prolegomena to Ethics मे अभिव्यक्त किया है। क्योकि मनुष्य विकास की सर्वोत्तम कृति है और मनुष्य मे तर्क एव आत्मिक तत्त्व ही मूल तत्त्व है, इस-लिए उसकी सभी क्रियाए अन्य प्राणियो की क्रियाओ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह नही कि उसमे पाशवी प्रवृत्तिया उपस्थित नही है। वे प्रवृत्तिया मनुष्य मे उदात्त रूप धारण कर लेती है। मनुष्य मे पशुओ की भाति मूल प्रवृत्तिया हैं, सवेदनाए हैं तथा मानसिक प्रतिमाए भी है, किन्तु ये और अन्य सभी प्रवृत्तिया मनुष्य मे तर्क के कारण परिवर्तित रूप मे उपस्थित होती हैं। उसकी मूल प्रवृत्तियां केवल मूल प्रवृत्तिया नही है, अपितु वे तर्क के प्रभाव के कारण उद्देश्यात्मक इच्छाए बन जाती है। इसी प्रकार उसकी सवेदनाए सरल ज्ञानात्मक सवेदनाए-मात्र ही नही है, अपितु वे अर्थपूर्ण होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाती है। इन सभी परिवर्तनो का कारण यह है कि मनुष्य तर्कात्मक आत्मचेतन और आत्मिक प्राणी है। मनुष्य के स्वभाव की यह विशेषता एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा है, जो तर्कात्मक तत्त्व एव विश्वव्यापी आत्मचेतना मनुष्य मे उत्कृष्ट रूप मे उपस्थित है, वही सम्पूर्ण जगत् मे अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रकार जड-जगत् मे तथा जीव-जगत् मे यह तर्क उपस्थित तो अवश्य है, किन्तु वह उपस्थिति अव्यक्त है। दूसरे शब्दो मे, विश्वव्यापी आत्मचेतना मनुष्य से अतिरिक्त अन्य सभी तथ्यो मे अपूर्ण रूप से उपस्थित है। मनुष्य मे वह स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है और इसलिए मनुष्य के जीवन मे नैतिकता का महत्त्व यह है कि वह इस आधारभूत तत्त्व को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा कर सकता है। ग्रीन के अनुसार, मनुष्य का कर्तव्य अपने तर्कात्मक आत्मचेतन आत्मिक स्वभाव को अधिक से अधिक स्पष्ट बनाना एव अनुभूत करना है।

ग्रीन का यह दृष्टिकोण विकासवाद को एक शोधित रूप दे देता है। विकास तथा नैतिकता का उद्देश्य एव लक्ष्य विश्वव्यापी चेतना एव तर्क की पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह तर्क विश्व मे विभिन्न स्तरो से गुजरता हुआ मनुष्य के व्यक्तित्व मे पूर्णतया अभिव्यक्त होता है, किन्तु मनुष्य मे तर्क के अतिरिक्त उसका पाशवी स्वभाव भी उपस्थित रहता है। इस प्रकार मनुष्य विशुद्ध रूप से तर्कात्मक नही माना जा सकता और न ही ग्रीन ने ऐसा स्वीकार किया है। मनुष्य मे अभी तक तर्कात्मक स्वभाव काफी सीमा तक विकसित हो चुका है। उसकी पाशवी प्रवृत्तिया तर्क के कारण परिवर्तित और शुद्ध हो चुकी है, किन्तु उसमे अब भी अनेक ऐसी प्रेरणाए है, जो उसे पशुओ की भाति मूल प्रवृत्तियो की तृप्ति की ओर प्रेरित करती है। दूसरे शब्दो में, मनुष्य के स्वभाव के दो स्तर है एक तर्कात्मक और दूसरा तर्केतर पाशवी स्तर। इस अवस्था मे, ग्रीन के अनुसार, इच्छाओ की तृप्ति, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के न्यून स्तर से है, पूर्णतया बहिष्कृत नही की जा सकती, किन्तु उसे मनुष्य के उत्कृष्ट स्तर एव तर्कात्मक अग के अधीन किया जा सकता है। मैकन्जी ने भी ग्रीन के इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया है और उसने इस सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य के इस वास्तविक व्यक्तित्व एव स्तर की धारणा को प्रतिपादित किया है, जिसकी अनुभूति को ग्रीन की आत्मानुभूति कहा जा सकता है।

ग्रीन के दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति का वही अग एव स्तर उच्चतम है, जो पूर्णतया तर्कात्मक है। मैकन्ज़ी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि अपनी इच्छाओ के मण्डल की धारणा के प्रकरण मे करता है।[1] उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य मे अनेक इच्छाओ के मण्डल एव इच्छाओ के क्षेत्र होते है, जिनके अनुसार वह व्यवहार करता है। इनमे से कुछ मण्डल ऐसे होते हैं, जिनमे कि वह कुछ क्षणो के लिए ही व्यवहार करता है और कुछ ऐसे होते हैं, जिनके प्रभाव मे वह अधिकतर स्वच्छन्द व्यवहार करता है। उनमे से कुछ मण्डल ऐसे होते हैं, जिनमे किसी प्रकार का स्थायी सन्तोष प्राप्त नही होता। विषय-भोग आदि एव पाशवी प्रेरणाओ की तृप्ति के मण्डल को इसी प्रकार का क्षेत्र माना जा सकता है। यहां पर मैकन्ज़ी का दृष्टिकोण भगवद्गीता के उस दृष्टिकोण के सदृश प्रतीत होता है, जिसके

१. Ref. A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Pages 213--215.

अनुसार शीत-उष्ण, सुख-दु ख आदि को क्षणिक और अनित्य माना गया है। इन विभिन्न इच्छाओ के मण्डलो मे से केवल उसी मण्डल को मनुष्य का चरित्र एव उसका व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता है, जोकि सबसे अधिक स्थायी होता है और जिसके आधिपत्य मे वह स्वच्छन्दता से व्यवहार करता है। यदि वह किसी आकस्मिक प्रेरणा अथवा प्रलोभन के कारण इन इच्छाओ के मण्डल से निकलकर किसी अन्य मण्डल मे प्रभावित होकर अनायास ऐसा कर्म कर देता है, जोकि उसके चरित्र से मेल नही खाता, तो वह प्राय ऐसे आकस्मिक कर्मो का अपने-आपको उत्तरदायी स्वीकार नही करता। उसकी यह धारणा होती है कि इस प्रकार भावावेश मे कर्म करते हुए वह अपने-आपमे नही था एव वह अपनी प्रधान इच्छाओ के क्षेत्र मे नही था।

इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ऐसे स्थायी इच्छाओ के मण्डल की आवश्यकता है, जिसमे कि वह निरंतर रहे और वह मण्डल इतना दृढ होना चाहिए, जोकि उस व्यक्ति की भावावेश से रक्षा करे। ऐसा यथार्थ और स्थायी सन्तोष देनेवाला इच्छाओ का मण्डल, जोकि सर्वोत्तम और सबमे उत्कृष्ट माना जा सकता है, वही तर्कात्मिक व्यक्तित्व है, जिसको कि ग्रीन ने मनुष्य का आत्मिक अग कहा है। यह हमारा वही क्षेत्र एव दृष्टिकोण है, जिसको कि हम गम्भीर चिन्तन तथा अन्तर्दृष्टि के समय अपनाते है। इस प्रकार के मण्डल मे कौन-कौन-से तत्त्व होगे, इस बात पर पूरा प्रकाश डालना कठिन है। तर्कात्मक अन्तर्दृष्टि के मण्डल की सामग्री वास्तव मे इतनी विस्तृत है, जितना कि तथ्यो का जगत् होता है। अत. उस मण्डल मे पूर्ण रूप से जीवन व्यतीत करने का अर्थ उस विश्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है, जिसमे कि हम रहते है और जिससे हम सम्बन्धित है। इस प्रकार के आधार पर ही निरन्तर कर्म करना पूर्णता के आदर्श के अनुसार कर्म करना माना जाएगा। अत नैतिक जीवन का उद्देश्य अपने-आपको पूरी तरह पहचानना एव आत्मानुभूति है।

मैकन्जी का यह विचार है कि ग्रीन का यह दृष्टिकोण काट के सिद्धात का स्पष्टीकरण करता है, क्योकि यह भी तर्क को ही उच्चतम तत्त्व स्वीकार करता है। जहा पर काट यह प्रतिपादित करता है कि तर्क पर आधारित व्यवहार वही होता है, जो आत्मसगत होता है और ऐसे व्यवहार को ही उसने नैतिक स्वीकार किया है, वहा ग्रीन तर्कात्मक स्तर की अनुभूति को तो नैतिकता का लक्ष्य मानता है और उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तर्कपूर्ण व्यवहार को साधन मानता है। काट का कहना है कि नैतिक बनने के लिए हमे आत्मसगत होना चाहिए। किन्तु उसकी यह धारणा तर्क को एक अमूर्त अर्थ देती है और आत्मसगतता (Self-consistency) को केवल आकार-मात्र बनाकर रह जाती है। यदि ग्रीन के दृष्टिकोण को अपनाया जाए, तो हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए जोकि हमारे व्यक्तित्व एव आत्मा के अनुरूप (Consistent with the self) हो और यह व्यक्तित्व तथा आत्मा यथार्थ आत्मा एव तर्कात्मिक स्तर ही होना चाहिए। इस प्रकार ग्रीन का सिद्धान्त काट के आकार को सामग्री प्रदान करने की चेष्टा करता है।

ग्रीन के सिद्धान्त की उपर्युक्त प्रशसा का अर्थ यह नही कि आत्मानुभूति का आदर्श शत-प्रतिशत यथार्थ और व्यावहारिक है। ऐसा प्रतीत अवश्य होता हैं कि तर्कात्मक आकार मे इच्छाओ की तृप्ति को एक व्यवस्था देकर ठोस सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। किन्तु ग्रीन आत्मा की पूरी व्याख्या नही कर पाता और यह स्पष्ट रूप से नही बतलाता कि उच्चतम व्यक्तित्व का स्तर अथवा तर्कात्मक स्तर के कौन-से ऐसे लक्षण हैं, जो उसे ठोस रूप देते है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आत्मा को उच्चतम स्तर मान ले, चाहे उसकी व्यक्तिगत आत्मा काट के व्यक्तित्व की भाति उत्कृष्ट भी क्यो न हो, उससे यह आशा नही की जा सकती कि उसके दृष्टिकोण पर आधारित व्यवहार न्यायपूर्ण होगा अथवा सब प्राणियो के कल्याण के लिए होगा। किसी भी नैतिक सिद्धात को उस समय तक निरपेक्ष नही माना जा सकता, जब तक कि उसमे व्यक्तिगत सुख और सामूहिक सुख का सुन्दर समन्वय न हो और जब तक वह व्यवहार मे उतारा जाकर उपयोगी सिद्ध न होता हो। पश्चिमीय दर्शन के क्षेत्र मे कठिनाई की उत्पत्ति का मूल कारण यह है कि इसमे तत्त्व-मीमासा को व्यवहार से पृथक् रखा जाता है और यह समझा जाता है कि तात्त्विक सिद्धान्त का नैतिक जीवन से सीधा सम्बन्ध नही हो सकता। यही कारण है कि ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त मे उच्चतम आत्मा को साक्षेप अनुभव पर आधारित तर्कात्मक आत्मा माना गया है। यह आत्मानुभूति वास्तव मे पूर्णवाद न होकर एक सापेक्ष सिद्धान्त ही रह जाता है। हम पश्चिमीय नैतिकता की इस सापेक्षता का उल्लेख यथास्थान करेगे। यहा इतना कह देना पर्याप्त है कि ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक प्रकार का अहवाद (Egoism) होकर ही रह जाता है।

भारतीय दर्शन मे हमे इस सापेक्षता का प्रतिकार मोक्ष की उस धारणा मे मिलता है, जिसमे सिद्धान्त तथा व्यवहार, तर्क तथा आनन्द, तत्त्वात्मक दृष्टिकोण तथा नैतिकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। जैसाकि हमने पहले भी सकेत किया है, भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार, मोक्ष जीवन का ऐसा चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है। मोक्ष की यह अनुभवात्मक अवस्था जीवन्मुक्ति के नाम से पुकारी गई है। व्यक्ति इस अवस्था मे तभी पहुच सकता है, जब वह विशेष आध्यात्मिक अनुशासन और सयम के द्वारा विश्व की सापेक्षताओ से ऊपर उठ जाता है। भगवद्गीता मे जीवन्मुक्त व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति वह है, जो सुख-दु ख, शीत-उष्ण, जय-पराजय, लाभ-हानि, निन्दा-स्तुति आदि परस्पर-विरोधी अनुभवो से ऊपर उठ जाता है। जो व्यक्ति दु ख की अवस्था मे उद्विग्न मनवाला नही होता, जो सुख की अवस्था मे प्रफुल्लित नही होता और जो राग, भय, क्रोध आदि सवेगो से असस्पृष्ट होता है, वही व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ऐसा व्यक्ति एक समुद्र की भाति दृढ और अविचल चरित्रवाला होता है। जिस प्रकार मर्यादित समुद्र मे अनेक नदियो के जल समा जाते है, किन्तु उस अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र को अपनी मर्यादा से विचलित नही कर सकते, ठीक उसी प्रकार जिस मनुष्य का व्यक्तित्व एव आत्मा सुदृढ, सुनिश्चित और स्थिर है

और जिसमे सभी इच्छाए और कामनाए समाविष्ट होती हैं, किन्तु उसे विचलित नही कर सकती, वही व्यक्ति परम शाति को प्राप्त कर सकता है, न कि इच्छाओ को निरकुश रूप से तृप्त करनेवाला व्यक्ति ऐसा कर सकता है।

स्थितप्रज्ञ की उपर्युक्त धारणा से यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक कडे अनुशासन की आवश्यकता है, किन्तु वह अनुशासन व्यक्तित्व को अमूर्त नही बनाता, अपितु उसमे उदारता, जन-कल्याण की भावना, समदृष्टि, दया, अनुकम्पा आदि मूल्यो की सामग्री भरकर, उसे एक ठोस आकार बना देता है और उसे जनसाधारण के स्तर से ऊपर उठाकर एक असाधारण स्तर पर पहुचा देता है, जिसको प्राप्त करके वह मनुष्य सभी प्रकार की सापेक्षताओ मे ऊपर उठकर, अपने-आपमे तुष्टि प्राप्त करता है और इस प्रकार पूर्णत्व का अनुभव करता है। यह पूर्णत्व, जीवन मे ही प्राप्त होने के कारण एक व्यावहारिक अनुभवात्मक और वास्तविक अवस्था सिद्ध होता है। किन्तु इसके साथ ही साथ यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्तिगत आत्मा वास्तव मे उस पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, जो ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है।

मोक्ष की यह धारणा, जोकि उपनिषदो के दर्शन से उपलब्ध होती है, निस्सन्देह पूर्णत्व की धारणा है जो इस प्रकार अभिव्यक्त की गई है :

"पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

अर्थात् "विश्वव्यापी सत्ता ब्रह्म पूर्ण है। यह व्यक्तिगत आत्मा भी पूर्ण है, क्योकि वह पूर्ण से उत्पन्न हुई है। उस पूर्ण के इस आंशिक व्यक्तिगत पूर्ण (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त करने से, उस विश्वव्यापी पूर्ण का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।" यहा पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय दर्शन मे ज्ञान का अर्थ अनुभूति होता है, इसलिए उपनिषदो मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" अर्थात् "ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म ही है।" उपनिषदो के अनुसार, ब्रह्माण्ड मे ब्रह्म ही व्याप्त है। ससार की सभी वस्तुए, जड़-चेतन व आत्मचेतन सृष्टि ब्रह्म ही से उत्पन्न होती है, ब्रह्म ही के द्वारा विकसित होती है और पुन· ब्रह्म मे ही विलीन हो जाती है। इस शाश्वत सत्, चित्, आनन्द, निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति केवल मानव ही कर सकता है, क्योकि मानव मे यह पूर्णत्व निहित है। भारतीय दर्शन स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है, "न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि लोके।" अर्थात् "ब्रह्माण्ड मे मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नही है।" मोक्ष की अवस्था मे मनुष्य की अव्यक्त शक्तिया व्यक्त होजाती हैं। उसमे निहित ज्ञान, भाव तथा संकल्प आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति मे परिवर्तित हो जाते हैं।

इस प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति ही भारतीय दर्शन मे जीवन का चरम लक्ष्य एव परम श्रेयस् स्वीकार किया गया है। इसको प्राप्त करके भी मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है और समाज का उपयोगी अंग बना रहता है। इसी जीवन्मुक्त अवस्था की भगवद्गीता के सम्बन्ध मे व्याख्या करते हुए श्रीमती ऐनीबेसेण्ट ने लिखा है,

"इसका उद्देश्य मुमुक्षु को त्याग के छोटे स्तर से उठाकर उस उच्चतम शिखर पर पहुचाना है, जहा पर उसकी इच्छाए स्वय तृप्त हो जाती है और जहा पर योगी गहन समाधि की अवस्था मे स्थित हो जाता है, जबकि उसका शरीर तथा मन उन कर्तव्यो का पालन करने मे सलग्न रहते है, जोकि कर्मानुसार उसे प्राप्त होते है।"[1] इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन पर आधारित आत्मानुभूति का सिद्धान्त, ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सगत है। केवल ऐसा सिद्धान्त ही पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तो की सापेक्षता का निराकरण कर सकता है। इससे पूर्व कि हम मोक्ष की धारणा के आधार पर भारतीय नैतिक सिद्धान्त की निरपेक्षता के महत्त्व को सिद्ध करे, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम एफ० एच० ब्रैडले के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की भी सक्षिप्त व्याख्या करे, क्योकि ब्रैडले ने यह स्वीकार किया है कि पश्चिमीय नैतिकता की धारणा सापेक्ष है और मानव की अपूर्णता की ओर निर्देश करती है।

ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त

ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर है कि हमे नैतिक क्यो होना चाहिए, अर्थात् नैतिकता का क्या उपयोग है। ब्रैडले इसका उत्तर देते हुए यह कहता है कि नैतिकता का एकमात्र उद्देश्य आत्मानुभूति (Self-realization) है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अग्रेजी भाषा मे आत्मा के पर्यायवाची 'सैल्फ' (Self) का क्या अर्थ है, अनुभूत करने का क्या अर्थ है। इन दोनो का उत्तर हमे नैतिकता की व्याख्या मे स्वय मिल जाता है। नैतिकता मे वह कर्म, जोकि किया जाना है और मेरे द्वारा ही किए जाने की प्रक्रिया, दोनो निहित रहते है। यदि किए जाने-वाले कर्म को उद्देश्य और मेरे द्वारा की गई प्रक्रिया को साधन मान लिया जाए, तो हमे यह मानना पडेगा कि यह साधन और साध्य एक-दूसरे से पृथक् नही हो सकते। नैतिक चेतना मे ये दोनो अग इस प्रकार अभिन्न रहते है कि यदि इन दोनो का स्थानान्तर भी किया जाए, तब भी नैतिक चेतना के स्वरूप मे परिवर्तन नही होता। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि नैतिकता के लिए उद्देश्य मे कर्म निहित रहता है और कर्म मे आत्मानुभूति निहित रहती है। यदि इसमे कोई सन्देह हो, तो इसको सुख की उस भावना के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, जोकि कर्म के पूर्ण होने पर स्वत उत्पन्न होती है। यदि सुख आत्मा का भाव है और कर्म के साथ घटित होता है, तो इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म को प्रस्तुत करना अपने-आपको प्रस्तुत करना है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी कर्म को करने के पश्चात् जो हमे सुख प्राप्त होता है, वह कोई बाह्यात्मक तत्त्व नही होता

---

१. "It is meant to lift the aspirant, from the lower levels of renunciation to the loftier heights, where the desires are dead, and where the yogi lives in deep contemplation, while his body and mind are engaged in discharging the duties that fall to his lot in life."

और अपने-आपमे कुछ मूल्य नही रखता। वह सुख इसलिए प्रतीत होता है कि वह कर्म करनेवाले व्यक्ति के लिए सुखद होता है। अत सुख को अनुभूत करते हुए हम अपनी ही अनुभूति करते है। ब्रैडले का कहना है कि न ही केवल सुख, अपितु प्रत्येक अनुभव व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है। इसलिए ब्रैडले के सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता इसीमे है कि हम कर्म करते समय पूर्ण रूप से आत्मानुभूति को ही लक्ष्य बनाए।

काट के दृष्टिकोण मे त्रुटि यह है कि वह एक अमूर्त सकल्प को ही नैतिक आदर्श स्वीकार कर लेता है और यह भूल जाता है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म, उसकी प्रत्येक इच्छा एव उसका प्रत्येक ज्ञान, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा आत्मा से सम्बन्ध रखता है। जब हम यह कहते हैं, 'मैं यह सकल्प करता हू अथवा वह सकल्प करता हू,' तो इसका कुछ न कुछ वास्तविक अर्थ होता है। ऐसा कहते समय हमारा अभिप्राय यह नही होता कि हम उस व्यक्तित्व तथा आत्मा मे भेद करते है, जोकि सकल्प नही करता। इसके विपरीत हमारा आशय उस आत्मा अथवा व्यक्तित्व का इच्छा के विशेष विषय से भेद बताना है, जोकि सामान्य रूप से सकल्प को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दो मे, सकल्प एक पूर्ण के रूप मे समझा जाता है और उस पूर्ण के दो अग होते है। उदाहरणस्वरूप, सकल्प का एक कर्म ले लीजिए। मान लीजिए कि वह कर्म एक विचारात्मक सविकल्पक निर्वाचन है। हमारे सामने दो परस्पर-सघर्ष करनेवाली 'क' और 'ख' नामक इच्छाए हैं, हम दो विरोधी तनावो का अनुभव करते है। ये दोनो हमे विरोधी दिशाओ मे आकर्षित करते है, किन्तु वास्तव मे हम इन दोनो को स्वीकार नही कर सकते। उस अवस्था मे किसी प्रकार का कर्म नही किया जाता। हम इच्छा के दोनो विषयो पर चिन्तन करते हैं और ऐसा करते समय हमे यह भान होता है कि हम उन दोनो विषयो पर चिन्तन कर रहे हैं। किन्तु हम तटस्थ रूप से दर्शक-मात्र की भाति खडे नही रहते। हम यह अनुभव करते है कि हम एक दिशा की ओर चले गए हैं और हमने 'क' अथवा 'ख' मे से किसी एक को छोड दिया है। इसका कारण यह है कि हम केवल इतना ही भान नही करते कि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से 'क' तथा 'ख' विकल्पो से ऊपर उठे हुए है, अपितु हम यह भी अनुभूत करते हैं या अनुभव करते है कि हम व्यावहारिक दृष्टि से भी उन दोनो से ऊपर उठे हुए है। हमारा व्यक्तित्व इन दोनो विकल्पो से ऊपर इसलिए है कि हम 'क' को भी अनुभूत कर सकते हैं और 'ख' को भी। किन्तु यह अनुभूत करनेवाला व्यक्तित्व न 'क' है न 'ख' है, अपितु इन दोनो से श्रेष्ठ है। अत सकल्प करने के लिए हमे किसी न किसी कर्म एव परिस्थिति से अपना तादात्म्य करना पड़ता है। इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि सकल्प सदैव एक आत्मानुभूति होती है। यदि सुख का अनुभव एक आत्मानुभूति है, सकल्प भी एक आत्मानुभूति है, तो वे दोनो आत्मा की आशिक अनुभूतिया है। इसलिए ब्रैडले का कहना है कि अपने-आपको अनुभूत करने का अर्थ अपने-आपको पूर्ण रूप से अनुभूत करना है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा व्यावहारिक दृष्टि से हमारा उद्देश्य अपने-आपको पूर्ण

रूप से अनुभूत करना है। इसका अभिप्राय यह नही है कि यह पूर्णत्व एक सिद्धान्त-मात्र एव आकार-मात्र है, इसके विपरीत वह एक समरूप जीवन का एक ऐसा पूर्ण है, जो हमारे जीवन की व्यावहारिकता से सम्बन्ध रखता है। किसी सिद्धान्त के लिए केवल तार्किक दृष्टि से सगत होना ही पर्याप्त नही है, अपितु उसमे तथ्यो की समरूपता भी आवश्यक है। अत ब्रैडले का कहना है कि आत्मानुभूति का अर्थ, आत्मा को पूर्ण रूप से अनुभूत करने के कथन-मात्र से अधिक है। हमारा वास्तविक सत् एकत्व की पराकाष्ठा नही है और न ही वह अनेकत्व की पराकाष्ठा है, अपितु वह इन दोनो का पूर्ण तादात्म्य है और 'अपने-आपको अनुभूत करो' का अर्थ केवल इतना नही है कि 'तुम एक पूर्ण वन जाओ', अपितु उसका अर्थ यह है कि 'तुम एक अनन्त पूर्ण वन जाओ।'[1]

ब्रैडले अनन्त की व्याख्या करते हुए कहता है कि चेतना एव मन अनन्त है, क्योकि वह अनुभव करता है कि उसकी क्षमताए सान्त एव सीमित है। सान्त का अर्थ वह तत्त्व है, जोकि अन्य तत्त्वो मे से एक होता है, जोकि वह नही है जो अन्य है। जहा एक सान्त का अन्त होता है, वहा दूसरे सान्त का आरम्भ होता है अर्थात् सान्त की सीमाए होती है और वह उस समय तक अपने से परे नही जा सकता, जव तक कि वह कुछ अन्य न वन जाए एव जव तक उसका अन्त न हो जाए। जव हमारा मन यह ज्ञान रखता है कि वह सान्त है एव सीमित है, उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वय इस सीमा को पार कर जाता है। अत मन को ब्रैडले आत्मज्ञान के कारण अनन्त स्वीकार करता है। अपने-आपको पूर्ण रूप से अनुभूत करने का अर्थ ब्रैडले इस प्रकार प्रस्तुत करता है, "अपने-आपको एक अनन्त पूर्ण के रूप मे अनुभूत करो, जिसका अर्थ यह है कि अपने-आपको एक अनन्त पूर्ण का आत्मचेतन सदस्य अनुभूत करो और उस अनन्त पूर्ण को तुम अपने मे ही अनुभूत करो।"[2] जव वह पूर्ण, जिसकी कि अनुभूति करनी है, वास्तव मे अनन्त है और जव हमारा व्यक्तिगत सकल्प उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, तव हम भी पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुच जाते है और एक पूर्ण आत्मानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। अत जिस आत्मा एव व्यक्तित्व की अनुभूति नैतिक लक्ष्य स्वीकार की जाती है, वह आत्मा एव व्यक्तित्व विशेष भाव नही है और न ही हमारे या किन्ही अन्य व्यक्तियो के भावो की शृखला है, इसलिए वह अनुभूति सुख की प्राप्ति नही हो सकती, न ही वह केवल 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' हो सकती है।

आत्मानुभूति को उद्देश्य स्वीकार करने का अर्थ न तो विशेप भावो के समुदाय को लक्ष्य वनाना है और न अमूर्त विश्वव्यापी सकल्प को लक्ष्य वनाना है। इसके विपरीत, आत्मा की अनुभूति एक ऐसे सकल्प के रूप को प्राप्त करना है, जो हमारे व्यक्तित्व के बाहर या उससे ऊपर नही है, अपितु जो हमारे अन्तस् मे निहित है। इस प्रकार वह एक बाहरी कर्तव्य के रूप मे स्वीकार नही की जा सकती। वह एक ठोस सकल्प है, जो प्रत्येक

१ Ethical Studies by Bradley, Page 74
२ Ethical Studies by Bradley, Page 80

व्यक्ति अपने जीवन मे उतार सकता है, जो हमारे व्यक्तित्व को पूर्ण आत्मा बनाता है, हमारे शरीर को जीवित शरीर बनाता है और जो शरीर के बिना उसी प्रकार अमूर्त सिद्ध होता है जिस प्रकार कि शरीर उसके बिना अमूर्त है।

ब्रैडले की पूर्ण की यह धारणा मोक्ष की धारणा से मिलती-जुलती है, किन्तु वह भी अपनी इस धारणा को स्पष्ट रूप से व्यक्त नही कर सका। उसका आशय यह है कि पूर्णत्व की प्राप्ति इस जीवन मे सम्भव नही है। अत. नैतिकता का उद्देश्य निरन्तर इस पूर्णता को प्राप्त करने की चेष्टा करना है। नैतिकता की आवश्यकता इसलिए रहती है कि व्यक्ति पूर्ण आत्मानुभूति को प्राप्त नही कर सकता। व्यक्ति सदैव अपने-आपसे परे जाने की चेष्टा करता रहता है, क्योकि वह पूर्णत्व उसके व्यक्तित्व से बाहर है, किन्तु उसका व्यक्तित्व उसकी चेष्टा के द्वारा उसकी ओर आगे बढ सकता है। अतः नैतिकता एक अनन्त प्रक्रिया है और इस प्रकार वह एक विरोधाभास है। ब्रैडले का कहना है कि इस विरोधाभास का कारण यह है कि मनुष्य स्वय एक विरोधाभास है, क्योकि उसमे सापेक्षताए उपस्थित रहती है। किन्तु वह इस बात को भी स्वीकार करता है कि मनुष्य की आत्मचेतना एव उसका यह ज्ञान कि उसमे विरोधी तत्त्व उपस्थित है, यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य इस विरोधाभास से कुछ अधिक है। इस आधिक्य को प्राप्त करने के लिए ही ब्रैडले यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति को अपने सामाजिक स्थान के अनुसार निरन्तर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। किन्तु वह सदैव ऐसा प्रयत्न करता हुआ भी सघर्ष मे अवश्य रहता है। ब्रैडले इस सघर्ष से निवृत्ति का कोई ठोस उपाय नही बता सकता। वह काट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' की आलोचना इसलिए करता है कि वह एक प्रकार का उद्देश्यहीन कर्म सिद्ध होता है।

भगवद्गीता का निष्काम कर्म का सिद्धान्त काट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' को उत्कृष्ट बना देता है, क्योकि वह न तो एक निरुद्देश्य एव अमूर्त कर्म है और न वह सासारिक सापेक्ष सुख को लक्ष्य स्वीकार करता है। वह हमे अधिकारो तथा कर्तव्यो को समन्वित करने का आदेश देता है। समाज के सदस्य के रूप मे, व्यक्ति को न ही केवल अपने हितो की ओर ध्यान देना होता है, अपितु उस पूर्ण समाज के हितो की ओर भी ध्यान देना होता है जिसका कि वह सदस्य है। वास्तव मे, समाज की सेवा करके ही वह आशिक रूप से अपनी सेवा कर सकता है। आत्मप्रेम अथवा स्वार्थ अनैतिक नही है, किंतु वह उचित होना चाहिए। अपने हितो का ध्यान रखना व्यक्ति के लिए अनैतिक नही माना जा सकता, किन्तु ऐसा आत्महित ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। इसी धारणा के आधार पर कर्म को दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है, एक तो वह जो आत्महित से सम्बन्धित है और दूसरा वह जो सामाजिक कर्तव्य से सम्बन्धित है। सामान्य नैतिकता इसी दृष्टिकोण को अपनाती है, किन्तु यह दृष्टिकोण जिसको कि ब्रैडले भी अपनाता है, नैतिक संघर्ष को सुलझा नही पाता और व्यक्ति को उन अपूर्णताओ से ऊपर नही ले जा सकता, जो सासारिक जीवन मे स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती है। भगवद्गीता का

निष्काम कर्म का सिद्धान्त इन अपूर्णताओ से इसलिए ऊपर उठ जाता है कि वह सम्पूर्ण कर्म को मोक्ष का साधन बना देता है।

ब्रैडले के सिद्धान्त मे त्रुटि यह है कि उसमे स्पष्ट रूप से मोक्ष की धारणा उपस्थित नही है, यद्यपि अन्त मे ब्रैडले इस बात को स्वीकार करता है कि नैतिकता की पराकाष्ठा ईश्वर से तादात्म्य अनुभूत करने मे ही होती है। इसी अस्पष्टता के कारण ब्रैडले सामाजिक स्थान के अनुसार कर्तव्य का पालन करने के आदर्श को ही उच्चतम सम्भव नैतिकता स्वीकार करता है। भगवद्गीता के अनुसार सभी प्रकार के कर्म, चाहे वे समाज के कल्याण मे फलित होते हो, चाहे व्यक्तिगत सुख मे फलित होते हो, तभी मोक्ष का साधन स्वीकार किए जा सकते है, जब वे बिना आसक्ति के किए जाते है। यदि हम समाज को ही लक्ष्य मान लें, तो समाज-सेवा के कर्म नि स्वार्थ तो प्रतीत होते है, किंतु उनके अन्तस् मे स्वार्थ निहित रह सकता है। जो व्यक्ति समाज-सेवा करता है, सम्भवतया उसका उद्देश्य स्वार्थ न हो और उस स्वार्थ के स्थान पर उसके कर्म का उद्देश्य सामाजिक कल्याण हो, किन्तु प्राय यह देखा गया है कि ऐसे व्यक्ति के अचेतन मन मे अपने हित अथवा स्वार्थ की भावना छिपी रहती है। इसके अतिरिक्त समाज-सेवा करनेवाले व्यक्ति के मन मे प्राय यह भावना रहती है कि उसकी सेवा के बिना समाज का कल्याण नही हो सकता। इसी प्रकार के अहभाव को दूर करने के लिए भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग यह प्रतिपादित करता है कि कर्म करते समय सब प्रकार के सासारिक उद्देश्यो को त्याग देना चाहिए, चाहे वे उद्देश्य सकुचित निजी उद्देश्य हो, चाहे तथाकथित सार्वजनिक शुभ हो। इसका अभिप्राय यह नही कि विश्व को योगी के अनासक्त कर्म से लाभ नही होता, अपितु उस योगी के दृष्टिकोण से यह लाभ उसका उद्देश्य नही है, यद्यपि वह उसका स्वाभाविक परिणाम है।

निष्काम कर्मयोगी जनसाधारण की अपेक्षा ऊचे स्तर पर इसलिए होता है कि उसके सामने उस आत्मानुभूति का आदर्श होता है, जिसकी प्राप्ति से सासारिक सुख स्वत. ही निरर्थक सिद्ध हो जाते है, क्योकि वे उस चरम लक्ष्य की तुलना मे तुच्छ प्रमाणित होते है। यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि भगवद्गीता की आत्मानुभूति का अर्थ मोक्ष की प्राप्ति है और इसलिए मनुष्य का सर्वस्व उसके सभी कर्म, सभी सकल्प और सभी भावनाए उस लक्ष्य का साधन बन जाती हैं। केवल इसी दृष्टि से ही व्यक्ति नैतिक सापेक्षताओ से ऊपर उठ सकता है, और ब्रैडले के शब्दो मे, उस तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, जो मनुष्य के विरोधी स्वभाव से कुछ अधिक है। वही तत्त्व मनुष्य को मुक्तात्मा बनाता है। इस मुक्त आत्मा मे द्वैत नही हो सकता और न ही उसका विभाजन हो सकता है। वही आत्मा सुख और दु ख मे, शीत और उष्ण मे, निन्दा और स्तुति मे समान रहती है। उसको ऐसा विचार दु खित नही करता कि 'मैंने शुभ क्यो नही किया ? अथवा मैंने अशुभ क्यो किया ?' उसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति मे कर्तापन का भाव नही होता। उसके सभी सघर्ष समाप्त होजाते हैं। औचित्य तथा अनौचित्य,

सापेक्ष शुभ तथा अशुभ उसके लिए महत्त्व नही रखते। वह उस तत्त्वात्मक अशुभ से-इसलिए ऊपर उठ जाता है कि ज्ञान के कारण वह सबमे अद्वैत आत्मा को अनुभूत करता है। अशुभ उसपर विजय प्राप्त नही करता, वह समस्त अशुभ पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह जीवन्मुक्त अशुभ से, अशुद्धता से तथा सन्देह से रहित ब्रह्म-ज्ञानी होता है। ब्रैडले के सिद्धान्त मे, मोक्ष की ऐसी धारणा की उपस्थिति ही उसके आत्मानुभूति के सिद्धान्त को पूर्ण और स्पष्ट बना सकती है। हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि ब्रैडले के निम्नलिखित शब्दो मे प्राप्त होती है :

"सुख की खोज, चाहे वह किसी भी रूप मे क्यो न हो, एक भ्रान्ति प्रमाणित होती है और कर्तव्य का आकार एक जाल प्रमाणित होता है और सान्त अनुभूति का 'मेरा स्थान' एक सत्य अवश्य था, और वह प्रसन्नता, जो हमे आकर्षित करती थी, उस समय के लिए स्थायी थी, किन्तु वह इतनी सकुचित थी कि वह आत्मा की भूख को पूर्णतया तृप्त न कर सकती थी। इस प्रकार आदर्श नैतिकता का परिणाम दु खद और अनिवार्य असफलता की भावना प्रमाणित हुआ। यहा पर अन्त मे हम ऐसे स्थान पर पहुच गए है, जहा पर कि प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहा से ही आरम्भ होती है। यहा पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य मे चरम अवस्था मे फलित होती है और सर्वत्र हम उस 'अमर प्रेम' को देखते है, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमे विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।"[१]

ब्रैडले के उपर्युक्त कथन इस बात की साक्षी है कि सभी नैतिक आदर्श, चाहे वे तर्क को निरपेक्ष मानकर चले और चाहे वे सुख की अनुभूति को उद्देश्य मानकर, नैतिकता को इसलिए सिद्ध करते है कि वे आशिक सत्य की अभिव्यक्ति है। अनुभूति निस्सदेह पूर्णता की ओर क्रमिक प्रगति है। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण से वह प्रगति इस जीवन मे भी पूर्णत्व तक पहुच सकती है, जबकि पश्चिमीय दृष्टिकोण से उस पूर्णत्व को प्राप्त करने की सतत चेष्टा ही नैतिकता है।

---

१. "Be that as it may, the hunt after pleasure in any shape has proved itself a delusion, and the form of duty a snare, and the finite realization of 'my station' was truth indeed, and a happiness that called to us to stay, but was too narrow to satisfy wholly the spirit's hunger ; and ideal morality brought the sickening sense of inevitable failure Here, where we are landed at last, the process is at an end, though the best activity here first begins Here our morality is consummated in oneness with God, and everywhere we find that 'immortal love,' which builds itself for ever on contradiction, but in which the contradiction is eternally resolved "

—Ethical Studies, Page 342.

नवां अध्याय

मूल्यात्मक नैतिक सिद्धांत

(Moral or Ethical Theory of Value)

हमने विकासवादी नैतिक सिद्धान्तो तथा आत्मानुभूति के सिद्धान्त का अध्ययन किया है। इन सबका उद्देश्य यही है कि पूर्णत्व ही नैतिकता का उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य स्वय अपूर्ण होने के कारण इस पूर्णत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और उसकी यह चेष्टा की प्रवृत्ति उसमे जन्म से उपस्थित होती है। मनुष्य मे आदर्श को प्राप्त करने की उत्सुकता एक ऐसा तथ्य है, जिसकी व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान नही दे सकता। तत्त्व-विज्ञान ही मूल्य की समस्या को सुलझा सकता है और यह व्याख्या कर सकता है कि शुभ का क्या अर्थ है। शुभ की व्याख्या निस्सन्देह एक अत्यन्त कठिन कार्य है, जिसमे कि सुकरात तथा प्लेटो जैसे महान दार्शनिको को भी पूर्ण सफलता प्राप्त नही हुई, किन्तु यह व्याख्या इतनी आवश्यक है कि इसके बिना नैतिकता के सभी सिद्धान्त निरर्थक प्रमाणित होते है। यही कारण है कि नैतिक आदर्श की विभिन्न धारणाए परस्पर-विरोधी प्रतीत होती है। काट केवल शुभ सकल्प को ही निरपेक्ष शुभ मानता है। सुखवादी सुख को शुभ स्वीकार करते है और विकासवादी जीवन की सुरक्षा को। अत जब तक यह निर्धारित न हो जाए कि शुभ का क्या स्वरूप है, तब तक कोई भी ऐसा नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया जा सकता, जो सर्वथा सगत हो और जो व्यावहारिक सिद्ध हो सकता हो। सभी परस्पर-विरोधी सिद्धान्तो मे त्रुटि यह है कि वे आशिक सत्य को पूर्ण सत्य स्वीकार कर लेते है। जब उनसे यह पूछा जाता है कि शुभ क्या है, तो वे अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी विशेष तत्त्व को ही शुभ की एकमात्र परिभाषा स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि अग्रेज़ी के विख्यात साहित्यकार शेक्सपियर ने कहा है, "ससार मे कुछ भी शुभ व अशुभ नही है, यह केवल एक दृष्टिकोण है कि अमुक वस्तु शुभ है, अमुक अशुभ।"[1]

ऐसे कथन का अभिप्राय यह नही कि शुभ एक कोरी कल्पना है, इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि शुभ एक परम मूल्य है, जिसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है, जितना कि विश्व की परम सत्ता की परिभाषा। जहा तक शुभ की परिभाषा का सम्बन्ध है, विख्यात अग्रेज दार्शनिक जी० ई० मोर का कहना है कि शुभ अनिर्वचनीय है एव उसकी

१. "Nothing is good or bad in the world, but thinking makes it so."

परिभाषा नही दी जा सकती। उसके शब्दो मे, "शुभ, शुभ ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नही।"[1] इस प्रकार की परिभाषा चक्रक तो अवश्य है, किन्तु वह इस बात को सिद्ध करती है कि 'सुख ही एकमात्र शुभ नही है अथवा आकांक्षित विषय ही एकमात्र शुभ नही है।' दूसरे शब्दो मे, शुभ एक परम मूल्य है। इससे पूर्व कि हम शुभ की व्याख्या करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम मूल्य की धारणा पर कुछ प्रकाश डालें।

पश्चिमीय दर्शन मे काट ने ही सर्वप्रथम नैतिक मूल्य की महत्त्वपूर्ण धारणा प्रस्तुत की है। सामान्यतया 'मूल्य' शब्द का प्रयोग आर्थिक दृष्टि मे किया जाता है और इसका अर्थ उसी प्रकरण मे लिया जाता है। मैकन्ज़ी ने भी मूल्य की धारणा की व्याख्या करते हुए आर्थिक दृष्टिकोण को प्रथम स्थान दिया है। उसने मूल्य के दो रूपो की व्याख्या की है और कहा है कि मूल्य दो प्रकार के होते हैं—निमित्त मूल्य (Instrumental value) तथा स्वलक्ष्य मूल्य (Intrinsical value)। निमित्त मूल्यवाली वस्तु वह वस्तु होती है, जोकि किसी अन्य उद्देश्य का साधन होती है। जब हम एक रोटी के मूल्य की बात करते हैं अथवा दिन-भर के परिश्रम के मूल्य की बात करते है, तो यह मूल्य एक सापेक्ष तत्त्व होता है। एक रोटी का मूल्य यही है कि वह जीवित रहने का साधन है अथवा भूख की पीड़ा को मिटाने का अथवा भोजन करने के सुखद अनुभव का साधन है। दूसरे शब्दो मे, रोटी का मूल्य इस तथ्य पर आधारित है कि हम जीवन को मूल्यवान मानते है अथवा सुख को व दु ख की अनुपस्थिति को मूल्यवान मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि रोटी एक निमित्त एव गौण मूल्य है। इसके विपरीत स्वलक्ष्य मूल्य वह मूल्य है जो किसी अन्य वस्तु का साधन एव निमित्त न होकर आत्माश्रय होता है। उसका मूल्य वह स्वय ही होता है। हमने काट के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह देखा है कि इस दृष्टि से कांट केवल शुभ सकल्प को ही स्वलक्ष्य मूल्य मानता है।

कुछ सीमा तक हम यह कह सकते है कि काट का यह दृष्टिकोण सर्वथा असंगत नही है। हम यह जानते हैं कि ससार मे शुभ सकल्प के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्य किसी अन्य उद्देश्य का साधन बन जाने के कारण निमित्त मूल्य प्रमाणित होते है और उनका प्राय. दुरुपयोग भी किया जाता है। हमने अनेक उदाहरणो के द्वारा यह पहले ही प्रमाणित किया है कि अर्थ, अधिकार एव ज्ञान भी स्वार्थसिद्धि के साधन बनते है और दुरुपयोग के कारण निमित्त मूल्य प्रमाणित होते हैं। शुभ सकल्प एक ऐसा मूल्य है जिसको काट के दृष्टिकोण से साधन नही बनाया जा सकता और जो एक ऐसा तत्त्व है कि उसकी उपस्थिति प्रत्येक स्वलक्ष्य मूल्यवाली वस्तु मे अनिवार्य है। कुछ लोग शुभ सकल्प के अतिरिक्त अन्य तत्त्वो को भी स्वलक्ष्य मूल्य मानते है, उदाहरणस्वरूप, बुद्धिमत्ता, प्रेम, सत्य, स्वतन्त्रता, व्यवस्था, जीवन आदि को स्वलक्ष्य मूल्य स्वीकार किया जाता है। कम से कम सत्य, शिव, सुन्दरम् तीन ऐसे मूल्य है जिनको स्वलक्ष्यता की दृष्टि से समकक्ष माना

---

१. "Good is good and nothing else."

जाता है। इन सभी उदाहरणों का आशय यह है कि वे ही वस्तुए स्वलक्ष्य रूप से मूल्यवान मानी जा सकती है, जो अपना मूल्य आप हो और जो किसी अन्य वस्तु को प्राप्त करने का साधन न हो।

यदि हम स्वलक्ष्य मूल्य की इस परिभाषा के अनुसार कुछ मूल्यो की व्याख्या करे, तो हमारी मूल्य की धारणाए और भी स्पष्ट हो जाएगी। जो लोग सुख को ही स्वलक्ष्य मूल्य मानते है, वे इस बात को भूल जाते है कि प्रत्येक मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति सुखद अवश्य होती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि सुख मूल्य का एक मापदण्ड है। दूसरे शब्दो मे, हम प्रत्येक वस्तु का मूल्याकन इस दृष्टि से नही करते कि वह सुख की प्राप्ति का साधन-मात्र है। उदाहरणस्वरूप, जब हम ज्ञान प्राप्त करते है, तो ज्ञान की प्राप्ति सुखद अवश्य होती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि हमारी ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य सुखद भावना को अनुभूत करना होता है। हम सदैव यही मानकर चलते है कि ज्ञान की प्राप्ति मे हम सुख नही, अपितु ज्ञान को ही लक्ष्य मानते है। यही कारण है कि ज्ञानोपार्जन के लिए हम दु खो को भी सहन करते हैं। यदि सुख स्वलक्ष्य मूल्य होता, तो हम ऐसा व्यवहार मे न करते कि हम ज्ञान प्राप्त करने के लिए शरीर को कष्ट दे। सुख एक ऐसा अन्तरात्मक तत्त्व है, जो व्यक्ति-व्यक्ति मे विभिन्न होता है। स्वलक्ष्य मूल्य वही होता है, जो सभी विचारशील व्यक्तियो द्वारा, समान रूप से वाछनीय स्वीकार किया जाता है। मूल्य की इस प्रकार की व्याख्या के आधार पर, हम शुभ के स्वरूप को भली भाति समझने की चेष्टा कर सकते है।

शुभ की व्याख्या का मूल्य की व्याख्या से इसलिए सम्बन्ध है कि प्राय. इन दोनो शब्दो को पर्यायवाची माना जाता है। किन्तु फिर भी यदि इन दोनो के अर्थ का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए, तो इन शब्दो को एक-दूसरे के स्थान पर सदैव प्रयोग मे नही लाया जा सकता। उदाहरणस्वरूप, शुभका अर्थ 'शुभ अथवा अशुभ' नही माना जा सकता, जबकि किसी वस्तु का मूल्याकन करते समय हम यह कह सकते है कि मूल्य की दृष्टि से अमुक वस्तु 'मूल्यवान अथवा मूल्यहीन' है। इसके अतिरिक्त शुभ को अनेक वार एक विशेषण के रूप मे प्रयोग मे लाया जाता है, जवकि शुभ का अर्थ हिन्दी भाषा मे 'अच्छा' होता है और अग्रेज़ी भाषा मे दोनोको 'good' कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि अग्रेजी मे यह कहा जाए कि "अमुक व्यक्ति एक अच्छा अध्यापक है," तो उस वाक्य का रूप इस प्रकार होगा—"He is a good teacher " यहा पर 'good' शब्द एक विशेषण के रूप मे प्रयोग मे लाया जाता है और किसी विशेष क्रिया की प्रशसा करता है। किन्तु 'मूल्य' शब्द को इस प्रकार विशेषण के रूप मे प्रयुक्त नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यदि साधारण भापा मे मूल्य (Value) शब्द का अर्थ समझने की चेष्टा की जाए, तो हम उसका अर्थ दो प्रकार का मानते है। प्रथम तो मूल्य का अर्थ मूल्य का लक्षण अथवा गुण है और दूसरा अर्थ वे वस्तुए है, जो मूल्य-रूपी गुण अथवा लक्षण रखती है। मूल्य के ये दो अर्थ हमे शुभ शब्द के समझने मे सहायक होगे।

शुभ का स्वरूप

शुभ की स्वरूप-व्याख्या डा० मोर ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सीपिया ऐथिका' (Principia Ethica) मे की है। उसकी यह धारणा है कि यद्यपि शुभ की परिभाषा देना आचार-विज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है, तथापि जिस दृष्टि से इस शब्द को नैतिकता के क्षेत्र मे प्रयोग मे लाया जाता है, उसको ध्यान मे रखते हुए इसकी तर्कात्मक परिभाषा नही दी जा सकती। उसका कारण यह है कि शुभ शब्द हमारे विचार का सरलतम विषय है। यदि परिभाषा का अर्थ एक शब्द के आशय को अन्य शब्दो मे अभिव्यक्त करना है, तब तो सम्भवतया हम शुभ की परिभाषा कर सकते है, किन्तु इस प्रकार की परिभाषा शब्द-कोष के अतिरिक्त और किसी स्थान पर महत्त्व नही रखती। अतः मोर की यह धारणा है कि यदि उससे यह पूछा जाए कि शुभ क्या है, तो उसका उत्तर यह होगा कि वह परिभाषातीत है, शुभ ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नही है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि 'शुभ' शब्द सरलतम होने के कारण विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता। जब हम शुभ को, जोकि हमारे अनुभव का आधारभूत तत्त्व है, विश्लेषणात्मक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं, तो हम उसकी परिभाषा नही कर सकते। जिस पद की परिभाषा की जाती है, उसको उसके सरल तत्त्वो के प्रकरण मे अभिव्यक्त किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, मनुष्य की परिभाषा यह है कि वह एक विचार-शील प्राणी है। 'विचारशीलता' और 'प्राणीभाव' दोनो मनुष्य के ऐसे तत्त्व अथवा गुण है, जो उस पद की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते है, किन्तु शुभ शब्द ऐसा है जिसको अन्य सरल तत्त्वो मे विभक्त नही किया जा सकता। यही कारण है कि शुभ की परिभाषा नही दी जा सकती। शुभ की धारणा वैसी ही सरल धारणा है जैसेकि 'पीलापन' की धारणा सरलतम है। जिस प्रकार कि हम किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जोकि पहले से 'पीलापन' को न जानता हो, 'पीलापन' की व्याख्या नही कर सकते, उसी प्रकार हम 'शुभ' की भी व्याख्या नही कर सकते, अर्थात् हम उस व्यक्ति को जोकि 'शुभ'को पहले न जानता हो, यह नही समझा सकते कि शुभ क्या है। सत्य तो यह है कि हम उन धारणाओ एवं वस्तुओ की परिभाषा कर सकते है, जो जटिल होती हैं। हम एक 'अश्व' की परिभाषा दे सकते है, क्योकि उसके अनेक गुण होते हैं, जिनकी गणना की जा सकती है। किन्तु जब हम उन सभी गुणो की गणना कर लेते हैं और 'अश्व' को सरलतम पदो मे परिवर्तित कर देते हैं, तो हम उससे आगे नही बढ सकते। वे गुण ऐसे सरल होते है, जिनका हम विचार कर सकते है अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं, जो व्यक्ति उनका विचार अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान नही कर सकता, उसको हम किसी भी परिभाषा के द्वारा उन सरलतम तत्त्वो का ज्ञान नही करा सकते।

मोर की धारणा के अनुसार 'शुभ' की व्याख्या अवश्य की जा सकती है और वह व्याख्या इतनी है कि शुभ एक सरलतम गुण होने के नाते एक विशेषण है। इस प्रकार जो वस्तु शुभ है एक ऐसा द्रव्य होना चाहिए, जिससे कि शुभ विशेषण को सम्बन्धित

किया जाता है और वह द्रव्य पूर्ण रूप से उस विशेषण के अन्तर्गत आ जाना चाहिए तथा शुभ का विशेषण उसके प्रति सदैव सत्य प्रमाणित होना चाहिए। यदि वह द्रव्य ऐसी वस्तु है, जिससे कि विशेषण को सम्बन्धित किया जाता है, तो वह द्रव्य अथवा वस्तु उस विशेषण से विभिन्न तत्त्व होगा और वह विभिन्न तत्त्व हमारे 'शुभ' की एक व्याख्या होगी। किन्तु यह व्याख्या 'शुभ' की पूर्ण परिभाषा नही कही जा सकती। जिस वस्तु को हम 'शुभ' का विशेषण देते है, उस वस्तु के उस 'शुभ' से अतिरिक्त अन्य विशेषण भी होगे, जो उसपर लागू किए जा सकते हो। उदाहरणस्वरूप, वह द्रव्य अथवा वस्तु सुख से पूर्ण हो सकती है, बुद्धियुक्त हो सकती है। यदि ये दोनो विशेषण उस द्रव्य की परिभाषा के वास्तविक अश है, तब यह सत्य होगा कि सुख तथा बुद्धिमत्ता भी शुभ है। बहुत-से व्यक्ति ऐसा विचार करते है कि जब हम यह कह देते है कि सुख और बुद्धिमत्ता शुभ है अथवा जब हम यह कहते है कि केवल सुख और बुद्धिमत्ता शुभ है, तो हम 'शुभ' की परिभाषा दे रहे होते है। डा० मोर का कहना है कि ऐसे तर्क-वाक्यो को कभी-कभी परिभाषा कहा जा सकता है, किन्तु यह परिभाषा एक व्याख्या-मात्र है। यदि ऐसी परिभाषा को एकमात्र परिभाषा मान लिया जाए, तो हम एक भ्रान्ति मे पड जाएगे।

इस प्रकार की व्याख्या को परिभाषा मान लेने मे भ्रान्तिया इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि सभी वस्तुए, जिनसे 'शुभ' के विशेषण को सम्बन्धित किया जाता है, कुछ अन्य गुण भी रखती है। आचार-विज्ञान का यह उद्देश्य यह जानना भी है कि उन वस्तुओ के वे अन्य गुण कौन-से है जिनको 'शुभ' कहा जाता है। किन्तु बहुत-से दार्शनिको ने उन अन्य गुणो को ही शुभ की परिभाषा मान लिया है। वे इस भ्रान्ति मे पड़ गए है कि ये गुण अन्य गुण नही है, अपितु पूर्णतया शुभ ही है। डा० मोर इस दोष को प्राकृतिक दोष (Naturalistic fallacy) कहता है।

जैसाकि हमने ऊपर बताया है, यह दोष तभी उत्पन्न हो जाता है, जब हम जिस द्रव्य से विशेषण को सम्बन्धित करते है, उससे विशेषण का इस प्रकार तादात्म्य कर देते है कि उस द्रव्य के अन्य गुणो को उसी विशेष विशेषण की परिभाषा मान लेते है। उदाहरणस्वरूप, कोई व्यक्ति यह कहता है कि सुख शुभ है, दूसरा कहता है कि शुभ वह वस्तु है जिसकी इच्छा की जाती है। इन दोनो व्यक्तियो मे से प्रत्येक बड़ी उत्सुकता से तर्क के द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि दूसरे का मत अयथार्थ है। किन्तु उनकी यह चेष्टा भ्रान्ति पर निर्भर है। उनमे से एक व्यक्ति यह मानकर चलता है कि शुभ इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नही है और फिर यह भी चेष्टा करता है कि वह उसे शुभ प्रमाणित न करे। उसकी यह चेष्टा असम्भव बात है। यदि यह सत्य है कि शुभ इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नही है, तो यदि सुख ही इच्छा का एक विषय बन सकता है, तो वह भी शुभ हो सकता है। मान लीजिए कि वह व्यक्ति यह प्रमाणित करने की चेष्टा ही करता रहता है कि इच्छा का विषय सुख नही है, तो ऐसा व्यक्ति हमे किस प्रकार की नैतिकता दे सकता है? वह तो केवल एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रमाणित करने की चेष्टा

कर रहा है। इच्छा ऐसी वस्तु है जो हमारे मन मे घटित होती है और सुख भी ऐसी अन्य वस्तु है जो इस प्रकार घटित होती है। उपर्युक्त नैतिक दार्शनिक यह धारणा प्रस्तुत करता है कि सुख की घटना इच्छा की घटना का विषय नही है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस वाद-विवाद का नैतिक समस्या से क्या सम्बन्ध है। उसका विरोधी इस धारणा को लेकर उपस्थित हुआ था कि नैतिक दृष्टिकोण से सुख शुभ है, जबकि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वही विरोधी व्यक्ति इस तथ्य को सहस्रो बार प्रमाणित करने के लिए तत्पर है कि सुख इच्छा का विषय नही है। समस्या इस प्रकार प्रस्तुत होती जाती है कि एक मनुष्य कहता है, "एक त्रिकोण गोलाकार है," दूसरा व्यक्ति उत्तर देता है कि "एक त्रिकोण एक सीधी रेखा होता है, और मैं तुम्हारे सामने यह प्रमाणित कर दूगा कि मैं ठीक हू, क्योकि एक सीधी रेखा गोलाकार नही होती।" पहला व्यक्ति फिर कह सकता है, "तुम्हारी बात सत्य है, किन्तु फिर भी एक त्रिकोण एक गोलाकार है, क्योकि तुमने इस तर्क-वाक्य के विरोध मे कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया। जो कुछ तुमने प्रमाणित किया है, वह यह है कि हम दोनो मे से एक भूल कर रहा है, क्योकि हम दोनो इस बात मे सहमत है कि एक त्रिकोण एक-साथ एक सीधी रेखा और गोलाकार नही हो सकता; किन्तु हम दोनो मे से भूल कौन कर रहा है, इस बात को प्रमाणित करनेका कोई साधन नही है, क्योकि तुम त्रिकोण की परिभाषा एक सीधी रेखा के रूप मे देते हो और मै गोलाकार को उसकी परिभाषा मानता हू।"

मोर की धारणा है कि यही प्राकृतिक दोष उन नैतिक सिद्धान्तो मे है जो सुख को शुभ की परिभाषा मान लेते हैं अथवा शुभ से सम्बन्धित किसी अन्य तत्त्व को उसकी परिभाषा मान लेते है। जब एक व्यक्ति यह कहता है कि शुभ का अर्थ सुखद है और दूसरा कहता है कि शुभ का अर्थ इच्छित वस्तु है, वे सम्भवतया यह बताने की चेष्टा कर रहे होगे कि अधिकतर लोग शुभ शब्द को सुख से सम्बन्धित करते है अथवा इच्छित वस्तु से सम्बन्धित करते है। इन दोनो व्यक्तियो द्वारा प्रस्तुत यह वाद-विवाद रोचक विषय तो अवश्य है, किन्तु इसे हम नैतिक विवाद नही कह सकते। यदि वाद-विवाद करनेवाले व्यक्ति आचार-विज्ञान के विचारक है, तो वे स्वय भी ऐसा ही मानेगे कि इस प्रकार के विवाद का विषय नैतिक नही है। यदि इसको नैतिक मान लिया जाए, तो उसका आशय यह होगा कि वे उसी कर्म को नैतिक स्वीकार करते है जिसको कि अधिक लोग नैतिक समझते हैं। ऐसे विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि आचार-विज्ञान का उद्देश्य यह बताना नही है कि अधिकतर लोग किसी विशेष शब्द का अर्थ किस प्रकार करते हैं और न ही उसका उद्देश्य यह है कि वे किस प्रकार के ऐसे कर्मो को नैतिक मानते हैं, चूकि शुभ शब्द से सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत लोग आचार-विज्ञान के विद्वान से केवल यह जानना चाहते हैं कि शुभ क्या है।

मान लीजिए कि एक व्यक्ति कहता है कि "मैं सुख का अनुभव कर रहा हू।" और मान लीजिए कि यह बात असत्य नही है और न ही उसकी भूल है। अब हमे यह देखना है कि इसका अर्थ क्या है। इसका आशय यह है कि उस व्यक्ति का मन, अर्थात् एक विशेष

मन, जोकि अन्य मनो से विभिन्न लक्षणोवाला है, इस विशेष समय एव अवधि मे एक ऐसी विशेष निश्चित भावना का अनुभव कर रहा है, जिसको कि सुख कहते है। सुख को अनुभूत करने (Pleased) का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नही है। चाहे हमारा अनुभूत सुख कम हो या अधिक हो, चाहे वह एक प्रकार का हो या दूसरे प्रकार का हो, इसमे एक बात जो पूर्णतया निश्चित है वह एक ऐसी निरपेक्ष और परिभाषातीत भावना का तत्त्व है, जोकि हर प्रकार के तथा हर विशदता के सुखद अनुभवो मे समान रूप से उपस्थित रहता है। हम यह कह सकते हैं कि उसका अन्य वस्तुओ से क्या सम्बन्ध है, किन्तु हम उसकी परिभापा नही दे सकते। यदि कोई व्यक्ति सुख की परिभापा देने की चेष्टा करे और कहे कि सुख कोई अन्य प्राकृतिक विषय है, तो उसकी यह चेष्टा मूर्खतापूर्ण होगी। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि सुख का अर्थ लाल रग की सवेदना है और इस आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सुख एक प्रकार का रग है, तो हम निस्सन्देह उस व्यक्ति को मूर्ख कहेगे। इस प्रकार का दोप प्राकृतिक दोष कहा गया है। यही कारण है कि डा० मोर शुभ की परिभाषाओ को प्राकृतिक दोप वतलाता है। जव हम यह भूल जाते हैं कि शुभ एक सरल परिभाषातीत तत्त्व है, तभी हम ऐसी भ्रान्त धारणाओ को स्वीकार करते है कि सुख ही एकमात्र शुभ है अथवा जीवन ही एकमात्र शुभ है।

यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि शुभ को परिभाषातीत स्वीकार करने का आशय यह नही है कि शुभ का कोई अर्थ ही नही, इसके विपरीत शुभ एक व्यापक तत्त्व है और वह इतना अधिक व्यापक है कि उसको किसी विशेप वस्तु तक सीमित नही माना जा सकता। हम मोर के इस दृष्टिकोण की तुलना उपनिषदो के व्यापक आधारभूत तत्त्व ब्रह्म के दृष्टिकोण से कर सकते है। मोर शुभ को ठीक उसी प्रकार परिभाषा से परे मानता है, जिस प्रकार कि उपनिषद् ब्रह्म को विश्वातीत स्वीकार करते है। उपनिषदो मे यह कहा गया है कि ब्रह्म विश्वव्यापी है, अर्थात् सत्-मात्र ब्रह्म है, किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि ब्रह्म न जल है, न वायु है, न कार्य है, न कारण है, न प्रकाश है, न अन्धकार है आदि-आदि। इस प्रकार के निषेधात्मक दृष्टिकोण का अर्थ यह नही है कि ब्रह्म शून्य है अथवा कुछ नही है। इसके विपरीत, इसका अभिप्राय यह है कि इन सभी वस्तुओ मे ब्रह्म व्याप्त तो है, किन्तु ये वस्तुए पृथक् रूप मे अथवा सामूहिक रूप मे ब्रह्म के समकक्ष नही हैं, क्योकि ब्रह्म इनसे कुछ अधिक है। इसी प्रकार यह तो कहा जा सकता है कि जल ब्रह्म है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि केवल जल ही ब्रह्म है और इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुए ब्रह्म नही है। महाशय मोर भी शुभ को इसी प्रकार व्याप्त मानता है और उसकी निषेधात्मक व्याख्या देता है। शुभ की यह परिभापा हमे प्राकृतिक दोष से वचाती है और शुभ की व्यापकता पर वल देकर यह प्रमाणित करती है कि शुभ एक स्वलक्ष्य मूल्य है।

मैकन्ज़ी, मोर की आलोचना करते हुए कहता है कि वह प्राकृतिक दोप की

अतिशयोक्ति करता है। उसका (मैकन्जी का) कहना है कि हम शुभ का अर्थ विशेष वस्तुओ के प्रकरण के बिना नही समझ सकते। हम उसका आशय तभी समझ सकते हैं, जब हम शुभ को उन विशेष वस्तुओ से सम्वन्धित करें, जो यथार्थ रूप से शुभ कही जाती है। यदि हम ऐसा नही करते तो उसका अभिप्राय यह होगा कि हम फूलो, पक्षियो, चित्रो, सगीत तथा नक्षत्रो से चित्रित आकाश आदि का कथन किए बिना सौन्दर्य का अर्थ समझने की चेष्टा कर रहे है। इसमे कोई सन्देह नही कि यदि हम इन वस्तुओ मे से किसी एक को पृथक् रूप से ही सौन्दर्य मान ले, तो हम उस पद का एकागी अर्थ कर रहे होगे। किन्तु यदि हम उनमे से किसीका भी कथन न करे, तो हम सौन्दर्य का कोई निश्चित अर्थ नही कर सकेगे।

मैकन्जी का कहना है कि शुभ के सम्वन्ध में यह वात अधिक सत्य है कि हम उसके अर्थ को विशेष वस्तुओ के सम्बन्ध से अधिक समझ सकते हैं। जव हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु शुभ है, तो हम इसके दो अर्थ कर सकते है। हम यह कह सकते है कि वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए शुभ है, अथवा यह कह सकते है कि वह अपने-आपमे शुभ है। पहली दृष्टि से शुभ को साधन माना गया है। मैकन्ज़ी का कहना है कि शुभ का पहला अर्थ ही अधिक मान्य है। हम प्राय. इसी दृष्टि से कहते हैं कि अमुक शुभ भोजन है, शुभ पेय है, शुभ समाचार है आदि। यही कारण है कि शुभ की व्याख्या विशेष वस्तुओ के प्रकरण मे ही दी जा सकती है।

मैकन्जी का यह दृष्टिकोण, वास्तव मे मोर के दृष्टिकोण के विपरीत नही है। मोर स्वयं इस वात को स्वीकार करता है कि विशेष वस्तुओ अथवा तत्त्वो के प्रकरण मे शुभ की व्याख्या तो की जा सकती है, किन्तु इस व्याख्या को परिभाषा स्वीकार कर लेना निस्सन्देह एक भूल है। जव मैकन्जी यह कहता है कि प्राय हमारा शुभ का आशय यह होता हैं कि वह एक विशेषण है अथवा परोक्ष मूल्य है, तो वह वास्तव मे यही बता रहा है कि अधिकतर व्यक्ति शुभ का यह अर्थ करते है। यहा पर हमे मोर का यह दृष्टिकोण स्वीकार करना पडेगा कि वे विशेष वस्तुए, जिनमे शुभ व्यापक है, शुभ की व्याख्या तो अवश्य करती हैं, किन्तु वे उसकी परिभाषा नही कर सकती और न हमे उन विशेष वस्तुओ को ऐसी परिभाषा स्वीकार करना चाहिए। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि शुभ शब्द की व्यापकता को प्रमाणित करने के लिए, मोर हमारे सामने एक निषेधात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, किन्तु शुभ की यह निषेधात्मक धारणा वास्तव मे शुभ को विधेयात्मक तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टा करती है।

मोर ने शुभ तथा अन्य वस्तुओ के सम्बन्धो की व्याख्या करते हुए कहा है कि किसी वस्तु को या तो इसलिए शुभ कहा जा सकता है कि वह स्वय शुभ है, या इसलिए कि वह किसी ऐसी अन्य वस्तु से सम्वन्धित है, जो स्वय शुभ है। दूसरी दृष्टि के अनुसार, शुभ एक साधन है एव परोक्ष मूल्य है, पहली दृष्टि के अनुसार, शुभ स्वलक्ष्य है। किन्तु इन दोनो दृष्टियो से यह स्पष्ट होता है कि शुभ एक सरल, परिभाषातीत और विश्लेषणा-

तीत विचार का ऐसा विषय है जिसकी परिभाषा वह स्वय ही है ।

शुभ की उपर्युक्त दो धारणाए, शुभ को दो प्रकार का मूल्य सिद्ध करती है। साधन के रूप मे, शुभ परोक्ष मूल्य होता है और स्वलक्ष्य शुभ होता है । जब भी हम किसी वस्तु को परोक्ष शुभ स्वीकार करते हैं, तो हम उसके कार्य-कारणो के सम्बन्धो की दृष्टि से निर्णय दे रहे होते है। हम इन दोनो बातो का निर्णय देते है कि इसका विशेष परिणाम होगा और वह परिणाम अपने-आपमे शुभ होगा; किन्तु ऐसे कारणात्मक निर्णय ढूढना, जोकि व्यापक सत्य हो, एक महान कठिन कार्य है । यह बात निश्चित है कि विभिन्न परिस्थितियो मे, एक ही कर्म ऐसे परिणामो को उत्पन्न कर सकता है, जोकि हर प्रकार से विभिन्न होते हैं और जिन विभिन्नताओ पर उनका मूल्य निर्भर रहता है। अत इस प्रकार के नैतिक निर्णय मे, हम केवल सामान्य वाक्य पर ही पहुचते है । जब नैतिक निर्णयों मे यह निश्चित किया जाता है कि अमुक प्रकार का कर्म अमुक प्रकार के परिणाम के लिए साधन के रूप मे शुभ है, तो वह निर्णय कदापि व्यापक रूप से सत्य नही हो सकता। ऐसे निर्णयो मे से जो अधिकतर किसी एक समय के लिए सत्य होते है, वे अन्य समय मे असत्य हो सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, यह निर्णय देना कि एक कर्म सामान्यतया शुभ के लिए साधन है, न केवल यह ही निश्चित करना है कि वह प्राय कुछ न कुछ शुभ उत्पन्न करता है, अपितु यह बताना है कि वह अधिकतर इतना अधिक शुभ उत्पन्न करता है, जितना कि परिस्थितिया आज्ञा देती हैं। इस दृष्टि से शुभ साधन के रूप मे सदैव सापेक्ष ही रहता है।

जब शुभ को उद्देश्य की दृष्टि से प्रयोग मे लाया जाता है और उसे किसी अन्य उद्देश्य का साधन-मात्र ही नही समझा जाता, तब भी उसके दो अर्थ हो सकते है, या तो उसको केवल नैतिक दृष्टि से समझा जा सकता है या सामान्य दृष्टि से । उदाहरणस्वरूप, शुभ कविता, सम्भवतया किसी अन्य वस्तु का साधन न हो, किन्तु फिर भी उसे तभी नैतिक दृष्टि से शुभ माना जा सकता है, जबकि वह किसी शुभ का साधन हो। आचार-विज्ञान मे हमारा सम्बन्ध नैतिक शुभ से है। जब शुभ का अर्थ सामान्य दृष्टि से लिया जाता है, तो उसे साधन की दृष्टि से अथवा स्वलक्ष्य दृष्टि से एक मूल्य स्वीकार किया जाता है। नैतिक दृष्टि से शुभ का अर्थ वह मूल्य है जो नैतिक उपयुक्तता अथवा परिमाण रखता हो। मैकन्ज़ी का कहना है कि नैतिक दृष्टि से उसे उदार एव पारमार्थिक कर्म अथवा क्रिया कहा जा सकता है, अर्थात् वह शुभ का वह प्रकार है, जिसका विशेष लक्षण अन्य प्रकार के शुभो का उत्पादन अथवा प्रोत्साहन है। एक शुभ मनुष्य वह मनुष्य है, जोकि सब प्रकार के यथार्थ मूल्यो को प्रोत्साहन देता है, चाहे वे मूल्य परोक्ष हो अथवा स्वलक्ष्य। व्यक्ति को यथासम्भव मूल्यो को प्रोत्साहन देना चाहिए। उपयोगितावाद का अर्थ हम इस दृष्टि से यथार्थ रूप मे कर सकते है। यथार्थ उपयोगितावाद का अर्थ यह नही है कि वह केवल एक मूल्य सुख को ही लक्ष्य बनाए, इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि वह हर प्रकार के मूल्यो को अपना लक्ष्य समझे। सभी मूल्यो को प्रोत्साहित करने का अर्थ स्वय नैतिक शुभ को प्रोत्साहित करना है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से शुभ, साधन भी है और

साध्य भी। यही कारण है कि मोर ने शुभ की परिभाषा देते हुए कहा है, "शुभ एक ऐसा शरीर-विषयक पूर्ण है, जिसके सभी अग स्वलक्ष्य मूल्य होते हैं।"[१]

मोर की यह धारणा शुभ को एक व्यापक और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार करती है। डाक्टर मोर इस प्रकार जो शुभ की धारणा प्रस्तुत करता है, उसमे सम्भवतया वह उस व्यक्तिगत तत्त्व की अवहेलना करता है, जोकि मूल्याकन मे उपस्थित रहता है। मोर ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शुभ उस समय भी शुभ ही रहेगा, जवकि कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्वाचिन न भी कर रहा हो। किन्तु मैकन्ज़ी की यह धारणा है कि शुभ मे व्यक्तिगत निर्वाचन का तत्त्व सदैव उपस्थित रहता है। डा० मोर अपने दृष्टिकोण को सौन्दर्य के उदाहरण से प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। उसका कहना है कि सौन्दर्य बिना किसी चैतन्य निर्वाचन के प्रकरण के भी शुभ ही माना जाएगा। मोर के शब्दो मे, "मान लीजिए कि हम एक अत्यन्त सुन्दर विश्व की कल्पना करते हैं। वह विश्व इतना सुन्दर है, जितनी कि हम उसकी कल्पना कर सकते है। इसमे वे सभी वस्तुए उपस्थित है, जिनकी हम प्रशसा करते हैं 'पर्वत, नदिया, समुद्र, वृक्ष, सूर्यास्त के दृश्य, नक्षत्र तथा चन्द्रमा आदि। यह कल्पना कीजिए कि ये सभी वस्तुए अत्यन्त पर्याप्त मात्रा मे उस विश्व मे इस प्रकार उपस्थित हैं कि उनमे कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु का विरोध नही करती, अपितु प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य के पूर्ण की वृद्धि करती है। इसके पश्चात्, एक ऐसे अत्यन्त असुन्दर विश्व की कल्पना कीजिए जो अत्यन्त ही असुन्दर है। ऐसी कल्पना कीजिए कि वह केवल एक कूडे का ढेर है। उसमे वे सभी वस्तुए हैं, जो हर प्रकार से हमारे लिए घृणास्पद हैं और उस पूर्ण मे कोई भी सन्तोष देनेवाली वस्तु नही है। इस प्रकार के दो विश्वो की हम तुलना कर सकते है। ऐसा करते हुए एक वस्तु, जिसकी कल्पना कि निषिद्ध हैं, यह है कि किसी भी व्यक्ति ने कभी उनमे से एक के सौन्दर्य का अनुभव किया है, अथवा दूसरे विश्व के असुन्दर होने के प्रति घृणा की है।" मोर का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे दो विश्वो की कल्पना कर सकते है और साथ ही यह भी कल्पना कर सकते है कि यदि किसी व्यक्ति ने इन दोनो विश्वो का अनुभव न भी किया हो और इनकी कल्पना न भी की हो, तव भी क्या यह मानना असगत होगा कि असुन्दर विश्व की अपेक्षा सुन्दर विश्व का ही अस्तित्व हो। क्या यह अच्छा नही होगा कि जितना भी हो सके, हम असुन्दर विश्व की अपेक्षा सुन्दर विश्व को उत्पन्न करने की चेष्टा करे।

मोर का इस प्रकार के उदाहरण द्वारा, सौन्दर्य को असुन्दरता की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार करने का उद्देश्य मूल्य को शाश्वत और व्यापक प्रमाणित करने की चेष्टा करना है। कुछ सीमा तक मोर का दृष्टिकोण सगत है, किन्तु हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि किसी भी मूल्य को श्रेष्ठ स्वीकार करना एक मानवीय क्रिया है। जब मोर यह कहता है, "दो कल्पित विश्व मानवीय कल्पना से सम्भवतया पृथक् हो सकते हैं," उस समय वह इस वात को भूल जाता है कि वह स्वय ऐसी कल्पना कर रहा है और वह एक विचारशील

१. "Good is an organic whole of intrinsically valuable parts"

व्यक्ति है, जोकि एक विश्व की अपेक्षा दूसरे विश्व का निर्वाचन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी मूल्य अथवा शुभ उस समय तक निरर्थक एव असम्भव सिद्ध होगा, जब तक वह किसी भी विचारशील व्यक्ति द्वारा निर्वाचित नही किया जाता। डा० मोर स्वय इस बात को स्वीकार करता है कि शुभ एक तर्कात्मक सकल्प का विषय है और उसका निर्वाचन उपयुक्त है।

शुभ की उपर्युक्त व्याख्या हमे यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि नैतिकता का लक्ष्य निस्सन्देह शुभ है और वह शुभ इतना व्यापक है कि उसमे तर्क तथा सुख दोनो महत्त्वपूर्ण तत्त्वो के रूप मे उपस्थित होते हैं। नैतिक शुभ मानवीय निर्वाचन पर आधारित होने के कारण सापेक्ष प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस सापेक्षता की उपस्थिति मे, हम उच्चतम सुख किसे कह सकते हैं। यदि नैतिक शुभ का अर्थ विचारशील प्राणी के निर्वाचन द्वारा प्राप्त तुष्टि है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक दृष्टि से उच्चतम शुभ वही होगा, जो एक विचारशील प्राणी को पूर्ण तुष्टि दे। हमे अन्त मे कुछ ऐसी मूल्यवान वस्तु को प्राप्त करके सम्भवतया सन्तुष्ट रहना पड़ेगा, जोकि हमारी उस आशा से कुछ कम है, जिसको लक्षित करके और जिसको सम्भव मानकर हमने अपने प्रयत्न आरम्भ किए थे, किन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि हम उस पूर्ण शुभ की धारणा को समझने की चेष्टा करें, जिसे परम शुभ कहा जा सकता है; क्योकि नैतिक शुभ का अर्थ इसी परम शुभ के प्रकरण मे ही समझा जा सकता है। यदि उसी शुभ को परम शुभ मान लिया जाए, जोकि किसी विचारशील प्राणी को पूर्ण तुष्टि देता है, तो भी ऐसी तुष्टि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। मनुष्य जैसे प्राणी को पूर्णतया सन्तुष्ट करना कुछ असम्भव-सा प्रतीत होता है। अग्रेजी भाषा के एक विद्वान ने लिखा है कि एक चमार को भी विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति पूर्णतया सन्तुष्ट नही कर सकती। ईश्वर का विश्व इतना विशाल है कि उसमे हर समय किसी न किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकाक्षा बनी ही रहती है। यदि हम ऐसे व्यक्ति की तुष्टि की सम्भावना पर विचार करे, तो हम यह कल्पना कर सकते है कि सम्भवतया सम्पूर्ण विश्व का आधिपत्य भी उसे पूर्णतया सन्तुष्ट नही कर सकता। यदि उसे यह आधिपत्य प्राप्त भी हो जाए, तब भी वह उस समय तक पूर्णतया सन्तुष्ट नही होगा, जब तक कि यह प्राप्ति एक परममूल्यात्मक प्राप्ति न हो। यदि वह परममूल्यात्मक प्राप्ति नही है, तो वह इसे अधिक श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करता रहेगा। इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि पश्चिमीय दार्शनिको की दृष्टि मे परम शुभ वह उच्चतम मूल्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् उसकी पूर्णता के कारण किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नही रहती। यही कारण है कि मैकन्जी 'परम शुभ' की परिभाषा देते हुए कहता है, "मैं इसलिए 'परम शुभ' की परिभाषा देते हुए कह सकता हू कि वह एक पूर्णतया व्यवस्थित ऐसा विश्व है, जिसको जान लिया गया है और जिसको निर्वाचित किया गया है।"

परम शुभ की यह धारणा अशत तत्त्वात्मक तथा अशत नैतिक है। इस प्रकार

के व्यवस्थित विश्व के वास्तविक अस्तित्व का प्रश्न तत्त्व-मीमासा का प्रश्न है और इस दृष्टि से वह एक तत्त्वात्मक धारणा है। किन्तु इसको तर्कात्मक निर्वाचन का विषय मानना इसकी नैतिक धारणा स्वीकार करना है। यहा पर आचार-विज्ञान और तत्त्व-मीमासा का समन्वय होता है और जब तक इस परम शुभ के नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-metaphysical) स्वरूप की पूरी व्याख्या न की जाए, तब तक कोई भी ऐसा नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया जा सकता, जो मानव-मात्र के लिए निरपेक्ष रूप से आदर्श स्वीकार किया जा सके। पश्चिमीय दर्शन मे परम शुभ को स्वीकार करते हुए भी उसकी तत्त्वात्मक धारणा की अवहेलना की जाती है और ऐसे परम शुभ को केवल आदर्श मानकर यह स्वीकार किया जाता है कि इस शुभ की प्राप्ति ऐसी वस्तु है, जिसकी क्रमिक अनुभूति हो सकती है। इस अवस्था मे, नैतिकता सदैव एक ऐसी सापेक्ष क्रिया रह जाती है, जिसका उद्देश्य इस परममूल्यात्मक विषय की, एक विचारशील प्राणी के द्वारा, चेष्टा किया जाना है। इसलिए पश्चिमीय विचारक पूर्ण शुभ को एक ऐसा आदर्श मानते हैं, जो अनुभूति से परे होते हुए भी एक ऐसा उद्देश्य है, जोकि एक विचारशील प्राणी का यथासम्भव लक्ष्य है। उनकी यह धारणा है कि विशुद्ध नैतिकता की दृष्टि से यह प्रश्न कोई महत्त्व नही रखता कि क्या उस परम शुभ की अनुभूति पूर्णतया हो सकती है कि नही। पश्चिमीय आचार-विज्ञान की यह सापेक्षता पश्चिमीय दर्शन की स्वाभाविक देन है। पश्चिमीय दर्शन का दृष्टिकोण सदैव विश्लेषणात्मक रहा है और इसी कारण पश्चिमीय दर्शन की विभिन्न शाखाए धीरे-धीरे दर्शन से पृथक् होकर स्वतन्त्र विज्ञान बन गई है। पश्चिमीय दार्शनिको की यह धारणा कि नैतिक-विज्ञान तत्त्व-मीमासा से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र अध्ययन है, उन्हे शुभ के तत्त्वात्मक दृष्टिकोण की ओर उपेक्षा करने पर बाध्य करती है।

हमारी पश्चिमीय आचार-विज्ञान के प्रति यह आलोचना, मैकन्जी द्वारा दी गई परम शुभ तथा नैतिक शुभ के परस्पर सम्बन्ध की धारणा द्वारा पुष्ट होती है। मैकन्ज़ी की दृष्टि से शुभ, शुभ का निर्वाचन तथा शुभ की प्राप्ति का प्रयत्न—तीन विभिन्न तथ्य हैं। यद्यपि वह इस बात को मानकर चलता है कि इन तीनो का पूर्ण पार्थक्य सम्भव नही है, तथापि वह इनकी परस्पर-विभिन्नता को व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य समझता है। उसका कहना है कि एक पूर्ण विश्व की धारणा निर्वाचन तथा परम शुभ की अनुभूति के लिए, प्रयत्न के बिना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि एक पूर्ण विश्व को बिना प्रयत्न अथवा निर्वाचन के सम्भव मान लिया जाए, तो ऐसे विश्व मे नैतिकता का कोई स्थान नही रह जाता। किन्तु पश्चिमीय दार्शनिको की यह धारणा सर्वथा असगत है और इस असगतता का कारण उनकी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है। काट से लेकर आधुनिक समय के बुद्धिवादी विचारको तक, सभी पश्चिमीय दार्शनिक तत्त्वात्मक आधारभूत सत्ता को नैतिकता से गौण मानते चले आए हैं। अत. उनकी यह धारणा है कि किसी भी परम सत्ता का उस समय तक अस्तित्व नही हो सकता, जब तक कि वह सत्ता मनुष्य के व्यावहारिक जीवन

के लिए उपयोगी न हो। पश्चिमीय दर्शन का व्यावहारिकता पर तथा मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक बल देना उसमे उपस्थित सापेक्षता और द्वैतवाद का मुख्य कारण है। हमने काट के सम्बन्ध मे पहले भी बताया है कि वह मनुष्य को तो स्वलक्ष्य मानता है, अपितु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी ईश्वर की सत्ता को मनुष्य की नैतिकता के फल की प्राप्ति का साधन-मात्र स्वीकार करता है। मैकन्ज़ी का यह कथन कि यदि निर्वाचन और प्रयत्न के बिना किसी पूर्ण विश्व के अस्तित्व को इसलिए स्वीकार नही किया जा सकता कि उसमे नैतिकता का कोई स्थान नही रहता, इस बात को पुष्ट करता है कि वह परम शुभ को नैतिकता के लिए आवश्यक मानता है, न कि नैतिकता को परम शुभ के लिए।

पश्चिमीय दार्शनिको ने सापेक्ष नैतिकता को ही एकमात्र नैतिकता स्वीकार करके और परम शुभ को एक कल्पना-मात्र मानकर, एक ऐसा नैतिक दर्शन प्रस्तुत किया है, जिसमे कर्म तथा लक्ष्य का, नैतिकता तथा शुभ का पार्थक्य हो जाता है और उसमे दर्शन तथा तर्क, तत्त्व-मीमासा तथा परम शुभ, सभी मानव के व्यावहारिक जीवन से गौण प्रमाणित हो जाते हैं। इसी प्रकार उनकी परम सत् तथा परम सौन्दर्य की धारणाए भी कोरी कल्पनाए रह जाती हैं।

पश्चिमीय दार्शनिक यह अनुमान कदापि नही लगा सके कि परम शुभ की एक धारणा ऐसी भी हो सकती है जो एक पूर्ण की धारणा हो और जिसकी अनुभूति नैतिक कर्म के द्वारा इसी जीवन मे भी सम्भव हो। यह धारणा किसी कपोल-कल्पित आदर्श की धारणा नही है, अपितु एक ऐसे वास्तविक अस्तित्वात्मक स्तर की धारणा है, जिसको प्रत्येक सामान्य मनुष्य, आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा नैतिक कर्म, यथार्थ ज्ञान और निष्ठात्मक प्रेम एव भक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकता है और जिसकी स्वीकृति निर्वाचन तथा प्रयत्न को बहिष्कृत नही करती, अपितु उनको विवेकपूर्ण तथा नि स्वार्थ बनाती है। इस विवेकपूर्ण निर्वाचन तथा नि.स्वार्थ प्रयत्न के द्वारा मनुष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितो का समन्वय करता हुआ, अपने सामाजिक कर्तव्यो का पालन करता हुआ और मानव-मात्र के कल्याण को अग्रसर करता हुआ, एक ऐसे उच्च स्तर पर पहुच जाता है, जिसको प्राप्त करके वह सभी द्वन्द्वो से ऊपर उठ जाता है। यह स्तर निरपेक्ष नैतिकता का उच्चतम स्तर है और इसीको भारतीय दर्शन मे मोक्ष कहा गया है। मोक्ष की धारणा एक वास्तविक परम शुभ की धारणा है और इसीके अभाव से पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे अनेक भ्रान्तिया उत्पन्न हुई है।

हम इस धारणा के व्यावहारिक अग पर आगे चलकर प्रकाश डालेगे, किंतु यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि ऐसी धारणा का उद्देश्य सामाजिक मूल्यो की अवहेलना करना नही है, अपितु उन मूल्यो को उदात्त रूप देना है। सामाजिक तथा आर्थिक मूल्य इस परम मूल्य की अपेक्षा मे साधन बन जाते है और ये साधन व्यक्ति तथा समाज दोनो के समन्वयात्मक विकास के लिए उपयोगी प्रमाणित होते है। इसका अभिप्राय यह नही कि

मोक्ष के अतिरिक्त अन्य मूल्यो की अवहेलना की जाए। इन सभी मूल्यो का यथास्थान अपना-अपना महत्त्व है और उस महत्त्व का ज्ञान हमे तभी हो सकता है, जव हम एक ऐसे व्यापक परम मूल्य का ज्ञान रखते हो, जोकि इन मूल्यो के परस्पर-सघर्ष एवं विरोध का समन्वय कर सके और जो स्वय इन सभीका उद्देश्य होते हुए भी और इनसे परे होते हुए भी, इनका निषेध न करे। पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे भी मूल्यो की जो सूची निर्मित की गई है, वह अन्ततोगत्वा भारतीय दर्शन मे प्रतिपादित चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत की जा सकती है। किन्तु पश्चिमीय दार्शनिक विश्लेषणात्मक विधि के अपनाने के कारण, चार मूल्यो के स्थान पर आठ मुख्य मूल्यो की सूची प्रस्तुत करते है, यद्यपि इनका वर्गीकरण तीन मुख्य शीर्षको के अन्तर्गत किया गया है।

मूल्यो को सामान्यतया निम्नलिखित आठ वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है ·

(१) शरीरात्मक मूल्य (Bodily values)
(२) आर्थिक मूल्य (Economic values)
(३) मनोरजनात्मक मूल्य (Values of recreation)
(४) सामाजिक मूल्य (Values of association)
(५) चरित्रात्मक मूल्य (Character values)
(६) सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetic values)
(७) बौद्धिक मूल्य (Intellectual values)
(८) धार्मिक मूल्य एव ईश्वर-विषयक मूल्य (Religious values)

इस प्रकार की सूची हमे डब्ल्यू० एम० अरबन की आचार-विज्ञान की पुस्तक मे मिलती है। यह वर्गीकरण भी निस्सदेह एक व्यवस्था का द्योतक है। इसमे हम शारीरिक तथा आर्थिक मूल्यो को प्रथम स्थान देते है, क्योकि शरीर को ही सभी आदर्शों का पालन करने के लिए मुख्य साधन माना गया है और शरीर के पोषण के लिए अर्थ एव धन की आवश्यकता रहती है। अरबन का भी यही दृष्टिकोण है कि "शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य इसलिए आधारभूत माने जाते हैं, क्योंकि वे मानवीय जीवन के लिए पूर्णतया अनिवार्य हैं, जबकि मूल्यो के अन्य वर्ग क्रमश कम आवश्यक है।"[1] अरबन का यह कथन पश्चिमीय भौतिकवाद का प्रतीक है। इसमे कोई सन्देह नही कि शरीर का नैतिकता मे मुख्य स्थान है, किन्तु जहा पर भौतिकवाद शरीर को इतना अधिक महत्त्व देता है कि वह आध्यात्मिक जीवन के अस्तित्व को भी स्वीकार नही करता, वहा अरबन सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो को स्वीकार तो करता है, किन्तु उनको कम आवश्यक घोषित करके उनके महत्त्व को कम कर देता है। सम्भवतया वह जीवन को अधिक महत्त्व देता है और इसलिए इसी क्रम को श्रेष्ठ मानता है।

मनोरजनात्मक मूल्यो का स्थान भी इसी सूची के अनुसार ऊचा स्थान है। शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक मूल्यो को समकक्ष इसलिए माना गया है कि वे

१. Urban Fundamentals of Ethics, Page 163.

सभी हमारी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते है। शारीरि
व्यक्तित्व के पश्चात्, सामाजिक व्यक्तित्व को स्थान दिया गया है और सामाजिक तथ
चरित्रात्मक मूल्यो को समकक्ष माना गया है। अरबन पहले तीन मूल्यो को शरीर-विषय
मूल्य (Organic values) कहता है और दूसरे दो मूल्यो को सामाजिक मूल्य कहत
है। इसी प्रकार वह बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक तथा धार्मिक मूल्यो को समकक्ष मानकर उ
आध्यात्मिक मूल्य कहता है। उसकी दृष्टि से सौन्दर्यात्मक, बौद्धिक तथा धार्मिक मूल
शरीर तथा सामाजिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हुए भी और उनपर निर्भर होते हु
भी व्यक्ति की उस प्रक्रिया से उत्पन्न होते है, जोकि इनसे परे होती है। यहा पर यह क
देना आवश्यक है कि पश्चिमीय दर्शन आध्यात्मिक प्रक्रिया को शारीरिक तथा सामाजि
प्रक्रियाओ से परे तो मानता है, किन्तु आत्मा को मन तथा शरीर का आधार न मानक
शरीर को ही इन सबका आधार स्वीकार करता है। इस प्रकार आध्यात्मिक मूल्यो क
उच्च स्थान देने का अर्थ केवल सैद्धान्तिक उत्सुकता को तृप्त करना ही प्रतीत होता है
पश्चिमीय दर्शन आध्यात्मिकता को एक अमूर्त तत्त्व बना देता है और शरीर को ही एक
मात्र व्यक्तित्व का आधार मानकर स्वभावतया इस भ्रान्ति को उत्पन्न कर देता है कि
जीवन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक मूल्यो के द्वारा सुख की प्राप्ति-मात्र ही है, चाहे वह सुख
व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक।

शरीर-विषयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो को निम्नलिखित दो मुख्
वर्गों मे भी विभक्त किया गया है, जिसमे कि (१) शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरजना
त्मक मूल्यो को तो शरीर-विषयक माना गया है और (२) सामाजिक तथा (३) आध्या
त्मिक मूल्यो को उच्चतम शरीर-विषयक (Hyper-organic) मूल्य माना गया है। इस
वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि यह तथाकथित उच्चतम शरीर-विषयक मूल्य वास्तव
मे गौण मूल्य है, क्योकि इन्हे शरीर-विषयक मूल्यो की प्राप्ति के लिए साधन स्वीका
किया गया है। यद्यपि अरबन यह कहता है कि आध्यात्मिक शब्द का अर्थ दिव्य दृष्टि से
किया जा सकता है, किन्तु वह स्पष्ट रूप से कहता है कि धर्म तथा धार्मिक विश्वास औ
परम्पराए मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक जीवन के निमित्त मूल्य है। ईश्वर मे विश्वास
रखनेवाला व्यक्ति, सम्भवत अपने-आपको ईश्वर द्वारा नियुक्त निमित्त मानकर, अपने
व्यापार मे सतत प्रयत्न इसलिए कर सकता है कि वह ईश्वर की आज्ञा का पालन कर
रहा है। इस प्रकार का दृष्टिकोण एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण अवश्य है, किन्तु वह
आत्मा को तत्त्व न मानकर एक अमूर्त धारणा-मात्र स्वीकार करता है। यही कारण है
कि पश्चिम मे शरीर तथा आत्मा, विश्व तथा ईश्वर, विज्ञान तथा धर्म—इनमे सदैव
पार्थक्य बना रहता है और जब कभी इन दोनो के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या दी जाती
है, तो उसमे प्रत्यक्ष शरीर को, जोकि वैज्ञानिक ज्ञान का विषय बन सकता है, एक
वास्तविक सत्ता स्वीकार किया जाता है और आत्मा तथा ईश्वर को धारणा-मात्र
स्वीकार करके आध्यात्मिकता को गौण माना जाता है।

पश्चिमीय दर्शन की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उसका मुख्य कारण यही है कि जिस प्रकारकी आध्यात्मिकता पश्चिम मे पनपी है, उसका मूल आधार अनुभूत तत्त्वात्मक सत्ता न होकर केवल विश्वास पर आधारित ईसाई धर्म है, जो आज तक भी विज्ञान से पृथक् स्वीकार किया जा रहा है और जिसकी परम्पराए तथा जिसके विश्वास अवैज्ञानिक प्रमाणित हो जाने के पश्चात् भी प्रगतिशील, प्रज्ञानिष्ठ विवेक तथा तर्क को दर्शन की एकमात्र विधि माननेवाले पश्चिमीय दार्शनिको द्वारा शिरोधार्य स्वीकार किए जा रहे है। किन्तु उनकी यह स्वीकृति एक औपचारिक चिह्न ही प्रतीत होती है, क्योकि वे धर्म को तर्क से सर्वथा पृथक् रखते है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो धार्मिक विश्वासो को और धार्मिक अनुभव को विश्वासातीत मानकर, उनके अस्तित्व को पारलौकिक स्वीकार किया जाता है, या उनको केवल कल्पना ही माना जाता है। जो दार्शनिक पहली दृष्टि को अपनाते है, वे प्राय धर्म तथा धार्मिक अनुभव पर किसी प्रकार की आलोचना न करते हुए, उन्हे उपयोगिता की दृष्टि से (Pragmatically) निमित्त मूल्य-मात्र ही मानते हैं। दूसरी दृष्टि को अपनानेवाले कतिपय दार्शनिक है, जो अपने-आपको स्वभाववादी अथवा भौतिकवादी कहते है और जो धर्म को जीवन मे कोई स्थान नही देते। दोनो अवस्थाओ मे, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता को परस्पर सर्वथा पृथक् माना जाता है, इसलिए पश्चिमीय नैतिकता का उच्चतम स्तर, सामाजिक कल्याण का स्तर है और उसके उच्चतम मूल्य वे मूल्य हैं, जो समाज को आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक तृप्ति की दृष्टि से सुखी बना सके।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमीय आचार-विज्ञान की मूल्य की धारणा नैतिकता की व्याख्या करने मे सहायक तो अवश्य है, किन्तु उसका गम्भीर विश्लेषण हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि जब तक नैतिक मूल्यो को उस परम मूल्य से सम्बन्धित न किया जाए कि जिसकी प्राप्ति न ही केवल काल्पनिक हो, अपितु एक वास्तविक अनुभूति हो, तब तक नैतिकता का कोई ऐसा आदर्श सर्वमान्य स्वीकार नही किया जा सकता, जिसपर चलकर व्यक्ति सामाजिक मूल्य से सघर्ष न करता हुआ भी पूर्णता को प्राप्त कर सके। जब तक हम एक ऐसे परम मूल्य की धारणा प्रस्तुत नही कर सकते कि जिसमे शरीर-विषयक तथा उच्चतम शरीर-विषयक मूल्यो का सुन्दर समन्वय हो और जो व्यक्तित्व का ऐसा विकास कर सके कि उस विकास की प्राप्ति के पश्चात्, मनुष्य न ही केवल मानव-समाज को अपना शरीर समझ सके, अपितु विश्व-मात्र को अपनी आत्मा मे स्थित अनुभूत करे, तब तक पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे उपस्थित निरन्तर द्वन्द्व एव सुख तथा तर्क, तृप्ति तथा आदर्श, व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित आदि मे परस्पर-सघर्ष और सापेक्षता का कदापि निवारण नही हो सकता।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान की इस असामजस्य की परिस्थिति को सुलझाने का एकमात्र उपाय भारतीय दर्शन की मोक्ष की धारणा की स्वीकृति है। इसका अभिप्राय यह नही कि पश्चिमीय दर्शन भारतीय दर्शन को अपनाकर अपने धार्मिक विचारो का

अवलम्बन न करे, क्योकि सम्भवतया मोक्ष की धारणा ईसाई धर्म के विश्वासो के विपरीत समझी जा सकती है। वास्तव मे मोक्ष की धारणा किसी भी धर्म अथवा धार्मिक विश्वासो के विपरीत नही है, अपितु वह किसी न किसी रूप मे प्रत्येक धर्म मे उपस्थित है और प्रत्येक धर्म को प्रोत्साहन देती है। भारतीय दर्शन मे निस्सन्देह यह धारणा अत्यन्त स्पष्ट और व्यापक रूप से प्रतिपादित की गई है। यदि धर्म का अर्थ विशेष मत एव विशेष धार्मिक विश्वास समझा जाए, तो उस दृष्टि से मोक्ष की धारणा को कदापि धार्मिक नही कहा जा सकता। यह धारणा न तो इस दृष्टि से केवल धार्मिक है, न केवल नैतिक है और न केवल सामाजिक है और न ही एक व्यक्तिगत दृष्टि है, अपितु वह एक ऐसी नैतिक तात्त्विक धारणा (Ethico-metaphysical concept) है, जिसमे कि मनुष्य का मनोवैज्ञानिक स्वभाव, उसकी बौद्धिक मान्यताए, उसकी रचनात्मक प्रवृत्तिया और उसका मूल्यात्मक व्यक्तित्व इस प्रकार समन्वित हो जाते है कि उसे एक वार जीवन का लक्ष्य स्वीकार करने के पश्चात् व्यक्ति स्वत ही नैतिकता का निरन्तर अनुसरण करता हुआ अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है और नैतिकता को सार्थक वना सकता है। हम इस धारणा की पूर्ण व्याख्या आगे चलकर करेंगे। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि मोक्ष एक ऐसा परम मूल्य है कि जिसमे ऊपर दिए गए शरीर-विषयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य अपना-अपना उचित स्थान प्राप्त करते है और जो परम शुभ की उस परिभाषा को तर्कसंगत प्रमाणित करता है जिसके अनुसार परम शुभ स्वलक्ष्य मूल्यो का शरीर-विषयक पूर्ण (An organic whole of intrinsically valuable parts) माना गया है। यह धारणा नैतिक प्रयत्न को प्रोत्साहित करती है और निमित्त तथा स्वलक्ष्य मूल्यो को समान रूप से उपयोगी मानती है।

मानवीय मूल्यों का मूलप्रवृत्त्यात्मक आधार

ऐसे परम मूल्य की धारणा की अनुपस्थिति मे यह स्वाभाविक है कि मानवीय मूल्यो का आधार उन मानवीय मूल प्रवृत्तियो एव प्रेरको को स्वीकार किया जाए, जोकि मनुष्य मे परम्परा से उपस्थित स्वीकार किए जाते हैं। चाहे इन प्रवृत्तियो को मूल प्रवृत्तिया कहा जाए, चाहे जन्मजात प्रेरक अथवा रुचियां कहा जाए, इसमे कोई सन्देह नही कि यह प्रवृत्तिया मानव-मात्र मे उपस्थित हैं और मनुष्य के व्यवहार का आवश्यक और अनिवार्य अग हैं। अत: शरीर-विपयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो का इन जन्मजात प्रवृत्तियो से घनिष्ठ सम्वन्ध है। उदाहरणस्वरूप, भोजन ढूढने की प्रवृत्ति, काम की प्रवृत्ति तथा खेलने की प्रवृत्ति निस्सन्देह हमारे शरीर के विकास से सम्वन्ध रखती हैं तथा मनोरंजन का भी साधन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भोजन ढूढने की प्रवृत्ति तथा कामवृत्ति, शारीरिक मूल्यो का आधार है। इन प्रवृत्तियो की अनिवार्य तृप्ति हमे शारीरिक मूल्यो को स्वीकार करने के लिए वाध्य करती है। इसी प्रकार सचय करने की प्रवृत्ति तथा शारीरिक क्रियाशीलता की प्रवृत्ति हमे आर्थिक मूल्यो को स्वीकार करने के लिए और श्रम द्वारा

अर्थ उत्पन्न करने के लिए वाध्य करती है। खेल की प्रवृत्ति को निस्सन्देह मनोरजन का आधार माना जा सकता है।

मनुष्य की सामूहिक प्रवृत्ति (Gregarious instinct) जो उसे सामाजिक प्राणी प्रमाणित करती है, उसे सस्थात्मक एव सामाजिक मूल्यो को स्वीकार करने पर वाध्य करती हैं। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन तथा आत्महीनता की प्रवृत्तिया चरित्र-सम्बन्धी मूल्यो का आधार है। ये तीनो प्रवृत्तिया ही मनुष्य को अपने-आपमे सद्‌गुण विकसित करने तथा अपने चरित्र का निर्माण करने पर वाध्य करती है। उत्सुकता की प्रवृत्ति को बौद्धिक मूल्यो का आधार माना जाता है और कुछ सीमा तक खेल की प्रवृत्ति को सौन्दर्यात्मक मूल्यो का प्रेरक स्वीकार किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक धार्मिक प्रवृत्ति को, और कुछ दिव्य भय को धार्मिक मूल्यो का आधार मानते है। मूल प्रवृत्तियो का मानवीय मूल्यो से यह सम्बन्ध इस बात को प्रमाणित करता है कि मूल्य मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही स्वीकार किए जाते है, इसलिए आत्मानूभूति के आदर्श का अर्थ इन मूल्यो को व्यवस्थित एव क्रमवद्ध करना है। इन मूल्यो की अनुभूति ही आत्मानुभूति है, किंतु पश्चिमीय आचार-विज्ञान यह मानकर चलता है कि पूर्ण रूप से आत्मानुभूति सम्भव नही होसकती। अरबन का कहना है कि एक दृष्टि से, मनुष्य की सभी क्षमताओ का पूर्ण विकास, जिसे कि आत्मानुभूति का आवरण दे दिया जाता है, केवल आदर्श-मात्र है। वह हमे एक दिशा अवश्य दिखलाता है और मनुष्य की चैतन्य क्रियाशीलता को प्रेरित करता है। अरबन के शब्दो मे, "सम्पूर्ण आत्मानुभूति अथवा आत्मा की एक ही कर्म मे सहसा अनुभूति नाम की कोई वस्तु नही है। जीवन एक प्रक्रिया है एव अपने स्वभाव से ही निर्वाचनों की एक शृखला है। वह अनिवार्य रूप से एक मूल्य का दूसरे मूल्य के लिए वलिदान है।"[१]

अरबन का यह कहना तो सत्य है कि जनसाधारण के लिए सम्पूर्ण आत्मानुभूति दुर्लभ है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि पूर्ण अनुभूति एक कल्पना-मात्र है। कोई भी व्यक्ति एक कर्म मे पूर्णता प्राप्त नही कर सकता। यह भी सत्य है कि जीवन मे हम अनिवार्य रूप से एक मूल्य की प्राप्ति के लिए दूसरे मूल्य का बलिदान देते है, क्योकि हम जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते है वह एक सापेक्ष प्रक्रिया है। इससे हमे यह स्वीकार नही कर लेना चाहिए कि सापेक्ष जीवन सदैव सापेक्ष रहता है और रहेगा। यदि यह सत्य होता तो मनुष्य कदापि शरीर-विपयक मूल्यो को, उच्चतम शरीर-विषयक मूल्यो से गौण मानकर और उन्हे परम शुभ के अधीन करके, नैतिकता का अनुसरण करते हुए कदापि अपने लक्ष्य की ओर न वढ सकता। जीवन सापेक्ष है और एक अपूर्णता है और नैतिकता का महत्त्व इसीमे है कि वह सापेक्ष को निरपेक्ष की ओर और अपूर्ण को पूर्ण की ओर ले जाने का

---

१ "There is no such thing as total self-realization, realization of the self all at once, or in one act Life is a process, by its very nature, a series of choices It is of necessity a sacrifice of one value for. another" —Fundamentals of Ethics, by W M Urban, Page 170

सतत प्रयत्न कराती है और वह पूर्ण कल्पना-मात्र ही नही है, अपितु वास्तविक आत्मानुभूति है। न ही केवल भारतीय योगियो ने अपने अनुभव के द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया है, अपितु पश्चिम मे भी अनेक ऐसे योगी और सन्त हुए है, जिन्होने आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर उस पूर्णता एव निरपेक्षता का अनुभव किया, जहा पर वे ऐसे परम शुभ एव परम आनन्द को प्राप्त करते हैं, जिसकी अपेक्षा से सभी अन्य निमित्त तथा स्वलक्ष्य मूल्य फीके पड़ जाते है। यही वह जीवन्मुक्ति की अवस्था है, जिसको भारतीय आचारशास्त्र और दर्शन, परम लक्ष्य मानता है। किन्तु यह भी सत्य है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति एक आकस्मिक घटना नही है, अपितु एक सतत नैतिक प्रयास है, जो सभी मूल्यो को उच्च स्थान देने एवं व्यवस्थित करने का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रकार की व्यवस्था के जो भी नियम निर्धारित किए जाए, वे नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते है। पश्चिमीय विचारको ने भी इस प्रकार की व्यवस्था एव मूल्यो को क्रमवद्ध करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है।

मूल्यो की व्यवस्था के लिए तीन नियम स्वीकार किए गए है जो निम्नलिखित है·

(१) स्वलक्ष्य मूल्य एव अन्तरात्मक मूल्य (Intrinsic values), निमित्त मूल्यो अथवा वाह्यात्मक मूल्यो (Extrinsic values) की अपेक्षा उच्चतर है।

(२) शाश्वत एव स्थायी मूल्य, क्षणिक एव अस्थिर मूल्यो की अपेक्षा उच्चतर हैं।

(३) सृजनात्मक मूल्य (Productive values), असृजनात्मक मूल्यो की अपेक्षा उच्चतर है।

इन नियमो के आधार पर ही हम मूल्यो का वर्गीकरण भली भाति समझ सकते हैं। शरीर-विषयक मूल्यो मे, अर्थ-सम्वन्धी मूल्य एव आर्थिक मूल्य तथा श्रम निस्सन्देह स्वलक्ष्य मूल्य न होकर निमित्त मूल्य है। अर्थ एव सम्पत्ति का मूल्य इसलिए है कि वह हमारे शारीरिक मूल्यो, सामाजिक मूल्यो तथा आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति का साधन-मात्र है। जहा तक भोजन ढूढने की प्रवृत्ति पर आधारित शारीरिक मूल्यो का सम्बन्ध है, यह सन्देह किया जा सकता है कि ये मूल्य स्वलक्ष्य है। उदाहरणस्वरूप, भूख की तृप्ति, जो सुख देती है अथवा कामवृत्ति की तृप्ति, जो सुखद अनुभव देती है, वह स्वलक्ष्य कहा जा सकता है, किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन करे, तो हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि वास्तव मे ऐसा नही है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति इस वात को स्वीकार करता है कि हम जीवित रहने के लिए भोजन करते है न कि भोजन करने के लिए जीवित रहते हैं। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि कामवृत्ति मे शारीरिक तुष्टि, प्रेम का अग होती है और प्रेम के अनुभव का एक साधन-मात्र होती है। अत भूख और कामवृत्ति पर आधारित मूल्य भी निस्सन्देह निमित्त मूल्य ही है। इस दृष्टि से इन निमित्त मूल्यो को सामाजिक मूल्यो और आध्यात्मिक मूल्यो की अपेक्षा गौण ही स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि हम दूसरे नियम को लागू करे, तो शरीर-विषयक मूल्यो की यह सापेक्षता

और न्यूनता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसमे कोई सन्देह नही कि शारीरिक तृप्ति, चाहे वह भूख की तृप्ति हो चाहे कामवृत्ति की, आध्यात्मिक आनन्द और प्रेम की अनुभूति की अपेक्षा क्षणिक और अस्थायी होती है। विषय-भोग आदि हमे कुछ ही समय के लिए सुख देते हैं, जबकि आध्यात्मिक अनुभव हमे स्थायी आनन्द प्रदान करता है। जब तक कि हमारे जीवन मे बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा आदर्शात्मक सामग्री नही हो, तब तक हमारा जीवन नीरस रहता है और हम अपूर्णता का अनुभव करते रहते है। इसमे कोई सदेह नही कि शारीरिक मूल्य काम तथा अर्थ हमारे जीवन की अनिवार्य उपाधिया है और जीवन के शुभ का साधन है। इस दृष्टि से वे मनुष्य की इच्छा का प्राथमिक विषय हैं, किन्तु उन्हे अपना लक्ष्य स्वय नही कहा जा सकता और न ही उन्हे मनुष्य के चेतन सकल्प का स्थायी लक्ष्य माना जा सकता है।

असृजनात्मक मूल्यो की अपेक्षा सृजनात्मक मूल्यो का निर्वाचन भी मूल्यो की व्यवस्था का सिद्धान्त है। जो मूल्य केवल निमित्त होते हैं वे स्वय समाप्त हो जाते है, जबकि स्वलक्ष्य मूल्य व्यक्ति तथा समाज के लिए, जिसका कि व्यक्ति एक अग है, अधिक से अधिक प्रगत्यात्मक एव सृजनात्मक होते हैं। ज्ञान, कला, धर्म आदि आध्यात्मिक मूल्य ऐसे है कि वे भौतिक वस्तुओ की भाति नष्ट नही होते, अपितु सदैव सृजनात्मक रहते हैं। वे सदैव प्रयोग किए जाने के पश्चात् प्रवृद्ध होते जाते है और विभक्त होने के दोष से रहित होते है। उदाहरणस्वरूप, ज्ञान अथवा विद्या को ले लीजिए। यह एक ऐसा धन है, जो व्यय करने से बढता है। विद्या के विषय मे कहा गया है, "न इसका राजा अपहरण कर सकता है, न इसे चोर चुरा सकता है, न कोई दूसरा व्यक्ति इसका बंटवारा कर सकता है। इसका व्यय करने से नित्यप्रति इसकी वृद्धि ही होती है, इसलिए विद्या-रूपी धन, सब धनों से श्रेष्ठ है।"[1] ज्ञान, कला तथा धर्म आदि न ही केवल व्यक्ति से ऊपर हैं, अपितु वे राजनीतिक तथा भौगोलिक सीमाओ से भी ऊपर उठ जाते है। वे जितने ही अधिक व्यापक होते हैं, उतने ही अधिक सृजनात्मक होते हैं।

इन सिद्धान्तो के आधार पर, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की श्रेष्ठता इसीमे है कि वह शारीरिक तथा निमित्त मूल्यो को उन उच्च स्तरवाले मूल्यो के अधीन करे, जो सामाजिक और चरित्रात्मक है और जो ज्ञान, सौन्दर्य, धर्म एवं सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की भांति व्यापक और शाश्वत है। जिस प्रकार वैयक्तिक मूल्यो को सामाजिक मूल्यो के अधीन करना आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक मूल्यो को आध्यात्मिक मूल्यो के अधीन करना भी सगत है। यह तो सत्य है कि पुरुष और पुरुष तथा पुरुष और स्त्री के वे परस्पर-सम्बन्ध, जिन्हे प्रेम, मित्रता, समुदाय आदि कहा जाता है, ऐसे मूल्य है जो केवल शारीरिक अथवा निमित्त मूल्यो की अपेक्षा अधिक स्थायी और अधिक सृजनात्मक हैं, किन्तु ये मूल्य भी सत्य, शिव, सुन्दरम् की अपेक्षा सीमित और कम स्थायी हैं, क्योकि वे आध्यात्मिक मूल्य नही है। वे काल की सीमाओ से परे नही है जबकि सत्य, शिवं, सुन्दरम् कालातीत

१. हितोपदेश, प्रस्तावना भाग

है, इसलिए मूल्यो के क्रम मे आध्यात्मिक मूल्यो का स्थान निस्सन्देह उच्चतम स्थान है और अन्य सभी मूल्य निमित्त होने के कारण इनकी अपेक्षा गौण है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे इन नियमो के आधार पर नैतिक जीवन का क्रम स्थापित किया जाता है। वास्तव मे ये नियम व्यावहारिक है और सामान्य बुद्धिमत्ता पर आधारित है। प्रत्येक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति अस्थायी सुख के लिए स्थायी आनन्द का त्याग नही करेगा और सदैव शाश्वत और सृजनात्मक मूल्यो को उच्चतम समझेगा। वास्तव मे ये नियम, मूल्य के वे सिद्धान्त है, जो शुभ के उच्च तथा न्यून स्तरो को निर्धारित करते है। कोई भी नैतिक सिद्धान्त, चाहे वह सुखवादी सिद्धान्त हो चाहे तर्कवादी आदर्श हो, इन नियमो की अवहेलना नही कर सकता। यदि हम सुख को भी मानवीय शुभ मान ले, तब भी हमारी बुद्धि हमे यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि निमित्त शुभ की अपेक्षा स्वलक्ष्य शुभ, अस्थायी शुभ की अपेक्षा स्थायी सुख तथा असृजनात्मक शुभ की अपेक्षा सृजनात्मक शुभ अधिक वाछनीय है। इस प्रकार मूल्यो की धारणा मे नैतिक मूल्य एक क्रमिक रूप से व्यवस्थित मूल्य हैं। इस क्रम मे वे ही मूल्य उच्चतम है, जो हमारे हितो तथा कर्मों के समन्वय मे उच्चतम स्थान रखते है। इस प्रकार उच्चतम शुभ वही होगा, जो पूर्ण आत्मानुभूति दे सके।

दसवां अध्याय

मानवीय अधिकारों का स्वरूप

(The Nature of Human Rights)

हमने पिछले अध्यायो में विभिन्न नैतिक सिद्धान्तो का यथासम्भव विस्तार-पूर्वक अध्ययन किया है। हम यह कह सकते हैं कि ये सभी सिद्धान्त, मूल्यात्मक सिद्धान्त है और मूल्यो के निर्वाचन को, मूल्यो की उत्पत्ति को तथा मूल्यो के समन्वय को ही नैतिकता स्वीकार करते हैं। मूल्यो का निर्वाचन करना मानव का नैतिक कर्तव्य (Duty) है। मूल्यो को उत्पादित करना उसका अधिकार (Right) है तथा मूल्यो का समन्वय करना सद्गुण है। इन नैतिक सिद्धान्तो का कहा तक जीवन मे अनुसरण किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमे उपर्युक्त तीनो धारणाओ की पूर्ण व्याख्या करनी होगी। हमे यह बताना होगा कि नैतिक दृष्टि से मानव के क्या कर्तव्य हैं, उसके क्या अधिकार है और वह किन सद्गुणो को अपनाकर नैतिकता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इन तीनो धारणाओ की व्याख्या सिद्धान्त तथा व्यवहार के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या है। चाहे हम नैतिकता को सापेक्ष माने व निरपेक्ष, चाहे हम परम शुभ को काल्पनिक आदर्श माने, चाहे उसे वास्तविक तत्त्व माने, दोनो अवस्थाओ मे कर्तव्यो, अधिकारो तथा सद्गुणो की व्याख्या अनिवार्य है। इन तीनो मे से अधिकार की धारणा अन्य दो धारणाओ की अपेक्षा सर्वप्रथम ली जानी चाहिए, क्योकि अधिकार मानव की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं और स्वतन्त्रता को नैतिकता का मूल आधार स्वीकार किया जाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जहा अधिकार है वहा कर्तव्य है और जहा स्वतन्त्रता है वहा उत्तरदायित्व है। इन दोनो के परस्पर-सम्बन्ध पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यहा पर इतना कह देना आवश्यक है कि जब तक मनुष्य को कुछ सुविधाए प्राप्त न हो, तब तक उससे उत्तरदायित्व की आशा रखना असम्भव है। इसलिए काट ने कहा था कि नैतिकता मे सकल्प की स्वतन्त्रता निहित है।

मनुष्य के अधिकारो की समस्या निस्सन्देह एक जटिल समस्या है और अधिकार की विभिन्न धारणाएं अनेक बार सघर्ष उत्पन्न करती है। नैतिक तथा वैधानिक एव राजनीतिक अधिकारो मे परस्पर-सघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार कुछ अधिकार ऐसे हो सकते है जो तर्क की दृष्टि से सगत प्रतीत होते हैं, किन्तु जिनको कुछ लोगो द्वारा इसलिए स्वीकार नही किया जा सकता कि वे जनसाधारण के लिए व्यापक प्रतीत नही

होते। जब कुछ लोग सौन्दर्य के अधिकार को अधिकार घोषित करते है, तो कुछ क्रूर प्रवृत्ति-वाले व्यक्ति ऐसे भी है जो इन अधिकारो को केवल भावुकता घोषित करते है। नैतिक अधिकार तथा वैधानिक अधिकार के परस्पर-भेद का सर्वोत्तम उदाहरण अमरीका के एक ड्रेड स्कॉट नामक दास के विषय मे, अमरीका के उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय है, जो यहा पर उल्लेखनीय है। अमरीका के कुछ आदर्शवादी नैतिको ने और विशेषकर एक सस्था ने, जिसका नाम 'मित्रो की सभा' था, यह विचारधारा प्रस्तुत की कि सभी हब्शी मानव होने के नाते स्वतन्त्र हैं। अत इस दृष्टिकोण के समर्थको ने उन हब्शियो को छिपकर सहायता देना आरम्भ किया, जो अपने स्वामियो के घरो से भागकर उत्तरी अमरीका मे भाग जाते थे। ड्रेड स्कॉट एक ऐसा दास था, जो अपने स्वामी के घर से भाग निकला था। उसके स्वामी ने एक ऐसा वैधानिक अभियोग चलाया, जोकि अमरीका के उच्चतम न्यायालय तक पहुचा। इस न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "ड्रेड स्कॉट को इसलिए उसके स्वामी को वापस दे दिया जाए कि भागा हुआ दास वैधानिक दृष्टि से स्वामी की सम्पत्ति है और जो लोग उसको भागने मे सहायता दे रहे हैं, वे अवैधानिक रूप से दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण कर रहे हैं।" यह निर्णय निस्सन्देह उस समय के वैधानिक नियमो के अनुसार था, यद्यपि नैतिक दृष्टि से इसे कोई भी व्यक्ति सगत नही कहेगा। यह ऐसा अभियोग था, जिसने कि वैधानिक तथा नैतिक अधिकारो मे सघर्ष उत्पन्न कर दिया और जिसका एकमात्र उपाय अमरीका के उत्तरी राज्यो तथा दक्षिणी राज्यो के बीच मे युद्ध ही था।

इस प्रकार के नैतिक और वैधानिक सघर्ष यद्यपि बहुत कम देखने मे आते हैं, तथापि ये हमे नैतिक अधिकार की परिभाषा करने पर बाध्य करते है। सामान्य मनुष्य यह मानकर चलता है कि उसके अनेक अधिकार है, उसे जीने का अधिकार है, उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार है, उसे विचार और कर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार है आदि-आदि। इन अधिकारो पर बल देते हुए मनुष्य मे यह भावना प्रधान रहती है कि उसके अधिकारो को भग करने की चेष्टा एव उसकी स्वतन्त्रता को दबाने की चेष्टा महान अपराध है और वह इस चेष्टा का हिंसा द्वारा भी मुकाबला करने के लिए तत्पर हो जाता है। अपने अधिकारो की माग करते हुए मनुष्य प्राय: यह मानता है कि वह उस वस्तु को मूल्यवान नही समझता, जिसको प्राप्त करना उसका अधिकार है, अपितु वह उस सिद्धात को असगत समझता है, जो उसके अधिकार को मान्यता नही देता। जब एक श्रमजीवी अपने अधिकार की माग करता है, उसका दृष्टिकोण यह होता है कि उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाए, जो सामान्य मानव से किया जाना चाहिए। श्रम को आर्थिक वस्तु नही समझ लेना चाहिए, क्योकि ऐसी धारणा मनुष्य को केवल यन्त्र समझती है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि केवल आत्मप्रकाशन एव अहकार के लिए ही अपने अधिकार पर बल दिया जाए। अपने अधिकार को स्वीकार कराने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उसे मानवता के आदर्श से सम्बन्धित किया जाए और वह आदर्श यही है कि मनुष्य

को सदैव एक उद्देश्य ही माना जाए। दूसरे शब्दों मे, मानवीय अधिकार एक ऐसी वस्तु है जो स्वाभाविक तथा स्वयसिद्ध है। इसको मान्यता दिलाने के लिए तर्क-वितर्क की आवश्यकता नही रहती। अत नैतिक अधिकार एक ऐसा अधिकार है, जोकि मनुष्य के नैतिक उद्देश्य से तथा मनुष्य के समाज से सम्बन्धित रहने से अनुमानित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमारा यह अधिकार है कि हमे नैतिक जीवन व्यतीत करने की अनिवार्य उपाधिया उपलब्ध हो, अर्थात् हमे वे मूल्य उपलब्ध हो जो सम्पूर्ण आत्मानुभूति मे निहित होते हैं। हमे सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक जीवन एक ऐसे व्यक्ति का जीवन है, जिसका स्वभाव ऐसा है कि उसके शुभ एव उसके मूल्य को, समाज के शुभो तथा मूल्यो से पृथक् नही किया जा सकता। बोसाके ने अपनी पुस्तक 'राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त' (The Philosophical Theory of the State) मे लिखा है, "हमारा उन साधनो को प्राप्त करने का अधिकार है, जोकि हमारे जीवन का ऐसा विकास करते है कि जिनके द्वारा उस समुदाय का उच्चतम शुभ प्राप्त हो सकता है, जिसका कि हम एक अश है।"[१] इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मानवीय अधिकार एक ऐसा स्वाभाविक अधिकार है, जो मनुष्य तथा समाज के अभिन्न सम्वन्ध तथा दोनो के कल्याण मे निहित है।

यदि नैतिक अधिकार, मनुष्य का एक समाज का सदस्य होने के नाते, नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के साधन का दूसरा नाम है, तो यह प्रमाणित होता है कि नैतिक अधिकार उन मूल्यो को प्राप्त करने का अधिकार है, जो सम्पूर्ण आत्मानुभूति की अनिवार्य उपाधियां होती हैं। दूसरे शब्दो मे, अधिकारो का मनुष्य के मूल्यो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत. अधिकारो की सूची प्रस्तुत करते समय हमें नैतिक अधिकारो का वैधानिक अधिकारो से सम्वन्ध भी स्थापित रखना पड़ेगा। नैतिक दृष्टि से अधिकारो को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभक्त किया जाता है .

(१) स्वाभाविक अथवा नैतिक अधिकार (Natural or Moral rights)
(२) नागरिक अधिकार (Civil rights)
(३) राजनीतिक अधिकार (Political rights)

सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि स्वाभाविक अधिकार वे अधिकार हैं, जोकि मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते प्राप्त होते हैं। मनुष्य की विशेषता यही है कि वह स्वभाव से सत्-असत् और शुभ-अशुभ मे विवेक कर सकता है। अत इस विवेक के आधार पर मूल्यो को अपनाने का अधिकार मानव का जन्मसिद्ध एव स्वाभाविक अधिकार स्वीकार किया जाता है। मनुष्य के नागरिक अधिकार उसके उस वातावरण की देन

---

१. "We have a right to the means, that are necessary to the development of our lives in the direction of the highest good of the community of which we are a part."
—B Bosanquet : The Philosophical Theory of the State.

है, जिसे सामाजिक एव नागरिक वातावरण कहा जा सकता है। मनुष्य जन्म से ही एक सभ्य समाज का सदस्य होता है और इस सदस्यता के नाते, एक सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए उसके कुछ अधिकार होते है। ये सभी अधिकार, नागरिक अधिकार कहलाते है। इसी प्रकार मनुष्य न ही केवल एक सभ्य समाज का सदस्य होता है, अपितु वह एक राज्य अथवा राजनीतिक सस्था का भी सदस्य होता है। इस सदस्यता के नाते राजनीतिक व्यवस्था मे योग देने के लिए, जो अधिकार मनुष्य के लिए आवश्यक है, वे राजनीतिक अधिकार कहलाते है।

स्वाभाविक अथवा नैतिक अधिकार

स्वाभाविक अधिकारो का सिद्धान्त अठारहवी शताब्दी मे तथा उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे विचारको के मतभेद का कारण था। स्वाभाविक अधिकारो के सिद्धान्तो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है · (१) स्वाभाविक अधिकार के वे सिद्धान्त, जो सामाजिक भागीदार के सिद्धान्त पर आधारित है, और (२) वे जो समाज के उद्देश्यात्मक सिद्धान्त पर आधारित है। प्रथम प्रकार के सिद्धान्त अधिकारो की व्याख्या को अधिकारो की उत्पत्ति से सम्बन्धित करते है और दूसरे प्रकार के सिद्धान्त उन्हे उद्देश्य एव लक्ष्य से सम्बन्धित करते है।

सामाजिक भागीदारी पर आधारित स्वाभाविक अधिकारो के सिद्धान्त इस तथ्य को मानकर चलते है कि समाज की उत्पत्ति, सामाजिक भागीदारी की धारणा से हुई। मनुष्य ने जब यह अनुभव किया कि वह अपने जीवन की सभी आवश्यकताओ को दूसरो के सहयोग के विना पूर्ण नही कर सकता, तो उसमे स्वाभाविक रूप से सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। इसी स्वाभाविक सहयोग की भावना पर ही ऐसे समाज का निर्माण हुआ, जिसमे कि मनुष्य ने कुछ आवश्यकताओ का त्याग किया और उसके बदले मे समाज के अन्य सदस्यो से कुछ आवश्यकताओ को प्राप्त किया। इस प्रकार समाज एक स्वाभाविक उत्पत्ति होने के कारण अधिकारो को जन्म देता है। वे अधिकार जो मनुष्य को इस स्वाभाविक अवस्था मे प्राप्त होते है, वे उसके स्वाभाविक अधिकार है। क्योकि ये अधिकार मनुष्य को उसकी स्वाभाविक अवस्था से प्राप्त है, इसलिए इन्हे समाज से स्वतन्त्र माना जाता है। फिर भी हमे यह मानना पडेगा कि ये अधिकार समाज के ढाचे मे निहित है और समाज की आधारभूत मान्यताए है। इसका कारण यह है कि समाज का निर्माण इन अधिकारो पर चिन्तन करने के पश्चात् तथा इस विचार के पश्चात् हुआ कि इनकी रक्षा किस प्रकार की जाए। विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक लॉक का कहना है कि नियम एवं विधान एक ऐसा सामान्य सिद्धान्त है, जोकि तर्क के द्वारा ढूढा जाता है। दूसरे शब्दो मे, वे नियम जोकि हमारे स्वाभाविक अधिकारो की रक्षा करने के लिए वनाए जाते हैं, पहले से ही उपस्थित होते हैं। यदि वे पहले से उपस्थित न होते, तो वे मनुष्यो को समाज का निर्माण करने के लिए प्रेरित न करते। लॉक का कहना है कि मानव का यह स्वाभाविक

अधिकार है कि वह अपना सकल्प दूसरो द्वारा स्वीकार कराए, किन्तु उसकी यह भी स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह शान्ति की खोज करे तथा उसे जीवन मे अपनाए। शान्ति की इस इच्छा को तृप्त करने के लिए अपने सकल्प को दूसरे के द्वारा स्वीकार कराने के अधिकार को त्याग देना पडता है। यह प्राय देखा गया है कि मनुष्य उन सभी अधिकारो का त्याग कर देते है, जो मानव-मात्र की शान्ति के मार्ग मे बाधक होते है।

विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक लॉक भी यह स्वीकार करता है कि प्रकृति की अवस्था मे ही मनुष्य को अधिकार प्राप्त होते है और समाज का निर्माण इन्ही स्वाभाविक अधिकारो की सुरक्षा के लिए होता हैं। उसकी यह धारणा है कि समाज मे प्रविष्ट होने से मनुष्य के ये अधिकार नष्ट नही हो जाते और वे अधिकार समाज स्वय बनाए रखता है। लॉक इन स्वाभाविक अधिकारो को निम्नलिखित चार प्रकार के अधिकार मानता है :

(१) जीवित रहने का अधिकार
(२) स्वास्थ्य का अधिकार
(३) स्वतन्त्रता का अधिकार
(४) सम्पत्ति का अधिकार

स्वाभाविक अधिकारो का सबसे बडा समर्थक टॉम पेन हुआ है। उसके अनुसार भागीदारी ही समाज का आधार है। किन्तु यह भागीदारी (Contract) ऐसी भागीदारी नही है, जिसमे कि अधिकारो को बनाए रखने का पूरा आश्वासन दिया जाए। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति, अधिकारो के सम्बन्ध मे, स्वतन्त्र तथा समान है। राजनीतिक सस्थाओ का उद्देश्य तो यही है कि उनमे मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार सुरक्षित रहे और ये अधिकार निम्नलिखित हैं. स्वतन्त्रता (Liberty), सम्पत्ति (Property), सुरक्षा (Security) तथा हिंसा का विरोध (Resistence of oppression)।

स्वतन्त्रता का अर्थ किसी कर्म को करने की वह शक्ति है, जो किसी दूसरे को हानि नही पहुचाती। पेन का कहना है कि वह अपने सिद्धान्त को सामाजिक भागीदारी के सिद्धान्त पर आधारित इसलिए नही करता, क्योकि कोई भी पीढी, आनेवाली पीढियो को उस भागीदारी एव सन्धि पर चलने पर बाध्य नही कर सकती, जोकि वह वर्तमान समय मे कार्यान्वित करती है। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक पीढी को इस बात की स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह अपनी परिस्थितियो के अनुसार ही सामाजिक मूल्यो को निर्धारित करे और अपना ही विधान बनाए। यद्यपि पहली पीढियो द्वारा बनाए गए नियम प्रायः आनेवाली पीढ़ियों द्वारा स्वीकार किए जाते हैं, तथापि वे वर्तमान पीढी द्वारा ही शक्ति प्राप्त करते हैं। पेन यद्यपि सामाजिक भागीदारी के सिद्धान्त को ऐतिहासिक दृष्टि से निर्मित नही मानता, किन्तु वह इस बात को स्वीकार करता है कि जो अधिकार मनुष्य समाज मे प्राप्त करता है, वे उन अधिकारो पर आधारित है, जोकि उसे समाज से स्वतन्त्र

रहने की अवस्था मे प्राप्त थे। पेन के शब्दो मे, "प्रत्येक नागरिक-अधिकार का आधार, मनुष्य मे पहले से स्थित कोई न कोई स्वाभाविक अधिकार है।"

स्वाभाविक अधिकारो के उपर्युक्त विभिन्न सिद्धान्त परस्पर-मतभेद रखते हुए भी, निम्नलिखित सामान्य लक्षण अभिव्यक्त करते है, जोकि नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय है

(१) यह बात स्वीकार की गई है कि ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य का अस्तित्व समाज से पूर्व था।

(२) नैतिक तथा तत्त्वात्मक दृष्टि से यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जोकि अपने सामान्य स्वभाव के कारण तथा विश्व की व्याख्या के कारण और उस कार्य के कारण, जोकि उसे इस व्यवस्थित विश्व मे करना है, विशेष अधिकार रखता है।

(३) वे अधिकार, जोकि समाज द्वारा उत्पन्न नही किए जाते, वल्कि मनुष्य द्वारा ही समाज मे लाए जाते हैं, समाज के निर्माण का कारण बनते है। दूसरे शब्दो मे, इन्ही अधिकारो की सुरक्षा के लिए ही समाज निर्मित होता है।

(४) यदि समाज का उद्देश्य मनुष्य को अधिकार प्राप्त कराना है और यदि वह ऐसा नही कर सकता, तो मनुष्य को अधिकार है कि वह विद्रोह करे। कुछ सिद्धान्त यह भी स्वीकार करते हैं कि विद्रोह करना मनुष्य का अधिकार नही है, क्योकि समाज का निर्माण सम्पूर्ण समाज के अधिकारो की सुरक्षा के लिए हुआ था, न कि किसी विशेष व्यक्ति अथवा परिस्थिति के लिए उपयोगी अधिकारो की प्राप्ति के लिए।

स्वाभाविक अधिकारो के ये सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से इसलिए महत्त्व रखते हैं कि उनमे निम्नलिखित तीन तत्त्व है

(१) समाज के अस्तित्व से पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का उपस्थित होना;
(२) समाज का निर्माण कराने के लिए एक भागीदारी के समझौते का उपस्थित होना,
(३) मनुष्य के उन अधिकारो का समाज मे उपस्थित होना, जोकि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य की धरोहर थे, और समाज द्वारा इन अधिकारो को वनाए रखने का उत्तरदायित्व सभालना।

यदि मनुष्य के ये अधिकार उसके मौलिक स्वभाव तथा मनुष्यता के मौलिक स्वभाव पर आधारित हैं और यदि इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि समाज की सफलता तथा उसकी प्रगति इन्ही अधिकारो पर निर्भर रही है तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन अधिकारो को नैतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना जाए। दार्शनिक दृष्टि से स्वाभाविक अधिकारो का सिद्धान्त उपयोगी होने के कारण मान्य है। इन अधि-कारो को इस दृष्टि से स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक भले ही न माना जाए कि वे जन्मजात है अथवा उसके भौतिक स्वभाव का अग है, किन्तु यह सत्य है कि वे मनुष्य के नैतिक

उद्देश्य मे निहित है और उसके नैतिक स्वभाव का अभिन्न अग है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते है कि उसके नैतिक व्यक्तित्व मे निहित है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सभी अधिकार, जिनमे कि जीवन का आधारभूत अधिकार भी सम्मिलित है, अर्जित अधिकार है। दार्शनिक आलोचना इस बात को स्वीकार नही करती कि मनुष्य इतिहास के किसी भी समय मे समाज से पृथक् था। इनका स्वाभाविक होना इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वे आत्मानुभूति की अनिवार्य उपाधिया है और नैतिक व्यक्तित्व की धारणा से अभिन्न है। दूसरे शब्दो मे, स्वाभाविक अधिकारो के सिद्धान्त को ऐतिहासिक आधार पर नही, अपितु तर्कात्मक आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर हम निम्नलिखित मानवीय अधिकारो की व्याख्या कर सकते है

(१) जीवित रहने का अधिकार (Right of life)
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of freedom)
(३) सम्पत्ति का अधिकार (Right of property)
(४) भागीदारी का अधिकार (Right to the fulfilment of contracts)
(५) शिक्षा का अधिकार (Right of education)

जीवित रहने का अधिकार

जीवन प्रकृति की देन है और एक विचारशील समाज इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। कोई भी व्यक्ति नैतिक उद्देश्य को तब तक प्राप्त नही कर सकता और न ही उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है, जब तक कि उसे यह विश्वास न हो कि उसका जीवन समाज मे सुरक्षित है। यह तो सत्य है कि सामाजिक कल्याण के लिए जीवन को त्याग देना सगत हो सकता है, किन्तु यह भी तभी सम्भव हो सकता है, जबकि व्यक्ति का जीवन बाहरी आपत्तियो से पहले सुरक्षित रखा गया हो। समाज का यह कर्तव्य है कि सभी व्यक्तियो को बिना किसी भेदभाव के अभयदान दे। शिशुओ को ऐसी परिस्थितियो मे रखना, जहा कि उनका जीवन सुरक्षित न हो, उन्हे जीवन के अधिकार से वचित करना है। कुछ असभ्य समुदायो मे जीवन का मूल्य नही होता। वास्तव मे जब तक विश्व मे युद्ध की प्रथा जारी रहेगी, तब तक मानव-समाज को पूर्णतया सभ्य तथा नैतिक स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि युद्ध मे मनुष्य का मूलभूत जीवन का अधिकार दमित किया जाता है। दूसरे विश्वयुद्ध मे अणुबम के प्रयोग के कारण, हिरोशिमा तथा नागासाकी मे असख्य शिशुओ, स्त्रियो तथा पुरुषो का क्रूरता से सहार किया गया और जीवन के अधिकार की खुलकर अवहेलना की गई। इसी अधिकार मे स्वास्थ्य तथा आजीविका प्राप्त करने के अधिकार निहित हैं। किन्तु ये दोनो अधिकार नैतिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिकार है, यद्यपि जीवन के अधिकार से इनका अभिन्न सम्बन्ध है।

स्वतन्त्रता का अधिकार

नैतिक दृष्टि से इस अधिकार का अर्थ सकल्प की स्वतन्त्रता है, क्योकि इस स्वतन्त्रता के बिना नैतिक उत्तरदायित्व निरर्थक सिद्ध हो जाता है। हमने यह पहले ही स्वीकार किया है कि नैतिकता मे सकल्प की स्वतन्त्रता निहित है। अत प्रत्येक व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य की अनुभूति के लिए अपने सकल्प का प्रयोग करने मे सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से स्वतन्त्रता के अधिकार को जीवन के अधिकार के पश्चात् ही स्वीकार किया गया है। उदाहरणस्वरूप, युद्ध के बन्दियो का सहार करने की प्रथा का अन्त करने के पश्चात् भी, दासता की प्रथा जारी रही और अमरीका मे दासता की प्रथा का अन्त करने के लिए सशस्त्र युद्ध का प्रयोग करना पडा। आज भी पूजीवादी समाज मे, आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, अनेक विद्वान व्यक्ति भी अपनी स्वतन्त्रता बेच देते है। इसी प्रकार साम्यवादी राष्ट्रो मे सकल्प तथा विचार की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नही है। ऐसे समाज मे व्यक्ति को एक यन्त्र के पुर्जे के समान समझा जाता है। यह तो सत्य है कि व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती और न ही ऐसी स्वतन्त्रता को किसी भी सभ्य समाज का लक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है। यदि सभी लोग हर प्रकार से स्वतन्त्र हो जाए और स्वार्थसिद्धि मे ही प्रवृत्त हो जाए, तो न वे अपने स्वार्थ को प्राप्त कर सकेगे और न ही समाज मे कोई व्यवस्था रह सकेगी। स्वतन्त्रता के अधिकार का अर्थ वह अधिकार है, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन का उस सीमा तक स्वतन्त्र विकास हो सके, जिसमे कि सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा मे बाधा न पडे।

सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति एव परिग्रह (Possession) का अधिकार वह अधिकार है, जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने तथा अपनी आवश्यकताओ के अनुसार उसका प्रयोग करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वास्तव मे सम्पत्ति का अधिकार भी स्वतन्त्रता के अधिकार का एक अग है। सम्पत्ति एव अर्थ वास्तव मे हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन है, किन्तु जब तक यह साधन उपलब्ध न हो, हम नैतिक आदर्श की प्राप्ति भी नही कर सकते। यदि मनुष्य को अपनी सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार न हो, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसे सकल्प की स्वतन्त्रता भी नही है। नैतिक दृष्टि से सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ यह है कि इस स्वतन्त्रता को जीवन के स्वतन्त्र विकास का साधन बनाया जा सकता है। इस अधिकार का सम्बन्ध इस प्रकार जीवन के अधिकार से है। भारतीय आचार-दर्शन मे भी अर्थ एव सम्पत्ति को मानसिक तृप्ति, शारीरिक विकास तथा धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन माना गया है।

सम्पत्ति के अधिकार को सम्भवतया समाज मे आरम्भ से ही स्वीकार किया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि इस अधिकार का समाज मे दुरुपयोग हुआ है और हो भी

रहा है। मनुष्य मे सचय की मूल प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जिस व्यक्ति मे यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र रूप मे उपस्थित होती है, वह लोभवश दूसरो के अधिकार की अवहेलना करके और हर प्रकार से दूसरो का शोषण करके भी अर्थ का संचय करता है। आधुनिक युग एक आर्थिक युग है और इस युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक समस्याए आर्थिक जटिलताओ की देन हैं। यद्यपि पूजीवादी राष्ट्रो मे सम्पत्ति की स्वतन्त्रता है, तथापि वहा मानव के श्रम का शोषण होता है। साम्यवाद, सम्पत्ति के अधिकार पर आवश्यकता से अधिक वल देता है और पूजीवाद के दोष को दूर करने की चेष्टा करता है। वह शोषक तथा शोषित के सघर्ष को मिटाने की चेष्टा मे सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानकर, राष्ट्रीय घोपित करता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका उपभोग करने का अधिकार देता है, किन्तु साम्यवादी समाज मे न तो व्यक्ति को विचार तथा सकल्प की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और न ही वह अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति एव अर्थ का सचय कर सकता है। इस प्रकार सम्पत्ति का उपभोग करने मे सीमित अधिकार प्राप्त करके व्यक्ति अपनी निजी स्वतन्त्रता को खो देता है। इस प्रकार की सम्पत्ति-सम्वन्धी स्वतन्त्रता भी वास्तव मे स्वतन्त्रता नही है। प्रजातन्त्रीय देशो मे निस्सन्देह सम्पत्ति की स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है। इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग का प्रतिकार ढूढना नितान्त आवश्यक है। किन्तु जो प्रतिकार साम्यवाद द्वारा स्वीकार किया गया है, वह नैतिक नही माना जा सकता। इसका प्रतिकार वाह्यात्मक दवाव न होकर आन्तरिक प्रेरणा तथा समाज में नैतिक क्रान्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। भारत में गान्धीजी के पट्टशिष्य, विनोवा भावे ने भूदान-यज्ञ के नाम से जिस आन्दोलन को चलाया है, वह सम्पत्ति के अधिकार के दुरुपयोग को हटाने का एक सुन्दर उपाय है।

भागीदारी का अधिकार

भागीदारी एव अन्य लोगो से किए गए समझौते को पूरा कराने का अधिकार, व्यक्ति तथा समाज के जीवन मे विशेप महत्त्व रखता है। इसमे कोई सन्देह नही कि यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का काम करने के लिए उससे समझौता करता है, तो उस व्यक्ति का, जिसका कि काम किया जाना है, यह अधिकार हो जाता है कि वह इस समझौते को पूरा कराए। इस अधिकार का महत्त्व आधुनिक औद्योगिक युग मे और भी वढ जाता है। श्रमजीवी तथा उद्योगपतियो का सहयोग तभी हो सकता है, जव दोनो ओर से उस समझौते की शर्तें यथार्थ रूप से पूरी की जाए, जिसके आधार पर श्रमजीवी श्रम करते हैं और उद्योगपति उसके वदले मे उन्हे आर्थिक सुविधाएं देते हैं। इस अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आजकल प्रत्येक प्रगतिशील राज्य मे श्रम-निर्णायक (Labour tribunal) नियुक्त किए जाते हैं, जो उद्योगपतियो तथा श्रमजीवियो के परस्पर-कलह का निर्णय करते हैं और इस वात का ध्यान रखते हैं कि दोनो पक्षो के भागीदारी-सम्वन्धी अधिकार सुरक्षित रहे। इस अधिकार के विपय मे यह कह देना भी आवश्यक है कि जहा प्रत्येक

व्यक्ति को अपनी भागीदारी के अधिकार को बनाए रखने की स्वतन्त्रता है, वहा जन-साधारण से यह भी आशा की जाती है कि वे इस प्रकार के समझौते करे, जो संगत और विवेक के अनुसार हो । इस प्रकार भागीदारी के अधिकार का उपयोग एक उच्च रूप से विकसित समाज मे ही सम्भव हो सकता है ।

शिक्षा का अधिकार

हमने अधिकारो की सूची मे शिक्षा के अधिकार को अन्तिम स्थान इसलिए दिया है, क्योकि व्यवस्थित शिक्षा की प्रणाली एक अत्यन्त उत्कृष्ट समाज मे ही उपस्थित हो सकती है और किसी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार की सुरक्षा कोई सरल कार्य नही है। कुछ रूढिवादी समाजो मे तो शिक्षा को हानिकारक माना जाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जब प्रत्येक व्यक्ति जन्म से समान है, जब सभीको जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा भागीदारी के अधिकार समान रूप से प्राप्त है, तो कोई कारण नही कि सब व्यक्तियो को शिक्षित होने का समान अवसर न दिया जाए। शिक्षित व्यक्ति का अधिकार उसके उत्तरदायित्व से इतना घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है कि यह कहना कठिन है कि शिक्षित होना अधिकार है अथवा कर्तव्य । इसमे कोई सन्देह नही कि शिक्षा तर्कात्मक व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य है। मानव के इस अधिकार को प्राप्त कराने मे आधुनिक समय मे भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यदि कोई देश अपने देशवासियो मे शत-प्रतिशत साक्षरता के लक्ष्य को भी प्राप्त कर ले, तब भी यह नही कहा जा सकता कि उस देश के सभी व्यक्तियो को शिक्षा का अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त है। उसका कारण यह है कि उच्चतम स्तर की विशेष प्रकार की शिक्षा, समृद्धिशाली देशो मे भी जनसाधारण को देना सम्भव नही है। इस सम्बन्ध मे केवल इतना कहा जा सकता है कि एक सुव्यवस्थित राज्य मे, प्रत्येक व्यक्ति के लिए, अधिक से अधिक सुविधाओ की प्राप्ति के लिए, मनुष्य के विकास के साधन उपस्थित होने चाहिए ।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार

नागरिक अधिकारो तथा राजनीतिक अधिकारो का हमारी दृष्टि से विशेष महत्त्व नही है, फिर भी इन अधिकारो की सक्षिप्त व्याख्या उपयोगी सिद्ध होगी। हम यह कह सकते हैं कि मुख्य नागरिक अधिकार दो हैं (१) भागीदारी एव समझौते की स्वतत्रता, तथा (२) अभियोग के लिए न्यायालय प्रयोग करने का अधिकार। इन दो अधिकारो के अतिरिक्त सभाओ, समितियो आदि समुदायो की स्थापना तथा उनकी सदस्यता का अधिकार भी मुख्य नागरिक अधिकार हैं। वास्तव मे ये सभी अधिकार भागीदारी की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत है। भागीदारी का अधिकार इतना व्यापक है कि उसमे हर प्रकार की भागीदारी सम्मिलित हो जाती है, चाहे वह आर्थिक भागीदारी हो और चाहे विवाह जैसी सामाजिक भागीदारी। आधुनिक समाज मे स्वयसेवी सस्थाओ (Voluntary

associations) को वैधानिक रूप दे दिया गया है और इनका उद्देश्य सदस्यो की अवस्था को हर प्रकार से सुधारना होता है। ये नागरिक अधिकार वास्तव मे जीवित रहने तथा स्वतन्त्रता के दो स्वाभाविक अधिकारो मे निहित माने जाने चाहिए।

आधुनिक प्रजातन्त्र के युग मे मतदान देना तथा अधिकार का पद प्राप्त करने के दो मुख्य आधार राजनीतिक अधिकार माने जाते है। राजनीतिक अधिकार निस्सन्देह आधुनिक युग की देन है। इनकी व्यापकता का विस्तार धीरे-धीरे हुआ है। इस शताब्दी के आरम्भ मे कुछ देशो मे स्त्रियो को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही थे, यद्यपि उन्हे नैतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। किन्तु उन्हे राजनीतिक अधिकार इसलिए नही दिए गए थे कि उन्हे राज्य की रक्षा के लिए सशस्त्र होने के कर्तव्य के योग्य नही समझा जाता था। किन्तु युद्ध की आधुनिक विधियो ने मनुष्य के इस दृष्टिकोण को बदल दिया है और प्राय विश्व के प्रत्येक देश मे स्त्रियो को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त है।

हमने स्वाभाविक एव नैतिक अधिकारो की पर्याप्त व्याख्या की है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मानव के सभी अधिकार समाज के निर्माण से उत्पन्न होते हैं और उनका महत्त्व भी समाज की अपेक्षा से ही होता है। इन अधिकारो के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि इनका महत्त्व किसी व्यक्ति-विशेष के परम्परागत अधिकार होने के कारण नही है, अपितु एक मानवीय आदर्श होने का कारण है। जब हम किसी अधिकार को मानवीय आदर्श मे निहित होने की अपेक्षा व्यक्ति-विशेष मे निहित मान लेते है, तो वह अधिकार, अधिकार नही रहता। इसके विपरीत जब हम उसे मानवीय आदर्श की उत्पत्ति स्वीकार करते है, तो उसकी व्यापकता अधिक स्पष्ट होती है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि अधिकार का सम्बन्ध समाज से है और इसका विकास संस्थाओ के ऐतिहासिक विकास पर निर्भर है। इस दृष्टि से नैतिक अधिकारो को स्वाभाविक अधिकार घोषित करने का उद्देश्य सामाजिक उद्देश्यों की अपेक्षा व्यक्तिगत उद्देश्य को अधिक महत्त्व देना है। इसमे कोई सन्देह नही कि अधिकार का महत्त्व व्यक्ति तथा समाज दोनो के लिए समान है। अधिकार अधिकतर व्यक्ति के हित के लिए होता है और वह व्यक्ति का ही होता है। किन्तु हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि व्यक्ति का अस्तित्व पूर्णतया समाज पर निर्भर है और अधिकार पूर्णतया व्यक्ति मे निहित नही माने जा सकते। यदि हम अधिकारो के आरम्भ के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हम देखेंगे कि समाज के आदिकाल मे व्यक्तिगत अधिकारो की अस्पष्ट भावनाएं इसलिए उत्पन्न हुई थी, क्योकि व्यक्ति अपने-आपको जाति का सदस्य होने के नाते अधिकारी मानता था। प्राचीनतम जातियो मे आजीविका प्राप्त करने की भावना अस्पष्ट रूप से उपस्थित दिखाई देती है और यह भावना व्यक्ति के व्यक्तित्व से उत्पन्न नही हुई, अपितु उसके जाति के सदस्य होने के कारण उत्पन्न हुई दिखाई देती है। समाजशास्त्रियो की खोजो से यह प्रतीत होता है कि अधिकारो की भावना की उत्पत्ति व्यक्ति के कारण नही है, अपितु एक सामाजिक उत्पत्ति है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते है कि अधिकार व्यक्ति मे उपस्थित होते हुए भी वास्तव

मे समाज से सम्बन्ध रखते है और व्यक्ति तथा समाज के आदान-प्रदान का मुख्य आधार है। समाज व्यक्ति के अधिकारो को इसलिए स्वीकार करता है कि व्यक्ति इन अधिकारो के द्वारा आत्मविकास करके समाज के विकास मे सहायक हो सकता है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति के अधिकार तभी अधिकार माने जा सकते है, जब वह किसी समाज का सदस्य होता है। समाज तभी समाज माना जा सकता है, जब उसके सदस्यो के विकास के लिए एव सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यक्तियो को कुछ अधिकार प्राप्त होते है। समाज तथा व्यक्ति के इस सम्बन्ध के आधार पर ड्यूई तथा टफ्ट्स ने अधिकारो की परिभापा इस प्रकार दी है, "अधिकार वे सुविधाए है, जोकि उस समाज द्वारा स्वीकार की जाती है, जोकि उत्तम जीवन के प्रोत्साहन के लिए अनुकूल वातावरण बनाए रखने की आधारभूत सत्ता को अपने हाथ मे रखता है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि अधिकार निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज समय-समय पर सामाजिक विकास के अनुसार आधारो की धारणा मे परिवर्तित होता रहा है। यदि हम तटस्थ दृष्टि से आधारो के विकास का अध्ययन करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि स्वाभाविक अधिकारो मे भी सापेक्षता उपस्थित है। प्राचीनतम लोगो मे हमे अनेक ऐसी रीतिया मिलती है जो जीवन के निरपेक्ष आधार की भी अवहेलना करती है। कुछ प्राचीन समाजो मे, शिशुओ को भय-जनक परिस्थितियो मे रखना, वृद्धो की हत्या करना तथा पत्नियो तथा शिशुओ के जीवन-मरण के अधिकार को अपने हाथ मे रखना, न ही केवल रीतिया मानी जाती है, अपितु पुरुषो के मुख्य कर्तव्य स्वीकार किए जाते है।

इसके अतिरिक्त अधिकारो की क्रियाशीलता भी विशेष परिस्थितियो के अधीन होती है और इस प्रकार अधिकार सदैव सापेक्ष प्रमाणित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, नागरिकता के अधिकार तथा राजनीतिक अधिकार विशेष प्रकार की राज्य-प्रणाली तथा विशेष परिस्थितियो पर निर्भर रहते है। भागीदारी की स्वतन्त्रता का अधिकार भी जनता की नीति तथा समाज की भलाई के विरुद्ध नही हो सकता। एक पुरुष किसी स्त्री से विवाह का समझौता कर सकता है, किन्तु यदि उस समझौते मे यह शर्त हो कि उनका विवाह मधुमिलन मे परिवर्तित नही होगा, तो उन दोनो के लिए कोई भी ऐसे अधिकार नही रह जाते कि जिनकी रक्षा की जाए। न्यायालयो ने ऐसी परिस्थितियो मे ऐसे समझौतो को अवैध घोषित किया है, क्योकि इस प्रकार के समझौते विवाह की प्रथा के विरुद्ध है और जनहित के विपरीत है। इन उदाहरणो का अभिप्राय यह है कि ये अधिकार उन उपाधियो तथा सस्थाओ के उद्देश्यो के अन्तर्गत हैं, जिनसे कि इनका व्यावहारिक सबध रहता है।

---

१. "Rights are claims, recognized by society acting as ultimate authority to the maintenance of conditions favourable to the best life" —Ethics by Dewey and Tufts, Page 188.

अधिकारो की सापेक्षता का सामाजिक और नैतिक महत्त्व है। यह सापेक्षता हमे समाज की ओर हमारे कर्तव्यो के प्रति चैतन्य करती है। जो व्यक्ति यह मानकर चलता है कि अधिकार हमारी जन्मजात सम्पत्ति है और जो इन्हे निरपेक्ष मानता है, वह समाज की अवहेलना करके भी इन अधिकारो को प्राप्त करना न्यायसंगत मानेगा। यह तो सत्य है कि अधिकारो की रक्षा वाछनीय है, किन्तु जो समाज अधिकारो को स्वीकार करता है, हम अपने अधिकारो को उसीके विरुद्ध प्रयोग मे नही ला सकते। यदि हम अधिकारो को सापेक्ष न मानकर चले, तो न तो समाज की प्रगति हो सकती है और न ही व्यक्ति का विकास सम्भव हो सकता है। हमारे अधिकार चाहे नैतिक हो, चाहे नागरिक और चाहे राजनीतिक, हर अवस्था मे व्यावहारिक अधिकार है और इस दृष्टि से वे सदैव सापेक्ष हैं। समाज तथा व्यक्ति के विकास मे नवीन परिस्थितिया उत्पन्न होती रहती हैं और वे सदैव नवीन अधिकारो और नवीन उत्तरदायित्व को जन्म देती रहती हैं; अत हम अधिकारो को कदापि निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील नही मान सकते। एक ओर तो अधिकार सामाजिक परिस्थितियो और समाज पर आधारित हैं और दूसरी ओर उनका सम्बन्ध कर्तव्यों से है। जब समाज व्यक्ति को कुछ सुविधाए देता है, तो वह उससे यह आशा रखता है कि वह व्यक्ति इन सुविधाओ का दुरुपयोग नही करेगा और अपने अधिकारो से लाभ उठाता हुआ समाज तथा अन्य व्यक्तियो के प्रति कर्तव्यपरायण रहेगा। अधिकारो की धारणा कर्तव्यो की धारणा के विना अस्पष्ट तथा निरर्थक सिद्ध होती है। इससे पूर्व कि हम अधिकारो की प्राप्ति को न्यायसगत वताने की चेष्टा करे, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम कर्तव्यो की व्याख्या करे।

ग्यारहवां अध्याय

मानवीय कर्तव्यों का स्वरूप

(The Nature of Human Duties)

मानवीय अधिकारो की व्याख्या करते हुए हमने यह धारणा प्रस्तुत की थी कि अधिकार इसलिए नैतिक महत्त्व रखते है कि उनके बिना न तो मनुष्य को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है और न वह नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि अधिकार मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व का साधन है और वह उत्तरदायित्व ही उनका उद्देश्य है। जहा स्वतन्त्रता है, वहा नियमितता भी है और जहा अधिकार है, वहा पर उत्तरदायित्व एव कर्तव्य भी आवश्यक है। अधिकारो और कर्तव्यो का सम्बन्ध परस्पर इतना घनिष्ठ है कि वे अन्योन्याश्रित है। आचार-विज्ञान के सामने सबसे मुख्य प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हमारे लिए क्या करना उचित है, अर्थात् हमारा कर्तव्य क्या है। प्रत्येक व्यक्ति निस्सन्देह अपना यह कर्तव्य समझता है कि अशुभ की अपेक्षा, शुभ को ही अपनाना चाहिए। अत वह निरन्तर शुभ का निर्वाचन करता रहता है और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है। ऐसा निर्वाचन करते समय जो प्रश्न हमारे सामने होता है, उसे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है

"मुझे एक पशु होने के नाते नही, अपितु एक मानव तथा एक विकसित सुसस्कृत मानव होने के नाते कैसा व्यवहार करना चाहिए ?" इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर हम मानवीय कर्तव्यो के स्वरूप की व्याख्या के द्वारा ही दे सकते है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज से ही अधिकार प्राप्त होते हैं। अत यह स्पष्ट है कि उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि जिसके द्वारा वह उन अधिकारो का सदुपयोग करता हुआ अपना तथा समाज का निर्बाध विकास करे। उसका इस प्रकार का व्यवहार निस्सन्देह एक नियमित व्यवहार होगा एव उसका कर्तव्य होगा। किसी भी विशेष परि-स्थिति मे, जब वह इस प्रकार का नियमित व्यवहार करता है, तो वह अपने कर्तव्य का ही पालन करता है।

कर्तव्य एव उत्तरदायित्व की भावना उस समय प्रतिपादित होती है, जब मनुष्य के लिए शुभ को सुरक्षित रखने की समस्या खडी हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, मूल्य तथा उत्तरदायित्व मे एक अभिन्न तथा स्वयसिद्ध सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध ऐसा है कि जो विश्वव्यापी और अनिवार्य है। अत यह धारणा कि अशुभ की अपेक्षा शुभ का ही

अनुसरण करना चाहिए, एक स्वयसिद्ध धारणा है, जिसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही। मूल्य का निर्वाचन निस्सन्देह मनुष्य का परम कर्तव्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य का प्रसार मूल्यो के जगत् मे व्याप्त है। यदि हमारे मूल्यो का जगत् ही कर्तव्यो का जगत् है, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि हम कर्तव्यो की सूची बनाने के लिए मूल्यो की सूची का आश्रय ले । यह कर्तव्य की धारणा एक व्यापक धारणा है। हम यह जानते है कि कर्तव्य का सम्बन्ध हमारे व्यवहार से है और व्यवहार ही हमारा पूर्ण जीवन है। चाहे हमारा व्यवहार कला के क्षेत्र मे हो, चाहे सत्य की खोज के क्षेत्र मे और चाहे वह क्रियाशीलता मे हो, हर अवस्था मे वह व्यवहार ही है। दूसरे शब्दो मे, सत्य, शिव, सुन्दरम् के परम मूल्य, मनुष्य के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक, त्रिविध व्यवहार की अभिव्यक्ति है और उसीको प्रेरणा देते है। मनुष्य का परम कर्तव्य इन्ही उच्चतम मूल्यो की अनुभूति करना है और न्यून स्तर के मूल्यो को इनकी प्राप्ति का निमित्त बनाना है। यह परम कर्तव्य की धारणा महत्त्व तो अवश्य रखती है, किन्तु नैतिक दृष्टि से यह आवश्यकता से अधिक व्यापक है। जिस दृष्टि से हम आचार-विज्ञान मे कर्तव्यो की व्याख्या करना चाहते है, वह सापेक्ष दृष्टि है। उस दृष्टि से कर्तव्य को हम वह प्रवृत्ति मान सकते है, जिसके अनुसार, हम प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारो के प्रति आदर और सम्मान रखे और मानवीय मूल्यो को मान्यता दे।

नैतिक कर्तव्य को हम नियम की धारणा से सम्बन्धित कर सकते है। दूसरे शब्दो मे, कर्तव्य उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार कि विधान का नियम (Law) मान्य होता है। जिस प्रकार विधान के द्वारा, दूसरे लोगो के अधिकारो को क्रियात्मक रूप से प्रोत्साहित किया जाता है और उनकी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार कर्तव्य के द्वारा, नैतिक अधिकारो का सरक्षण होता है। इनका अन्तर केवल इतना है कि वैधानिक कर्तव्य, वैधानिक अधिकार से सम्बन्ध रखता है और नैतिक कर्तव्य, नैतिक अधिकार से। इस प्रकार किसी कर्तव्य के प्रतिपादित करने का अर्थ, किसी न किसी अधिकार को मान्यता देना है। यदि वह अधिकार राज्य से सम्बन्ध रखता है, तो हमारा कर्तव्य वैधानिक हो जाता है और यदि वह शुभ से सम्बन्ध रखता है, तो नैतिक हो जाता है। इसी प्रकार हमारा कर्तव्य व्यक्ति के प्रति भी हो सकता है और समाज के प्रति भी। नैतिक दृष्टि से कर्तव्य हर अवस्था मे अधिकारो से सम्बन्धित है। अत कर्तव्यो की व्याख्या करने से पूर्व कर्तव्यो तथा अधिकारो के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

कर्तव्यो तथा अधिकारो का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हमारे कर्तव्य अधिकारों के अनुसार ही होते हैं। किसी भी व्यक्ति के प्रति हमारा कर्तव्य, उस व्यक्ति के उचित अधिकार को देना है। हमारे समाज तथा सस्थाओ के प्रति कर्तव्य वे कर्तव्य हैं, जिनके द्वारा हम उनके उन अधिकारो को मान्यता देते है, जोकि एक शुभ जीवन के लिए अद्वितीय होते हैं। इस दृष्टि से आधारभूत कर्तव्यो को हम अधिकारो का सम्मान कह सकते हैं। ईसाई धर्म मे जिन दस आदेशो को कर्तव्य माना गया है, वे इसी प्रकार के कर्तव्य है।

कर्तव्य की यह सापेक्षता हमे इस वात पर विवश करती है कि हम कर्तव्यो की सूची अधिकारो की सूची के अनुरूप वनाए। प्रत्येक उचित अधिकार के साथ-साथ कर्तव्य इसलिए जुडा रहता है कि वह कर्तव्य उस अधिकार का सम्मान होता है। उदाहरण-स्वरूप, जव हम जीवित रहने के अधिकार को स्वीकार करते हैं, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने जीवन का तथा दूसरो के जीवन का सम्मान करे और ऐसे कर्म का निषेध करे जो इस अधिकार का अनादर करता है। दूसरे शब्दो मे, अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करना प्रत्येक मानव का जीवन-सम्वन्धी कर्तव्य हो जाता है। मनुष्य का यह कर्तव्य, न ही केवल उसके व्यक्तित्व तक सीमित है, अपितु वह उसके कुटुम्व, समाज, राष्ट्र तथा मानव-मात्र से सम्वन्ध रखता है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता का अधिकार हमे इस वात पर वाध्य करता है कि हम अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता को वनाए रखने की चेष्टा करें और उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा को अपना कर्तव्य मानें। इस दृष्टि से दूसरे व्यक्तियो को, चाहे वे हमारे परिवार के व्यक्ति हो, चाहे समाज के व्यक्ति हो, चाहे विश्व के व्यक्ति हो, अपने अधीन करना अथवा उन्हे दास वनाना इस कर्तव्य का विरोध करना है।

इसी प्रकार सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र भागीदारी के अधिकारो मे भी कर्तव्य निहित है। जव किसी व्यक्ति को सम्पत्ति के उपयोग करने का अधिकार दिया जाता है, तो उससे यह आशा की जाती है कि वह उसका दुरुपयोग नही करेगा और अपने विशेष कर्तव्यो को निभाने के लिए ही उसका प्रयोग करेगा। इसी प्रकार, जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से समझौता करता है, उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस समझौते के नियमो को भग न करे। जिस व्यक्ति की सम्पत्ति का उपयोग, अपने पड़ोसियो के लिए दु खमय सिद्ध होता है, ऐसी सम्पत्ति के उपयोग को अवैधानिक माना जाता है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र भागीदारी का अधिकार दिया जाता है, किन्तु इस अधिकार के साथ-साथ विधान मे यह कर्तव्य भी स्वीकार किया गया है कि ऐसे समझौतो के द्वारा भागीदारी स्थापित न की जाए, जोकि सार्वजनिक शुभ के विरोधी हो। इन तथ्यो से यह प्रमाणित होता है कि अधिकारो मे कर्तव्य निहित होते है।

अधिकारो तथा कर्तव्यो का सम्वन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्रत्येक कर्तव्य मे अधिकार निहित रहता है। कुछ लोग इस तथ्य को स्वीकार नही करते। इस वात मे सन्देह नही किया जा सकता कि किसी भी समाज मे कर्तव्य तो स्वीकार किए जाए, किन्तु उन कर्तव्यो से सम्वन्धित अधिकार स्वीकार न किए जाए। उदाहरणार्थ, कोई भी ऐसा समाज नही होगा जिसमे काम करने का कर्तव्य तो स्वीकार किया जाए, किन्तु उसके अनुरूप, उससे सम्वन्धित काम करनेका अधिकार स्वीकार न किया जाए। अन्ततोगत्वा, जहा पर इस प्रकार की असमानता एव विषमता होती है, वहा सामाजिक तथा राजनीतिक प्रतिकूलता के कारण असन्तुलन रहता है। नैतिक क्षेत्र मे, जो सवसे अधिक प्रगति हुई है, उसका

कारण अधिकारो तथा कर्तव्यो का परस्पर अन्योन्याश्रित होना ही है। नैतिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इस परस्पर-सम्बन्ध का उद्देश्य, नैतिक समरूपता अथवा अधिकारो तथा कर्तव्यो का सन्तुलन बनाए रखना है। अधिकारो तथा कर्तव्यो के इस परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या के पश्चात्, हम मुख्य कर्तव्यो की सक्षिप्त व्याख्या कर सकते है। कुछ नैतिक सिद्धान्तो मे तो कर्तव्य को ही एकमात्र नैतिक अधिकार माना गया है। किन्तु ये कर्तव्य तथा अधिकार, दोनो समान रूपसे महत्त्वपूर्ण स्वीकार किए जाने चाहिए। हमने अधिकारो की व्याख्या तो ऊपर की ही है, अत यहा पर केवल कर्तव्यो की व्याख्या करना आवश्यक है।

हम कर्तव्यो की परिभाषा करते हुए सर्वप्रथम जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करेगे। जीवन का आदर करना, जीवन के सम्बन्ध मे सबसे उत्तम आदेश है। इस कर्तव्य का सम्बन्ध जीवन-सम्बन्धी अधिकार से है। जब मनुष्य को जीवित रहने की स्वतन्त्रता है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह जीवन का आदर व सम्मान करे। इस कर्तव्य को ईसाई धर्म मे प्रतिपादित दस आदेशो मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है . "तुम्हे किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिए।"[1]

यह आदेश देखने मे तो निषेधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे वह एक विधेयात्मक कर्तव्य को अभिव्यक्त करता है। यह हमे केवल निष्क्रिय रहने के लिए ही प्रेरित नही करता, अपितु यह हमे आदेश देता है कि हमे अपने तथा दूसरो के जीवन की रक्षा करनी चाहिए। मनुष्य के लिए न ही केवल दूसरे व्यक्तियो का सहार करना, इस कर्तव्य की अवहेलना करना है, अपितु आत्महत्या भी इसी नियम के अनुसार अवांछनीय तथा अनैतिक घोषित की जाती है।

इस कर्तव्य का अर्थ केवल इतना ही नही है कि हम किसी अन्य जीव का शारीरिक विनाश न करे, अपितु इससे कुछ अधिक है। इस कर्तव्य के पालन करने मे, अपने जीवन की रक्षा करना तथा अपने-आपको अथवा किसी अन्य जीव को शारीरिक आघात न पहुचाना भी सम्मिलित है। जीवन के प्रति सम्मान के कर्तव्य की यदि व्याख्या की जाए, तो हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि केवल शारीरिक हिंसा का ही निषेध करना पर्याप्त नही है। इसके विपरीत, इस कर्तव्य का पालन करने का अर्थ मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, न किसी हिंसा का समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा करवाना है। दूसरे शब्दो मे, पूर्णतया अहिंसात्मक व्यवहार करना ही जीवन के सम्मान के कर्तव्य का पालन करना है। यदि मानव-मात्र इस कर्तव्य को निभाने की पूरी चेष्टा करे, तो अनेक सासारिक दुखो का अन्त हो सकता है और मानव-मात्र सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है। जब तक इस विश्व मे युद्ध को वाछनीय स्वीकार किया जाएगा और जब तक शस्त्रो के

---

१. "Thou shalt not kill"

प्रयोग से मानवीय हिंसा युद्ध मे सगत स्वीकार की जाएगी, तब तक मनुष्य को पूर्णतया सभ्य कहना इसलिए असगत होगा कि वह जीवन के सम्मान के कर्तव्य का पालन नही कर सकेगा। यह अहिंसात्मक कर्तव्य, देखने मे तो सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु यदि व्यक्ति केवल इसी कर्तव्य का आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमे नैतिकता के सभी गुण स्वत ही उपस्थित हो जाएगे। आगे चलकर हम देखेंगे कि अन्य सभी आधारभूत कर्तव्य वास्तव मे व्यापक दृष्टि से, इसी कर्तव्य के अधीन हो जाते हैं। जिस किसी भी कर्म के द्वारा हम किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानसिक अथवा शारीरिक आघात पहुचाते है, तो ऐसा करते समय हम जीवन के सम्मान के कर्तव्य की अवहेलना करते हैं। किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करना उसके मन को ठेस पहुचाना है और इस प्रकार एक हिंसात्मक प्रवृत्ति है। यही कारण है कि भारतीय आचार-विज्ञान मे अहिसा को अन्य सभी धर्मों अथवा कर्तव्यो की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि माना गया है और कहा गया है कि "अहिंसा परमो धर्म." अर्थात् "अहिसा परम धर्म है।"

स्वतन्त्रता का सम्मान

मनुष्य का दूसरे व्यक्तियो की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार करने का कर्तव्य उतना ही मान्य है, जितना कि जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य आदरणीय है। यह कर्तव्य भी मनुष्य को ऐसे व्यवहार करने के लिए निषेध करता है जिसके द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे बाधा पड़ती हो। हमारा कोई अधिकार नही कि हम अपने व्यवहार के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के जीवन के विकास मे बाधाए उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करने का अर्थ उसके जीवन के विकास मे बाधक होना है। अतः यह कर्तव्य जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यह हमे आदेश देता है कि हमे प्रत्येक व्यक्ति को निमित्त न मानकर, उसे स्वलक्ष्य ही मानना चाहिए। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही समान समझें, तो हम कदापि इस कर्तव्य की अवहेलना न करेंगे। मनुष्य को स्वतन्त्रता की दृष्टि से इसलिए समान स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा समान होती है। इसलिए स्वतन्त्रता के सम्मान एव समदृष्टि के आदेश का प्रतिपादन, न ही केवल मूसा के दस आदेशो मे उपलब्ध है, अपितु हिन्दू धर्म तथा इस्लाम मे भी उपस्थित है। भगवद्गीता मे स्पष्ट रूप से लिखा है, "आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति" अर्थात् "जो व्यक्ति सभी जीवो को अपने ही समान देखता है, वही वास्तव मे दार्शनिक है।" इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद ने अपने अन्तिम भाषण मे अपने अनुचरो को उपदेश देते हुए कहा, "अपने नौकरो से वैसा ही व्यवहार करो, जैसाकि तुम अपने-आपसे और अपने सम्बन्धियो से करते हो। उन्हे वैसे ही वस्त्र तथा वैसा ही भोजन दो, जैसाकि तुम स्वय ग्रहण करते हो, इत्यादि।" यह मानवीय कर्तव्य हर प्रकार की दासता, तानाशाही तथा मनुष्य के द्वारा मनुष्य का दुरुपयोग,

वेश्यावृत्ति आदि का निषेध करता है।

वास्तव मे, स्वतन्त्रता के सम्मान का कर्तव्य एक ऐसा आधारभूत कर्तव्य है, जिसके विना किसी भी प्रकार की वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रगति सम्भव नही हो सकती। विश्व के इतिहास मे जव-जव किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र ने उस कर्तव्य की अव-हेलना करके, अन्य व्यक्तियो अथवा राष्ट्रो की स्वतन्त्रता का दमन किया है, तव-तव विश्व मे युद्ध तथा क्रान्तिया घटित हुई है। इसमे कोई सन्देह नही कि मनुष्य ने धीरे-धीरे इस कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक कर्तव्य माना है। पश्चिम मे भी कुछ ही समय पूर्व दासो को सम्पत्ति स्वीकार किया जाता था और उनकी स्वतन्त्रता का दमन नैतिक माना जाता था। आज भी दक्षिणी अफ्रीका मे, वर्ण के आधार पर विषमता का व्यवहार सगत स्वीकार किया जा रहा है और काले वर्णवाले व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का दमन किया जा रहा है। यद्यपि अमरीका जैसे सुसस्कृत देश मे दासता की प्रथा का अन्त हो चुका है, तथापि वहा पर इस समय भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहा पर हब्शियो का प्रवेश वर्जित है। भारत मे स्वतन्त्रता से पूर्व शूद्र जातियो से विषमता का व्यवहार किया जाता था, किन्तु स्वतन्त्र भारत मे, विधान के द्वारा हर प्रकार की सामाजिक विषमता का अन्त कर दिया गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता को वनाए रखने के लिए और उसके स्वतन्त्रता के कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक वनाने के लिए 'सयुक्त राष्ट्रसंघ' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ की स्थापना की गई है। वर्तमान सुसस्कृत मानव, स्वतन्त्रता-सम्वन्धी कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक वनाने की सतत चेष्टा कर रहा है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि प्रत्येक क्षेत्र मे मनुष्य अपने इस कर्तव्य का शत-प्रतिशत पालन कर रहा है। पूजीवादी देशो मे अव भी धन के द्वारा राजनीतिक शक्ति तथा बुद्धि मोल ली जाती है। इसी प्रकार साम्यवादी राष्ट्रो मे विचार की स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है। जव मनुष्य अपने इस कर्तव्य को पूर्णतया अपना लेगा, तव ही विश्वव्यापी शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है।

चरित्र के प्रति सम्मान

अगला महत्त्वपूर्ण मानवीय कर्तव्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के चरित्र का सम्मान करना चाहिए। इस कर्तव्य का पहले दो कर्तव्यो से भेद यह है कि वे दोनो कर्तव्य निषेधात्मक है, जवकि यह कर्तव्य विधेयात्मक है। जीवन-सम्वन्धी कर्तव्य हमे हिंसा न करने का आदेश देता है और स्वतन्त्रता-सम्बन्धी कर्तव्य अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का दमन न करने का आदेश देता है। किन्तु चरित्र-सम्वन्धी कर्तव्य न ही केवल अन्य व्यक्तियो को क्षति पहुचाने का निषेध करता है, अपितु इस बात की विधि करता है कि हमे दूसरो के व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारा यह विधे-यात्मक कर्तव्य हमे प्रेरणा देता है कि हम अन्य व्यक्तियो के चरित्र का आदर करके, उनके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक सिद्ध हो। यह कर्तव्य वास्तव मे अन्य व्यक्तियों

की स्वतन्त्रता के दमन न करने के कर्तव्य की पुष्टि-मात्र है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह हमे अन्य व्यक्तियो के चरित्र के विकास मे सक्रिय योग देने की प्रेरणा देता है। जब हम किसी भी व्यक्ति के चरित्र का सम्मान करते है और उसके चरित्र के अनुसार उससे व्यवहार करते हैं, तभी हम उसे निमित्त न मानकर स्वलक्ष्य स्वीकार करते है। इस प्रकार की स्वीकृति एक विधेयात्मक और सक्रिय प्रयत्न है।

सम्पत्ति का सम्मान

सम्पत्ति के सम्मान का अर्थ, अन्य व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार करना है। यह कर्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्तव्य है, क्योकि यह हमे दूसरे व्यक्तियो की सम्पत्ति का अपहरण न करने का आदेश देता है। मूसा के दस आदेशो (Ten Commandments) मे जिस आदेश पर यह कर्तव्य आधारित किया जाता है, वह यह है, "तुम्हे चोरी नही करनी चाहिए।"[1]

इस कर्तव्य को विश्व के प्रत्येक सभ्य समाज तथा धर्म मे स्वीकार किया गया है। योग-दर्शन मे इसे अस्तेय, अर्थात् चोरी न करने का आध्यात्मिक अनुशासन माना गया है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध जीवन व्यतीत करे और सत्य तथा अहिंसा का पालन करे। जैन-दर्शन भी अस्तेय को एक महाव्रत स्वीकार करता है और उसे सत्य तथा अहिंसा के व्रतो पर आधारित मानता है। यदि अहिंसा का अर्थ किसी भी व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से मानसिक व शारीरिक क्षति न पहुचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण न करना अहिंसा का अग है। किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करना, निस्सन्देह उस व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक क्षति पहुचाना है और उसके व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करना है। इस प्रकार सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य, पहले तीन कर्तव्यो मे निस्सन्देह निहित है। यह कर्तव्य हमे आदेश देता है कि हमे किसी अन्य व्यक्ति के कल्याण से सम्बन्धित ऐसी वस्तुओ को नही चुराना चाहिए जोकि उसकी सम्पत्ति हैं, चाहे वे वस्तुए भौतिक वस्तुए हो, चाहे समय, ख्याति आदि जैसी अमूर्त वस्तुए। इस प्रकार यह कर्तव्य, अन्य व्यक्ति के चरित्र के सम्मान के कर्तव्य को भी प्रोत्साहन देता है। सम्पत्ति को न चुराने का आदेश केवल चोरी की निन्दा ही नही करता, अपितु इससे कुछ अधिक आदेश देता है। इसके अनुसार, हमे न ही केवल अन्य व्यक्तियो की सम्पत्ति का सम्मान रखना अपना कर्तव्य समझना चाहिए, अपितु अपनी तथा अन्य व्यक्तियो की सम्पत्ति के दुरुपयोग को निन्दनीय मानना चाहिए। इस प्रकार यह कर्तव्य हमे सदैव प्रयत्नशील होनेका आदेश देता है और हर प्रकार की अकर्मण्यता को निन्दनीय घोषित करता है।

आधुनिक युग मे इस कर्तव्य के पालन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसमे

---

१. "Thou shalt not steal."

कोई सन्देह नही कि इस समय विश्व के प्रत्येक देश मे तथा प्रत्येक राज्य मे, जनसाधारण का अपनी सम्पत्ति के प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य का पालन करेगा, किन्तु फिर भी आधुनिक सुसस्कृत मानव यह नही कह सकता कि आज विश्व मे सम्पत्ति का दुरुपयोग नही हो रहा। जैसाकि हमने ऊपर बताया है, सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य का अर्थ केवल चोरी करना ही नही, अपितु सम्पत्ति के दुरुपयोग का अन्त करना भी है। यह एक खेद की बात है कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सभ्य राष्ट्रो मे भी इस समय सम्पत्ति का दुरुपयोग होता है और उस दुरुपयोग की रोकथाम नही की जाती। आज जबकि विश्व एक कुटुम्ब हो गया है और जब विश्व के सभी राष्ट्र उस कुटुम्ब के सदस्य हैं, इस अवस्था मे आर्थिक विषमता का होना यह प्रमाणित करता है कि विश्व के कुछ राष्ट्र सम्पत्ति का दुरुपयोग करते हैं और अपने कर्तव्य की अवहेलना करते है। अमरीका जैसे समृद्ध राष्ट्र मे असंख्य मात्रा मे अन्न जला दिया जाता है, जबकि भारत तथा अन्य पिछडे हुए राष्ट्रो मे भूख की समस्या का समाधान नही हो पाता। अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य-समिति, जोकि सयुक्त राष्ट्रसघ की एक शाखा है, ऐसी समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न अवश्य कर रही है, किन्तु फिर भी विशेषकर उन पश्चिमीय राष्ट्रो के लिए, जोकि ईसाई धर्म के सिद्धान्तो को स्वीकार करते है, यह आवश्यक है कि वे मूसा के इस आदेश की ओर ध्यान दे और विश्व मे स्थायी शान्ति, सुख तथा समृद्धि स्थापित करने के लिए, अस्तेय के मानवीय कर्तव्य का दृढता से पालन करे। अत इस कर्तव्य के पालन करने का जितना महत्त्व आधुनिक युग मे है, वह सम्भवतया ऐतिहासिक दृष्टि से पहले कदापि नही था। इसका एक कारण यह भी है कि आज के युग मे जनसख्या पराकाष्ठा पर पहुच चुकी है और यदि सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण की ओर पर्याप्त ध्यान न दिया गया, तो सम्भवतया मानव-समाज अस्त-व्यस्त हो जाएगा। समाज की व्यवस्था को बनाए रखना भी एक मानवीय कर्तव्य है। अत. अब हम इस कर्तव्य की व्याख्या करेगे।

सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान

सस्था एव सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान रखने का कर्तव्य, समाज तथा व्यक्ति दोनो के अस्तित्व के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाज का सदस्य होने के नाते ही प्राप्त हैं। अत वह समाज, जोकि उसके अधिकारो का जनक है तथा रक्षक है, व्यक्ति से आशा रखता है कि वह सामाजिक सस्था के सरक्षण को अपना मुख्य कर्तव्य समझेगा। समाज के प्रति आदर एव सम्मान की भावना वह भावना है, जोकि व्यक्ति को परम्परागत प्रथाओ को भग करने से रोकती है, चाहे वे परम्पराए समाज की इकाई कुटुम्ब से सम्बन्ध रखती हो, चाहे वे सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हो तथा राज्य एवं राष्ट्र की सस्था से सम्बन्ध रखती हो। वर्तमान युग मे तो यह मानवीय कर्तव्य, सयुक्त राष्टसघ

जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से भी सम्बन्ध रखता है और हमे यह आदेश देता है कि हम विश्व को ही अपना कुटुम्ब समझे। भारतीय ऋषियो ने बहुत पहले मानव-समाज के सम्मान को अनुभव किया था और यह घोषणा की थी

"उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।"

अर्थात् "उदार चरित्रवाले व्यक्तियो के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी कुटुम्ब ही है।"

प्रथम दृष्टिपात से सम्भवतया ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह मानवीय कर्तव्य, जोकि व्यक्ति को समाज का एक अग-मात्र मानकर व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित पर बलिदान करने का आदेश देता है, प्राचीन सभ्यता से सम्बन्ध रखता है। प्राचीनकाल मे, नैतिकता का अर्थ समाज के रीति-रिवाजो मे अन्धविश्वास रखना, व्यक्तिगत सकल्प की स्वतन्त्रता का दमन करना और रूढिवादी परम्पराओ को ईश्वरीय आदेश मानना था। किन्तु आधुनिक युग मे, जबकि साम्प्रदायिक तथा रूढिवादी सामाजिक नैतिकता के स्थान पर वैयक्तिक तर्कात्मक नैतिकता को श्रेष्ठ मानकर, प्रत्येक व्यक्ति के सकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाता है, सामाजिक परम्पराओ की रूढिवादी प्रथाओ को सम्मान देना सर्वथा असगत प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि जिस प्रकार वर्तमान परिस्थितियां, सम्पत्ति के सम्मान के कर्तव्य को विशेष महत्त्व देती है, उसी प्रकार युग-धर्म हमे सस्था के सम्मान के कर्तव्य का निरन्तर पालन करने की प्रेरणा देता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक युग मे मनुष्य व्यक्तिगत रूप से पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है और वह अपने ही सकल्प द्वारा नैतिकता का अनुसरण करता है, न कि अन्धविश्वास से प्रेरित होकर। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि वह आज कुटुम्ब, सम्प्रदाय, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अभिन्न अग नही रहा। इसके विपरीत, जैसा-कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, वर्तमान समय मे विश्व नि सन्देह एक कुटुम्ब बन गया है। वैज्ञानिक उन्नति तथा यातायात के तीव्रतम आविष्कृत साधनो के कारण आज हम कुछ ही क्षणो मे विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक सम्पर्क स्थापित कर सकते है। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी कोई भी विश्व की घटना ऐसी नही है, जिसका सम्बन्ध केवल एक राष्ट्र अथवा देश से ही हो। यही कारण है कि पिछले दो महा-युद्धो मे प्राण तथा सम्पत्ति की हानि, विश्व के एक या दो राष्ट्रो तक ही सीमित नही रही, अपितु यह हानि मानव-मात्र की हानि प्रमाणित हुई है। ऐसी अवस्था मे, जबकि एक राष्ट्र की उन्नति तथा अवनति का अर्थ विश्व की उन्नति तथा अवनति है, विश्व को एक कुटुम्ब स्वीकार करने की आवश्यकता और भी बढ जाती है। यही कारण है कि पिछले विश्वयुद्ध मे जितनी अधिक भयकरता और जितनी अधिक मानवीय क्षति उप-स्थित हुई, उतनी ही अधिक तीव्र और उग्र प्रेरणा ने विश्व के नेताओ को अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्थापित करने और मानव-मात्र की सुरक्षा करने के लिए प्रेरित किया। अत वर्त-मान परिस्थितिया हमे बाध्य करती है कि हम सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान रखने

के कर्तव्य को पूर्णतया निभाएं। इस कर्तव्य का पालन करने के लिए सर्वोत्तम नियम यह है कि कुटुम्ब के हित को व्यक्तिगत हित की अपेक्षा, समुदाय के हित को कौटुम्बिक हित की अपेक्षा, राष्ट्रीय हित को समुदाय के हित की अपेक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय हित को राष्ट्र-विशेष के हित की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझा जाए। हम इस नियम की व्याख्या तो आगे चलकर करेंगे, यहा केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने का कर्तव्य आज भी एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

सत्य के प्रति सम्मान

अभी तक हमने जितने कर्तव्यो की व्याख्या की है, वे सभी ठोस तत्त्वों से और ठोस जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु सत्य के प्रति सम्मान रखने का कर्तव्य, प्रथम दृष्टि से एक अमूर्त तत्त्व से सम्बन्धित प्रतीत होता है, क्योकि सत्य को प्राय. एक तत्त्वात्मक धारणा ही माना जाता है। किन्तु थोडा-सा चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य न ही केवल एक तत्त्वात्मक धारणा है, अपितु वह एक ऐसी नैतिक क्रियाशीलता है जो व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। इस-लिए भारतीय दर्शन मे सत्य और अहिसा को साथ लिया जाता है और उनके आचरण को, आत्मानुभूति और सामाजिक कल्याण का एकमात्र साधन स्वीकार किया जाता है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान मे भी, सत्य के सम्मान का अर्थ, सत्य को व्यवहार का आधार मानना है। इस कर्तव्य को निम्नलिखित धार्मिक आदेश से सम्बद्ध किया जाता है, "तुम्हे झूठ नही बोलना चाहिए।"[1] साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह आदेश एक निषे-धात्मक आदेश है। किन्तु वास्तव मे यह हमे क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करता है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करने का आदेश देता है। इस आदेश का अर्थ यह है कि हमे अपने वचनो के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए, उदाहरणस्वरूप, हमे अपनी प्रतिज्ञाए निभानी चाहिए और उन समझौतो का आदर करना चाहिए, जोकि हमने स्वयं अपने सकल्प के द्वारा अन्य व्यक्तियो से किए हैं। इसी प्रकार इस कर्तव्य का अर्थ यह भी है कि हमारे विचार तथा हमारे शब्दो मे अन्तर नही होना चाहिए।

जो व्यक्ति अपने जीवन को सत्य के आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना अवश्य करना पडता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि सत्यपरायण व्यक्ति जीवन मे सफल नही होता। महात्मा गाधी के जीवन-चरित से हमे इस बात की प्रेरणा मिलती है कि हम जीवन के प्रत्येक स्तर पर, सत्य पर चलते हुए सफलता प्राप्त कर सकते है। गाधीजी का जीवन निस्सन्देह एक सत्य का प्रयोग था। उन्होंने सत्य के कर्तव्य को, न ही केवल व्यक्तिगत और व्यवसाय-सम्बन्धी जीवन मे अपनाया, अपितु राजनीतिक जीवन मे भी उसका प्रयोग किया। उनके जीवन से यह प्रमाणित होता है कि अन्त मे सत्य की ही विजय होती है। संस्कृत भाषा मे लिखा है,

१. "Thou shalt not lie."

"सत्यमेव जयते" अर्थात् "सत्य की ही विजय होती है।" भारतीय राज्यपताका मे जो अशोक-स्तम्भ का चिह्न है, उसके नीचे यही महावाक्य (सत्यमेव जयते) अंकित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि भारत आज भी राजनीति मे सत्य-सम्वन्धी कर्तव्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है। यद्यपि राजनीति मे प्राय असत्य का आश्रय लिया जाता है, तथापि यदि हम ऐतिहासिक घटनाओ का निष्पक्ष विश्लेपण करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि जव-जव सत्य को किसी शासक द्वारा दृढता से अपनाया गया है, तव-तव सुख और समृद्धि का राज्य हुआ है। सहस्रो वर्षो के पश्चात् भी रामराज्य को इसलिए आदर्श स्वीकार किया जाता है कि रामचन्द्र ने सत्य की निष्ठा को अपनाया। अशोक महान का नाम इतिहास मे इसलिए अमर हो गया कि उसने सत्य और अहिंसा को अपनाकर प्रजा के मन पर राज्य किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्यनिष्ठ राजनीति, न ही केवल सफल होती है, अपितु एक अमर आदर्श बन जाती है। अत सत्य के कर्तव्य का पालन करना सवसे अधिक महत्त्व रखता है। उसका कारण यह है कि सत्य पर चलनेवाला व्यक्ति सदैव सद्भावना से प्रेरित होता है और निर्भयता से सदाचार का आचरण करता है।

प्रगति के प्रति सम्मान

प्रगति के प्रति सम्मान का अर्थ, विश्व-मात्र के विकास मे सक्रिय सहयोग देने का कर्तव्य है। इस कर्तव्य का उद्देश्य यह है कि हम स्वार्थ का त्याग करके, सार्वजनिक सेवा को अपनाए। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कर्तव्यो का हृदय से पालन करे। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र मे यथाशक्ति अपने कर्तव्य का पालन करेगा, तभी सार्वजनिक विकास की तथा समस्त विश्व की प्रगति सम्भव हो सकती है। यह मानवीय कर्तव्य निम्नलिखित धार्मिक आदेश पर आधारित है, "तुम्हे अपने विशेष क्षेत्र मे सदैव सहृदय, सर्वात्मना, सम्पूर्ण शक्ति तथा सम्पूर्ण मन से परिश्रम करना चाहिए।"[1] यह धार्मिक आदेश भगवद्गीता मे भी प्रतिपादित है। जव व्यक्ति अपने इस कर्तव्य को भूल जाता है, तो वह धर्मसकट मे पड जाता है। जव अर्जुन प्रगति के प्रति कर्तव्य की अवहेलना करके, धर्मसकट मे पड जाता है और जब वह युद्धक्षेत्र से भागकर सन्यासी वनने की इच्छा प्रकट करता है, तो श्री कृष्ण उसे इस कायरता से बचने का उपदेश देते है और उसे बतलाते हैं कि अपने क्षेत्र मे निरन्तर सक्रिय रहना और कर्तव्य के लिए जीवन तक बलिदान दे देना श्रेयस्कर है। भगवद्गीता मे इस कर्तव्य को निम्नलिखित रूप से अभिव्यक्त किया गया है

"स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह।"

अर्थात् "अपने क्षेत्र मे कर्तव्य का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाना श्रेष्ठ है और

१. "Thou shalt labour, within thy particular province, with all thy heart and with all thy soul and with all thy strength and with all thy mind"

किसी अन्य व्यक्ति के धर्म मे हस्तक्षेप करना असंगत है।" अपने कर्तव्य पर यथाशक्ति चलना और सक्रिय रहना इसलिए आवश्यक माना गया है कि सार्वजनिक उन्नति से ही ससार मे सुख का साम्राज्य स्थापित होता है और यह साम्राज्य ही धर्म तथा नैतिकता का उद्देश्य होता है। यही कारण है कि जनसेवा को प्रत्येक धर्म मे उच्चतम स्थान दिया गया है और मानवीय प्रेम को ही ईश्वरीय प्रेम माना गया है। यहा अबु बेन आदम की कथा का सक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित न होगा। कहा जाता है कि अबु बेन आदम, जिसने कि अपना समस्त जीवन जनसेवा मे लगा दिया था, एक बार सहसा रात्रि को जगा और उसने अपने कक्ष मे एक दिव्य प्रकाश देखा। वह प्रकाश एक देवता के कारण था, जोकि अबु के कक्ष मे बैठा हुआ एक स्वर्ण पुस्तक मे कुछ लिख रहा था। अबु ने उस देवता के निकट जाकर पूछा, "तुम इस पुस्तक मे क्या लिख रहे हो ?" देवता ने उत्तर दिया कि वह उस पुस्तक मे उन व्यक्तियो के नाम लिख रहा है जो ईश्वर से प्रेम करते हैं। अबु ने उस देवता से प्रार्थना की कि कृपया मेरा नाम उन व्यक्तियो की सूची मे लिख दीजिए जो मनुष्यो से प्रेम करते है। दूसरे दिन जब वह देवता अबु बेन आदम के कक्ष मे प्रविष्ट हुआ, तो उसने उन व्यक्तियो की सूची दिखाई जो ईश्वर को प्रिय थे, अर्थात् जिनको ईश्वर प्रेम करता था। अबु यह देखकर हर्षित हुआ कि उस सूची मे उसका नाम सर्वोपरि था। इस कथा का अभिप्राय यह है कि जनसेवा ही ईश्वर-आराधना है। इसलिए कहा गया है कि श्रम ही श्रद्धापूर्ण पूजा है। इसी दृष्टि को अग्रेजी के कवि कॉलरिज (Coleridge) ने अपनी कृति 'द राइम ऑव ऐशिएण्ट मैरीनर' मे निम्नलिखित रूप मे अभिव्यक्त किया है

"वही व्यक्ति सर्वोत्तम रूप से ईश्वर की प्रार्थना करता है, जो मनुष्यो, पशुओ तथा पक्षियो से घनिष्ठ प्रेम रखता है।"[१] भारतीय दृष्टिकोण से भी प्राणी-मात्र से प्रेम करना ईश्वर-भक्ति का आवश्यक अग माना गया है। हिन्दी के एक विख्यात कवि ने परमार्थ की सराहना करते हुए लिखा है

"वृच्छ कबहु नहि फल भखैं, नदी न सचै नीर।
परमारथ के कारने सन्तन धरा सरीर॥"

भारतीय दृष्टिकोण से वही व्यक्ति सत अथवा साधु है, जो निरन्तर परमार्थ में लगा रहता है।

अनेक पश्चिमीय विद्वान भारतीय दर्शन को इसलिए अनैतिक कहते है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को वैराग्य का अनुसरण करके, व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। किन्तु भारतीय दर्शन कदापि स्वार्थ को परमार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ नही मानता। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी मुक्त आत्मा उस समय तक वास्तविक शान्ति प्राप्त नही करता, जब तक कि वह अपने प्रयत्नो के द्वारा, अन्य सभी व्यक्तियो को मुक्त कराने मे

१. "He prayeth well who loveth well
Both man and bird and beast."

सफल नही होता। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी मुक्त आत्मा, समस्त मानव-समाज की मुक्ति की चेष्टा करता रहता है। भगवद्गीता मे स्वार्थी और सकीर्ण दृष्टि-कोणवाले व्यक्ति को आसुरी सम्पत्तिवाला व्यक्ति कहा गया है। इसके विपरीत दैवी सम्पत्तिवाला व्यक्ति वही है, जो अन्य लोगो की प्रगति से आनन्दित होता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार, प्रत्येक सच्चे भक्त के लिए ईश्वर-आराधना के अन्त मे निम्नलिखित प्रार्थना करना आवश्यक माना गया है ·

"सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु खभाग्भवेत् ॥"

अर्थात् "हे ईश्वर! सभी लोग सुखी हो, सभी पापरहित हो, सभी आनन्द-मगल प्राप्त करे, किसी भी व्यक्ति को, किसी भी प्रकार का दु ख प्राप्त न हो।" इस प्रकार के दृष्टिकोण-वाला भारतीय दर्शन कदापि अमानवीय और अनैतिक नही हो सकता। पश्चिमीय तथा भारतीय नैतिक दृष्टिकोण के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व तथा पश्चिम मे, प्रगति के सम्मान के कर्तव्य को एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य स्वीकार किया गया है और उच्चतम नैतिकता को विशुद्ध मानववाद पर आधारित माना गया है।

ऊपर दी गई कर्तव्यो की व्याख्या आचार-विज्ञान मे, विशेषकर पश्चिमीय दृष्टि-कोण से, इसलिए महत्त्व रखती है कि मानवीय जीवन अपूर्ण और सापेक्ष है और इस जीवन की सफलता इसीमे है कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियो के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करे और यथासम्भव अपने-आपको और समाज को उस आदर्श की ओर अग्रसर करे, जोकि जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। आचार का सिद्धान्त चाहे पश्चि-मीय हो चाहे पूर्वीय, चाहे सापेक्ष हो चाहे निरपेक्ष, हर अवस्था मे कर्तव्य को ही परम मूल्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन मानता है। किन्तु हमने काट के कर्तव्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह कहा था कि प्रेरक शून्य कर्तव्य, एक अमूर्त धारणा ही सिद्ध होता है। हम कर्तव्य को कदापि निरपेक्ष नही मान सकते। जब काट कर्तव्य को निरपेक्ष बनाने की चेष्टा करता है, तभी वह हमे एक बिना सामग्री का आकार प्रस्तुत करता है। काट इस बात को भूल जाता है कि कर्तव्य का सम्बन्ध ठोस जीवन से है और ठोस जीवन सदैव सापेक्ष होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि मनुष्य की श्रेष्ठता इसीमे है कि वह समय और स्थान की सापेक्षताओ से परे जाकर, ऐसे आदर्श की कल्पना कर सकता है जोकि पूर्ण है। किन्तु इस पूर्णता की प्राप्ति का साधन निस्सन्देह हमारा व्यावहारिक जीवन है, जो सदैव सापेक्ष और अपूर्ण रहता है। इसका अभिप्राय यह नही कि पूर्णता और निरपेक्षता कल्पना-मात्र है। इसके विपरीत, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य जैसे विचार-शील प्राणी के द्वारा पूर्णता को जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया जाना स्वय उस आदर्श की वास्तविकता का प्रमाण है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान यह मानकर चलता है कि आदर्श सदैव अप्राप्य और व्यावहारिक जीवन से परे रहता है और भारतीय दर्शन आदर्श को प्राप्य और जीवन मे

वास्तविक रूप से अनुभूत किए जानेवाला तत्त्व मानता है। पश्चिमीय दर्शन कर्तव्य को इसलिए महत्त्व देता है कि कर्तव्य हमे आदर्श की ओर अग्रसर करता है और इसी कारण वही हमारे जीवन का श्रेष्ठतम स्तर है। किन्तु भारतीय दर्शन कर्तव्य को इसलिए महत्त्व देता है कि कर्तव्य का निभाना ही एकमात्र ऐसा अनुशासन है जो मनुष्य को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है और अन्त मे उसका अनुभव कराता है। अत· दोनो अवस्थाओ मे कर्तव्य का पालन करना नैतिक स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य का सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि समाज की उपस्थिति मे ही अधिकार और कर्तव्य की समस्या खडी होती है। यदि समाज न हो, तो अधिकाश कर्तव्य और अधिकार निरर्थक प्रमाणित हो जाए। उदाहरणस्वरूप, सम्पत्ति का अधिकार तथा कर्तव्य तभी महत्त्व रखता है, जब एक से अधिक व्यक्ति सम्पत्ति से सम्बन्धित हो। स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकार भी तभी महत्त्व रखता है जब व्यक्ति समाज मे रहता हो और स्वतन्त्रता को समाज के विकास के लिए आवश्यक मानता हो। जहा तक जीवन-सम्बन्धी अधिकार तथा कर्तव्य का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि मानव-समाज की अनुपस्थिति मे भी इनका महत्त्व रहता है। यही कारण है कि भारतीय आचार-मीमासा ने अहिंसा को परम धर्म माना है। हम यह कल्पना नही कर सकते कि यदि कोई व्यक्ति निर्जन वन मे एकाकी रहता हो और वह सर्वथा नैतिकता से मुक्त हो। ऐसे व्यक्ति के लिए सम्पत्ति के सम्मान के कर्तव्य की भले ही आवश्यकता न हो, और न ही अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता के प्रति कर्तव्य की आवश्यकता हो, किन्तु हम यह नही कह सकते कि वह समाज की अनुपस्थिति मे, जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य से भी मुक्त है। उस वन मे रहनेवाले अन्य प्राणियो के प्रति और विशेषकर अहिंसक प्राणियो के प्रति वह एक सामान्य मनुष्य होने के नाते, जीवन के कर्तव्य की अवहेलना नही कर सकता। इस दृष्टि से हम कह सकते है कि एक विचारशील प्राणी मे जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य निरपेक्ष रूप से उपस्थित रहता है।

हम यह जानते है कि जब से मनुष्य सभ्य हुआ है एव जब से मनुष्य, मनुष्य कहलाया है, तब से ही वह समाज का एक अभिन्न अग रहा है। एकाकी मनुष्य की धारणा निस्सन्देह कल्पना-मात्र है। अत: कर्तव्यो का महत्त्व, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से कदापि कम नही हो सकता। कर्तव्यो का सम्बन्ध, अधिकारो की भाति सामाजिक सस्थाओ से रहता है और वे सामाजिक विकास मे सहायक होने के कारण मूल्य रखते है। कर्तव्यो की विशेषता जीवन के दो मुख्य अगो से है और वे दो मुख्य अग निम्नलिखित है

(१) जीवन का आर्थिक अग ;

(२) जीवन का सामाजिक अग।

आर्थिक दृष्टि से मनुष्य के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य विशेष महत्त्व रखते हैं और सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के कुटुम्ब तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य विशेष महत्त्व रखते है। हम इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मनुष्य के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारो और कर्तव्यो की व्याख्या करेंगे। जहां तक अधिकारो और

कर्तव्यो के सामाजिक अग का प्रश्न है, उसकी हम आगे चलकर विस्तृत रूप से व्याख्या करेंगे। अधिकारो तथा कर्तव्यो का आर्थिक दृष्टिकोण आधुनिक युग मे एक विशेष महत्त्व रखता है, क्योकि इस युग को हम निस्सन्देह आर्थिक युग कह सकते है। आज हमारी सभ्यता एक प्रकार की वाणिज्य-सभ्यता बन गई है और हमारे जीवन का प्रत्येक अग आर्थिक समस्याओ से पूर्णतया प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त यदि हम नैतिक जीवन को भी आर्थिक जीवन से अधिक श्रेष्ठ समझे, तब भी आर्थिक अधिकारो और कर्तव्यो की अवहेलना इसलिए नही की जा सकती कि इनके बिना न तो हम उस शरीर को हृष्ट-पुष्ट रख सकते है, जिसके माध्यम से हम नैतिक जीवन मे क्रियाशील हो सकते है और न ही हम दरिद्रता से दु खित रहकर वह मानसिक सन्तुलन रख सकते है, जिसके बिना नैतिक जीवन कदापि सम्भव नही हो सकता। हमने भारतीय आचार-मीमासा की सक्षिप्त व्याख्या करते हुए भी यह बताया था कि अर्थ को पुरुषार्थों के क्रम मे इसलिए प्रथम स्थान दिया गया है कि इसकी प्राप्ति के बिना हम धर्माचरण की कल्पना नही कर सकते। पश्चिमीय आचार-मीमासा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है, विशेषकर आधुनिक परिस्थितिया हमारे आर्थिक जीवन को सस्कृति का अनिवार्य अग बनाए हुए है। अरबन ने इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए लिखा है, "आर्थिक जीवन की नैतिकता पर जो बल दिया गया है, वह पिछली अर्धशताब्दी के नैतिक चिन्तन का एक विशेष लक्षण है ··एक ओर तो आर्थिक क्रियाशीलता का इतना विपुल विकास हुआ कि उसकी अपेक्षा मे मानवीय जीवन के अन्य अगो का विकास तनिक-मात्र भी नही है। उत्पादन की विधियो मे अनन्त वृद्धि एव धन के कल्पनातीत सचय ने मानवीय शुभो के क्रम मे सम्पत्ति-सम्बन्धी मूल्यो को विशेष उत्कृष्ट स्थान दे दिया है। दूसरी ओर उत्पादन की नवीन विधियो तथा उन विधियो से उत्पन्न पूजीवादी व्यवस्था के विकास मे वितरण, न्याय तथा सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारो की ऐसी समस्याओ को जन्म दिया है, जो सर्वथा नवीन है।"[1] अत हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम नैतिकता के आर्थिक जीवन-सम्बन्धी अग

१ "Emphasis upon the ethics of the economic life is the outstanding characteristic of the moral thinking of the last half century there has been, on the one hand, an enormous development of economic activity, out of all proportion to the growth of the other sides of human life. The tremendous speeding up of the processes of production, the unheard of accumulation of wealth, have inevitably resulted in giving the values of wealth a privileged position in the scale of human goods On the other hand, the novel methods of production, and the development of the capitalistic system which they necessitated, have led to entirely new problems of distributive justice and of property rights"

—Fundamentals of Ethics by W. M Urban, Page 261.

पर प्रकाश डाले और यह बताए कि सम्पत्ति के प्रकरण मे कर्तव्यो तथा अधिकारो का क्या महत्त्व है ।

प्राचीन समय मे, जबकि मनुष्य का जीवन सरल था और उसकी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताए उदार प्रकृति के उत्पादन से ही पूरी हो जाती थी, उसका आर्थिक जीवन आधुनिक समय की अपेक्षा स्वतन्त्र था और उसके नैतिक जीवन मे किसी प्रकार की बाधा नही डालता था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्, जब यन्त्रो ने मानवीय श्रम का स्थान ले लिया और जब सामाजिक नैतिकता के स्थान पर वैयक्तिक नैतिकता का महत्त्व बढ गया, तो यह स्वाभाविक था कि नवीन ढाचे मे विशेष प्रकार के नैतिक जीवन का विकास हो। आधुनिक युग मे मनुष्य की आर्थिक समस्याएं इतनी जटिल हो गई है कि उसके जीवन का अधिक समय जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने मे ही लग जाता है। जब तक मनुष्य की शारीरिक पुष्टि के लिए पर्याप्त भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था न हो, तब तक वह सत्य, शिव, सुन्दरम् आदि उच्च आदर्शो की ओर ध्यान तक नही दे सकता। आर्थिक क्षेत्र मे पूजीवाद और आर्थिक होड ने मनुष्य की जीवन-शैली को परिवर्तित कर दिया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक आर्थिक अवस्था ने व्यापार और उद्योग मे अनैतिकता को जन्म दिया है और सद्गुणो पर आघात किया है। यही कारण है कि आधुनिक समय मे एक आर्थिक नैतिकता की आवश्यकता है। इन कारणो से आधुनिक समय मे आचार-विज्ञान की दृष्टि भी यथार्थवादी हो गई है। आचार-विज्ञान सम्पत्ति के प्रति सम्मान के विषय मे विशेष रुचि लेने लगा है। अत. सम्पत्ति के प्रति कर्तव्य की विशेष व्याख्या की आवश्यकता है। किन्तु ऐसी व्याख्या देने से पूर्व आर्थिक जीवन की परिभाषा देना भी वाछनीय है।

हम आधुनिक आर्थिक जीवनकी परिभाषा आधारभूत आर्थिक प्रक्रियाओ के प्रकरण मे दे सकते हैं। ये प्रक्रियाए उत्पादन (Production), वितरण (Distribution) तथा उपभोग (Consumption) है। उत्पादन का अर्थ जीवन की आवश्यकताओ-सम्बन्धी वस्तुओ तथा उन वस्तुओ का उत्पादन है, जो सुखमय जीवन व्यतीत करने में सहायक होती है। इन वस्तुओ का वितरण उन व्यक्तियों मे होता है, जिनके समूह को आर्थिक समुदाय कहा जाता है। ऐसा आर्थिक समुदाय नगर, देश व विश्व तक का समुदाय माना जा सकता है। इसी आर्थिक समुदाय के द्वारा ही उत्पादित वस्तुओ का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार के आर्थिक जीवन मे सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्यो का पालन करना नितान्त आवश्यक है। यदि सम्पत्ति के सम्मान की अवहेलना की जाए और आर्थिक समुदाय का तथा उत्पादन करनेवाले वर्ग का प्रत्येक सदस्य स्वार्थी जीवन व्यतीत करने लगे, तो हमारा आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। यही कारण है कि नैतिक दृष्टि से अधिकारो तथा कर्तव्यो को सम्पूर्ण आर्थिक प्रक्रिया एव आर्थिक जीवन से सम्बद्ध माना जाता है।

उत्पादन करनेवाला व्यक्ति चाहे श्रमजीवी हो, चाहे उद्योगपति, उत्पादक

होने के नाते कुछ अधिकार रखता है और उन अधिकारों से सम्बन्धित कुछ कर्तव्यो की उससे आशा भी की जाती है। यह तो सत्य है कि जो व्यक्ति अपने श्रम के द्वारा उत्पादन करता है, उसके कुछ अधिकार होते है। जब इन अधिकारो की अवहेलना की जाती है तो उत्पादक तथा उपभोक्ता मे सघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार जब वितरण करनेवाला व्यक्ति न्यायपूर्ण वितरण नही करता अथवा जब उपभोक्ता उत्पादित वस्तुओ का आवश्यकता से अधिक व्यय करता है, तो अनेक प्रकार की समस्याए खडी हो जाती हैं। अत. आर्थिक जीवन की तीनो प्रक्रियाओ मे अर्थात् उत्पादन, वितरण तथा उपभोग मे, नैतिक नियमो के अनुसरण करने की आवश्यकता रहती है। आर्थिक जीवन की नैतिक समस्याओ मे से एक समस्या यह भी है कि क्या व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है? यदि ऐसा है तो वह अधिकार किस सीमा तक न्यायसगत है?

ऊपर दिए गए प्रश्नो का उत्तर देने के लिए हमे सर्वप्रथम अर्थ एव धन तथा सम्पत्ति के परस्पर-सम्बन्ध पर प्रकाश डालना चाहिए। अग्रेजी मे अर्थ को वैल्थ (Wealth) कहा गया है और सम्पत्ति को प्रॉपर्टी (Property)। धन का अर्थ कोई भी ऐसी वस्तु है, जो प्रत्यक्ष रूप से किसी मानवीय आवश्यकता को पूरा कर सकती है अथवा जो किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन के लिए प्रयोग मे लाई जा सकती है, जोकि आवश्यकताओ को पूरा करती है। दूसरे शब्दो मे, धन सभी उपभोग करने योग्य वस्तुओ की समष्टि है। इस प्रकार धन एक प्रकार का निमित्त मूल्य है। सम्पत्ति वास्तव मे इसी प्रकार का निमित्त मूल्य है और धन के उपयोग करने के अधिकार का दूसरा नाम है। यदि धन का अर्थ वस्तुओ से आनन्द प्राप्त करना एव आवश्यकताओ की पूर्ति करना है, तो सम्पत्ति का अर्थ वस्तुओ पर पूर्ण रूप से आधिपत्य रखना और उनके प्रयोग करने का अधिकार है।

हम यह जानते है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा आदिकाल से चली आती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ, किसी एक व्यक्ति के द्वारा चल अथवा अचल धन पर निजी अधिकार है। यह अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है और व्यक्ति द्वारा अपनाया जाता है। आधुनिक विद्वानो का कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति वास्तव मे सचय करने की वह मूल प्रवृत्ति है, जोकि सामाजिक व्यक्ति मे, सामाजिक माध्यम के द्वारा, सामाजिक स्वीकृति से क्रियाशील होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्राचीन समय मे भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा उपस्थित थी और व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने के लिए वैधानिक अधिकार था। रोम के विधान मे व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करने और उसकी रक्षा करने की व्यवस्था उपस्थित है। किन्तु यदि हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि भिन्न-भिन्न समय पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार, समाज की विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। आधुनिक युग मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को प्राय. विश्व के सभी राष्ट्रो मे स्वीकार किया जाता है।

सम्पत्ति के अधिकार के नैतिक आधार के सम्बन्ध मे अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए है। उनमे से सबसे अधिक विख्यात सिद्धान्त श्रम-सिद्धान्त (Labour theory) कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य का श्रम ही उपयोगी वस्तुओ के उत्पादन का एकमात्र आधार है। प्रकृति द्वारा जो कच्ची वस्तुए हमे प्राप्त होती हैं, उनको मानवीय उपभोग के लिए उपलब्ध करने का साधन श्रम हैं। जब एक छोटा-सा शिशु भी सड़क के पेड़ से, पत्थर फेककर, आम के फल को प्राप्त करता है और उसे अपनी सम्पत्ति घोषित करता है, तो वह वास्तव मे सम्पत्ति के श्रम-सिद्धान्त को पुष्ट करता है। विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक जॉन लॉक ने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित शब्दो मे अभिव्यक्त किया है, "प्राचीन परिस्थितियो के अनुसार, मनुष्य उन वस्तुओ पर अपने श्रम के द्वारा सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त कर सकता हैं, जो किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति नही हैं।"

सम्पत्ति के अधिकार के श्रम-सिद्धान्त को अनेक विचारकों ने स्वीकार किया है। व्यक्तिवादी विचारक तथा समाजवादी विचारक दोनो इसे स्वीकार करते है। व्यक्तिवादी इस सिद्धात को अपनाकर व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को अभगनीय (Inviolable) प्रमाणित करते है। किन्तु ऐसा करते समय कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है, जब व्यक्तिगत सम्पत्ति के पैतृक अधिकार की समस्या का सामना करना पड़ता है। सम्पत्ति के पैतृक अधिकार को प्रमाणित करने के लिए व्यक्तिवादी विचारको को वैधानिक (Legal) धारणा का आश्रय लेना पड़ता है।

समाजवादी विचारक श्रम-सिद्धात को अपनाते समय पैतृक अधिकार को स्वीकार नही करता, इसके विपरीत वह पैतृक अधिकार का घोर विरोध करता है और यह प्रतिपादित करता है कि धन एक सामाजिक उत्पत्ति है और वह लाभ हैं जो व्यक्तियो के द्वारा उत्पादित नही किया गया। किन्तु इस प्रकार की धारणा मे भी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। उदाहरणस्वरूप, मार्क्स, जोकि एक समाजवादी विचारक था, अपने सिद्धात के दो आधार मानता है। एक ओर तो वह यह स्वीकार करता है कि व्यक्ति श्रम के द्वारा उन वस्तुओ को अपनी सम्पत्ति बना सकता है, जो किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति नही हैं। दूसरी ओर वह कहता है कि उत्पादित वस्तुओ का वह आधिक्य, जोकि श्रम की शक्ति द्वारा उत्पन्न होता है, पूजीपति द्वारा श्रमजीवियो के श्रम की चोरी के समान है। इस धारणा को प्रस्तुत करते समय, श्रमजीवियो के सम्बन्ध मे तो मार्क्स सम्पत्ति के श्रम-सिद्धांत को स्वीकार करता है, किन्तु उस पूजीपति के सम्बन्ध मे, जो अपने धन को उद्योग मे लगाता है और उस व्यापारी के सम्बन्ध मे, जोकि उत्पादित वस्तुओ के क्रय-विक्रय मे परिश्रम करता है, इसी श्रम-सिद्धात को लागू नही करता। अत हम यह कह सकते है कि श्रम-सिद्धात आर्थिक दृष्टि से सर्वथा सगत प्रमाणित नही किया जा सकता। अनेक अर्थशास्त्रियो ने मार्क्स के दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है। यदि व्यक्तिवादी तथा समाजवादी आर्थिक दृष्टिकोण, दोनो श्रम-सिद्धात को अपनाने मे कठिनाइयोंका सामना करते

है, तो हम इस परिणाम पर पहुचते है कि सम्पत्ति के अधिकार का एकमात्र आधार नैतिक अधिकार है। श्रम-सिद्धान्त भी एक आर्थिक सत्य न होकर नैतिक सत्य ही है। अत हम सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार मे निहित नैतिक मूल्यो की सक्षिप्त व्याख्या करेंगे और इस व्याख्या के पश्चात् ही हम सम्पत्ति के अधिकारो तथा उनसे सम्बन्धित कर्तव्यो के स्वरूप तथा उनके महत्त्व को भली प्रकार समझ सकेगे।

सम्पत्ति नि सन्देह एक निमित्त मूल्य है और उसकी न्यायसंगतता तभी स्वीकार की जा सकती है, जब हम मूल्य का उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण यथार्थ मान ले। इस दृष्टि से तथा उपयोगितावाद की दृष्टि से भी, हम निजी सम्पत्ति मे दो मुख्य मूल्य निहित मान सकते है, जो निम्नलिखित है :

(१) सुरक्षा (Security) का मूल्य

(२) आत्मानुभूति (Self-realization) का मूल्य

सम्पत्ति का श्रम-सिद्धात भी इन दो मूल्यो को ही अधिक महत्त्व देता है। अन्य प्राणियो मे सुरक्षा से अन्न सचित करने की प्रवृत्ति उपस्थित रहती है। चीटिया शीत ऋतु के लिए अन्न सचित करती हैं और गिलहरी मे भी यह दूरदर्शिता उपस्थित होती है। मनुष्य मे सुरक्षा की यह प्रवृत्ति बुद्धिमत्ता के कारण और भी प्रवृद्ध रूप मे उपस्थित होती है। यही कारण है कि आर्थिक सुरक्षा के लिए वह निजी सम्पत्ति को मान्यता देता है और पैतृकता के रिवाजो तथा नियमो के द्वारा, अपनी सन्तति के लिए निजी सम्पत्ति को परम्परागत बनाता है। नैतिक दृष्टि से, आर्थिक सुरक्षा इसलिए आवश्यक है कि अर्थ-सकट मे पडा हुआ व्यक्ति नैतिकता पर नही चल सकता। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की प्रथा का मूल आधार आर्थिक सुरक्षा का नैतिक मूल्य है।

जहा तक आत्मानुभूति का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते है कि धन एव सपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति जीवन-सम्बन्धी उन सुविधाओ को प्राप्त कर सकता है, जो उसके आत्मविकास और आत्मानुभूति के लिए उपयोगी होती है। इस दृष्टिकोण को भी सपत्ति का श्रम-सिद्धान्त स्वीकार करता है। कुछ सीमा तक आत्मानुभूति के लिए सम्पत्ति को अपनाना पशु-पक्षियो मे भी उपस्थित माना जा सकता है। जब कोई पक्षी किसी वृक्ष पर घोसला बनाता है, तो वह उस घोसले को ही नही, अपितु सम्पूर्ण वृक्षको अपनी सपत्ति मान लेता है क्योकि वह घोसला उसके आत्मविकास के लिए सुविधाजनक है। इसी प्रकार जब श्रम करनेवाला व्यक्ति, अपनी सचित सम्पत्ति को अपने व्यक्तित्व का अग मान लेता है, तो उसकी यह धारणा उसके आत्मविकास को ऊचे स्तर पर ले जाती है। सम्पत्ति के ये दोनो मूल्यात्मक आधार एक अन्य रूप से भी अभिव्यक्त किए जा सकते है।

जब हम यह कहते है कि निजी सम्पत्ति का मूल आधार सुरक्षा का मूल्य है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सम्पत्ति उपयोग के लिए है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि सम्पत्ति आत्मानुभूति के मूल्य पर आधारित है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सम्पत्ति शक्ति के लिए है। उपयोगिता का तत्त्व सम्पत्ति को आर्थिक दृष्टि से

निमित्त मूल्य प्रमाणित करता है। इसी प्रकार शक्ति का तत्त्व सम्पत्ति के अधिकार को सगत बनाता है। शक्ति प्राप्त करने का अधिकार इसलिए आवश्यक है कि शक्ति का सकल्प वास्तव मे जीवन का सकल्प है और जीवन का अधिकार सर्वमान्य अधिकार है। यदि सम्पत्ति का अधिकार जीवन के उद्देश्य के लिए आवश्यक है, तो हम इस अधिकार को सगत प्रमाणित करने के लिए और उसे नैतिक बनाने के लिए कुछ परिमाण एव औचित्य के नियम निर्धारित कर सकते है।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते है कि समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समाज के मूल्यो मे भाग लेने का अधिकार आवश्यक है। यदि यह सत्य है, तो इन मूल्यो की अनुभूति के लिए आर्थिक शुभ का उपभोग करना भी व्यक्ति का अधिकार है। यह अधिकार वास्तव मे इसलिए मूल्यवान है कि सद्‌गुण तथा सुख अधिकतर इसीपर निर्भर रहते हैं। यह तो सत्य है कि सम्पत्ति द्वारा उत्कृष्ट मूल्य प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नही किए जा सकते, किन्तु आधुनिक आर्थिक युग मे, परोक्ष रूप से प्राय सभी मूल्य धन पर आश्रित है। यही कारण है कि सम्पत्ति मे भाग लेने के अधिकार को इतना व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है कि सब व्यक्तियो के लिए कम से कम आय का निर्धारित करना और बेकार व्यक्तियो को भी आजीविका के लिए आय देना नैतिक आवश्यकता माना जाता है। ये दोनों मागे इस परिमाण को अभिव्यक्त करती है, जिसके अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक सदस्य को समाज के आर्थिक मूल्यो मे भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।

सम्पत्ति की धारणा मे निहित दूसरा नैतिक परिमाण यह है कि व्यक्तित्व को सदैव सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान मानना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, सम्पत्ति के मूल्यो की अपेक्षा व्यक्तित्व के मूल्यो को श्रेष्ठ मानना चाहिए। कांट ने इसी आदर्श को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया था, "तुम मनुष्य को चाहे किसी अन्य व्यक्ति के रूप मे, चाहे अपने-आपमे, कदापि निमित्त न बनाओ और उसे (मनुष्य को) सदैव स्वलक्ष्य स्वीकार करो।" यह सत्य है कि सम्पत्ति जीवन के विकास का एक साधन है, किन्तु उच्च स्तर के मूल्य सम्पत्ति को निमित्त ही प्रमाणित करते हैं। अत. सम्पत्ति के अधिकार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नही देना चाहिए, क्योकि अन्ततोगत्वा, वे व्यक्ति ही समाज के उत्थान का कारण बनते है, जिनमे आदर्श के प्रति अगाध प्रेम होता है और जो उत्कृष्ट मूल्यो की प्रतिमूर्ति होते है। अत सम्पत्ति और व्यक्ति की तुलना मे व्यक्तित्व सदैव उत्कृष्ट रहता है। यद्यपि सम्पत्ति व्यक्तित्व के विकास मे सहायक अवश्य होती है, तथापि नैतिक दृष्टि से, धन अर्जित करने की प्रवृत्ति को सीमाओं के अन्दर रखना नितान्त आवश्यक है। इसी नैतिक परिमाण को लागू करने की दृष्टि से और मानव के गौरव को बनाए रखने के लिए, अनेक प्रगतिशील राज्यो मे सामाजिक विधान बनाए गए हैं। श्रमजीवियो के दुरुपयोग को रोकने के लिए, श्रम के सम्बन्ध मे आयु तथा लिंग की रोक आदि लगाने के नियम निर्मित किए गए हैं।

सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित तीसरा परिमाण यह है कि सम्पत्ति को सचित

करना तथा उसे प्राप्त करना उपभोग के कर्म से इसलिए सदा के लिए पृथक् नही करना चाहिए, क्योकि सम्पत्ति के सचय तथा उसके उपभोग का निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह परिमाण अथवा नियम भी सम्पत्ति तथा धन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति की रोकथाम करता है। यदि सम्पत्ति के सम्बन्ध मे उसके उपभोग के अग की अवहेलना की जाए, तो सभव है कि सामान्य व्यक्ति धन तथा सम्पत्ति को स्वलक्ष्य मूल्य समझ ले और इस प्रकार साधन को साध्य एव निमित्त को लक्ष्य मानने की भूल कर बैठे। जो व्यक्ति सम्पत्ति-सम्बन्धी इस नैतिक नियम की अवहेलना करते हैं, वे या तो कृपणता के दुर्गुण का शिकार हो जाते है या शक्ति को ही सम्पत्ति का एकमात्र लक्ष्य मान लेते है।

आधुनिक समय मे सम्पत्ति-सम्बन्धी तीसरे नियम का अनुसरण करने के लिए अधिक बल दिया जा रहा है। सम्पूर्ण समाज के आर्थिक जीवन मे निर्णय देते समय इस नियम को अवश्य लागू किया जाता है। नैतिक विचारक तथा बुद्धिमान अर्थशास्त्री उन पूजीवादी समुदायो की निन्दा करते है, जहा पर केवल उत्पादन के लिए ही उत्पादन किया जाता है और जनसाधारण के उपभोग की अवहेलना की जाती है। इस नियम का उल्लघन करने के कारण ही, विशेषकर पश्चिमीय प्रगतिशील देशो मे जिस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो गई है, वह सचयात्मक मूल प्रवृत्ति पर आधारित व्यवस्था है। ऐसे समाज मे व्यक्ति को सम्पत्ति के अधीन किया जाता है और उत्कृष्ट मूल्यो की अपेक्षा आर्थिक मूल्यो को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज का एकागी विकास ही करा सकती है। अत नैतिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति अवाछनीय है।

ऊपर दिए गए विवेचन के आधार पर हम सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारो की न्याय-सगत व्याख्या कर सकते है। हमने सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे जिन तीन आदर्शों की व्याख्या की है, उनकी प्राय' आर्थिक जीवन मे अवहेलना तो अवश्य की गई है, किन्तु आधुनिक समय मे इन्ही आदर्शों को अधिक से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और इनके आधार पर सम्पत्ति के अधिकारो को परिवर्तित किया जा रहा है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि कम से कम आजीविका का नियम सम्पत्ति के अधिकार मे सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार उपभोक्ताओ के अधिकारो को भी व्यापार की सेवा का नियम मान लिया गया है। किन्तु सम्पत्ति के अधिकारो मे सबसे अधिक परिवर्तन उस आदर्श के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार सम्पत्ति को व्यक्तित्व के अधीन किया जाता है। आधुनिक युग मे सम्पत्ति का अधिकार इसलिए सीमित रूप से स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति का प्रयोग करने की आज्ञा देने से अन्य व्यक्तियो के जीवन मे बाधा पड़ सकती है। अत सम्पत्ति को प्रयोग मे लाने के अधिकार के साथ-साथ इस नियम का पालन करना भी आवश्यक है कि यह अधिकार अन्य व्यक्तियो के अधिकारो मे बाधक सिद्ध न हो।

सम्पत्ति-सम्बन्धी नैतिक आदर्शों ने निम्नलिखित दो प्रकार के कर्तव्यो को भी

जन्म दिया है :

(१) जहा सम्पत्ति के रखने अथवा उसको भोगने का अधिकार दिया जाता है, उस अधिकार मे कोई न कोई कर्म करने का कर्तव्य निहित रहता है।

(२) जहा सम्पत्ति के भोगने अथवा रखने के अधिकार मे उसे सार्वजनिक शुभ के लिए प्रयोग करने का कर्तव्य निहित रहता है।

दूसरे शब्दो मे, सम्पत्ति के प्रति दो मुख्य कर्तव्य, सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कर्म करना और उपलब्ध सम्पत्ति का सदुपयोग करना है। जो व्यक्ति किसी प्रकार का कर्म नही करता, उसका कोई अधिकार नही कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्ति का उपभोग करे। इसी कर्तव्य के आधार पर हम यह कह सकते है कि जो व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य रखता है और जान-बूझकर किसी व्यवसाय को नही अपनाता, उसे कोई अधिकार नही कि वह समाज से आजीविका प्राप्त करने की आशा रखे। इसी प्रकार पूजीवादी-समाज मे, जहा पर कुछ श्रम न करनेवाले पूजीपति जीवन के सभी सुखो और सुविधाओ को प्राप्त करते है और अधिक से अधिक श्रम करनेवाले व्यक्ति बड़ी कठिनाई से दोनो समय का भोजन जुटा सकते है, सम्पत्ति के पहले कर्तव्य की अवहेलना की जाती है। इस कर्तव्य के सम्बन्ध मे यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि कर्म करने का अर्थ केवल शारीरिक श्रम ही नही है। जो व्यक्ति मानसिक तथा बौद्धिक क्रिया के द्वारा भी समाज की सेवा करता है और उपयोगी कर्म करता है, वह भी इस कर्तव्य का पालन करनेवाला होता है। भारत मे प्राचीनकाल से ही इस कर्तव्य का पालन किया गया है । यही कारण है कि वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था मे ब्राह्मण-वर्ग, जिसका कर्तव्य बौद्धिक और आध्यात्मिक कर्म करना था, सामाजिक सम्पत्ति के उपभोग के अधिकार को स्वत. ही प्राप्त करता था और अन्य तीनो वर्ग उसकी आर्थिक आवश्यकताओ को सहर्ष पूरा करते थे। आधुनिक समय मे ब्राह्मण-वर्ग को इस अधिकार से इसलिए वचित किया जा रहा है कि वह अपने सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य को नही निभा रहा है।

इस कर्तव्य को आधुनिक भारत मे अधिक बलपूर्वक लागू करने की नितान्त आवश्यकता है। यद्यपि विनोबा भावे ने श्रमदान-आन्दोलन के द्वारा, जनसाधारण मे इस कर्तव्य के प्रति प्रेरणा को जागरित किया है, तथापि इस देश मे लाखो की सख्या मे ऐसे व्यक्ति उपस्थित है, जो सर्वथा निष्क्रिय होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से दूसरो पर आश्रित है। उदाहरणस्वरूप, लाखो साधु ऐसे हैं, जो न तो समाज की आध्यात्मिक सेवा करते है और न किसी प्रकार का शारीरिक कर्म करके श्रमदान देते है। हर्ष की बात है कि इस दिशा मे भी भारतीय नेताओ ने विशेष ध्यान दिया है, और भारतीय साधु समाज के नाम से महाराष्ट्र के विख्यात साधु सन्त तुकड़ोजी की अध्यक्षता मे एक सस्था स्थापित की गई है, जिसके माध्यम से सहस्रो साधुओ ने समाज-सेवा करने और नैतिक जाग्रति उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा की है। पूजीवादी देशो मे भी इसी प्रकार के आन्दोलन की आवश्यकता

है। जव तक विश्व के प्रगतिशील देशो मे इस कर्तव्य का पूर्णतया पालन नही किया जाता, तव तक आर्थिक विषमताओ से उत्पन्न दुर्गुण उपस्थित रहेगे और तब तक मनुष्य अपने-आपको पूर्णतया सभ्य कहने का अधिकारी नही रहेगा।

सम्पत्ति-सम्वन्धी दूसरा कर्तव्य भी नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। जव मनुष्य सम्पत्ति का प्रयोग करते समय समाज के हित को अपने सामने रखता है और सम्पत्ति को सार्वजनिक शुभ का निमित्त-मात्र मानता है, तभी वह स्वार्थ का त्याग करके अनासक्त होकर कर्म कर सकता है। इस प्रकार के निष्काम भाव की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जव उदार शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने-आपको और मानव-मात्र को एक स्वीकार कर लेता है। इस कर्तव्य की भावना को प्रेरित करने के लिए, आधुनिक युग मे विशेप साधनो को अपनाने की आवश्यकता है। धार्मिक भावनावाले व्यक्ति के लिए तो यह स्वीकार करना सरल है कि सम्पत्ति ईश्वर की देन है और उसपर व्यक्ति का अधिकार नही है, क्योकि व्यक्ति स्वय ईश्वर द्वारा नियुक्त सम्पत्ति का रक्षक-मात्र है। भगवद्गीता मे भी इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया गया है और इसी आधार पर विना फल की इच्छा के कर्म करने के सिद्धान्त को सर्वोत्तम माना गया है। किन्तु विश्व के अधिकतर देशो मे, धार्मिक भावना का ह्रास हो रहा है और भौतिकवाद तथा जड-वाद के दुष्प्रभाव के कारण ईश्वर के आधिपत्य को स्वीकार करने मे सकोच किया जा रहा है। इस अवस्था मे सामाजिक श्रेयस् को सर्वोपरि स्वीकार करने की भावना को प्रेरित करना एक आवश्यक अपितु कठिन कार्य अवश्य है।

कुछ सीमा तक पिछले दो महायुद्धो ने और उनमे घटित असख्य व्यक्तियो के सहार ने, मानव-मात्र की एकता तथा भ्रातृत्व की भावना को अवश्य प्रेरित किया है। किन्तु यह प्रेरणा प्रेम की अपेक्षा घृणा से और विधि की अपेक्षा निषेध की भावना से उत्पन्न हुई है। इस अवस्था मे आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिक अनुसधान और दार्शनिक खोज के आधार पर मानव-मानव के भेद को हटाकर, उसकी समानताओ को अधिक से अधिक स्पष्ट किया जाए और उसकी प्रेम की भावना को जागरित किया जाए। यह तभी हो सकता है जव अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक सस्थाओ के माध्यम से पूर्व तथा पश्चिम के दार्शनिक दृष्टिकोणो का यथार्थ रूप जनसाधारण के सामने रखा जाए। हम आगे चल-कर इस कर्तव्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेगे और यह वताएगे कि भारतीय नैतिक आदर्श किस सीमा तक इस दिशा मे योग दे सकते है। यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि केवल आर्थिक दृष्टिकोण सम्पत्ति के इस कर्तव्य को किसी भी अवस्था मे प्रेरित नही कर सकता।

बारहवां अध्याय

नैतिक सद्गुण

(Moral Virtues)

हमने अधिकार तथा उनसे सम्बन्धित कर्तव्यो का विवेचन करते हुए कहा है कि अधिकारो तथा कर्तव्यो के परस्पर-सम्बन्ध का ज्ञान होना नैतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। न तो हम किसी व्यक्ति को केवल अधिकार देकर उसके व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं और न ही बार-बार कर्तव्य की दुहाई देकर किसीको नैतिक बना सकते है। अधिकारो तथा कर्तव्यो का उद्देश्य नैतिकता का निर्माण और सच्चरित्रता का सचार है। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य के स्वभाव मे नैतिकता स्वच्छन्द रूप मे परिस्फुटित हो उठे और जब उसे सदाचारी बनने के लिए न तो बाहरी आदेशो की आवश्यकता हो और न ही वह किसी प्रकार के अधिकारो की उपेक्षा करता हुआ, नैतिक जीवन मे पिछड़ा हुआ रह जाए। नैतिक व्यक्ति वही है, जो सर्वगुणसम्पन्न है, जिसकी आदतें इस प्रकार स्थिर हैं कि नैतिक कर्तव्यका पालन करना उसका स्वच्छन्द व्यवहार बन जाता है। सद्गुणसम्पन्न एव धार्मिक जीवन ही सम्पूर्ण जीवन है। जिस व्यक्ति मे सद्गुण स्थित हो जाते है, उसके लिए सदाचार उसके व्यक्तित्व का आन्तरिक अग बन जाता है और वह स्थितप्रज्ञ बन जाने के कारण अधिकार और कर्तव्य से इस प्रकार ऊपर उठ जाता है कि उसका जीवन स्वय इन दोनो का सुन्दर समन्वय बन जाता है। अत नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या के लिए सद्गुणो की व्याख्या करना और उनका नैतिक जीवन मे उचित स्थान निर्दिष्ट करना नितान्त आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम मुख्य सद्गुणो की व्याख्या करे, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सद्गुण एवं धर्म शब्द की व्याख्या करे।

सद्गुण शब्द के दो प्रकार के अर्थ किए जाते हैं। विस्तृत दृष्टिकोण से, सद्गुण को मानवीय चरित्र की कोई भी उत्कृष्ट अवस्था एव मानवीय श्रेष्ठता कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सद्गुण (Virtue) का अर्थ शक्तिमत्ता (Strength) है। अत हम सद्गुण को वह गुण मानते है जोकि किसी भी प्रकार की श्रेष्ठता होती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक ओषधि मे गुण है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि उसमे एक विशिष्ट प्रभाव है। इसी दृष्टि से हम शूरवीरता, साहस आदि को सद्गुण कहते हैं। यूनानी दार्शनिको ने भी सद्गुण की ऐसी ही व्याख्या की थी और मानवीय

चरित्र के गुणो को मूल्य माना था। यही कारण है कि उन्होने नैतिक उद्देश्य को सद्गुण की प्राप्ति ही माना और क्षणिक सुख को अस्वीकार किया। यदि सद्गुण मानवीय श्रेष्ठता है और सद्गुण ही नैतिक लक्ष्य है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूति अथवा पूर्णता, जोकि सद्गुणो की एकमात्र अभिव्यक्ति है, मानवीय आचार का परम उद्देश्य है। इस व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार ही सद्गुण अथवा सच्चरित्र को परम शुभ माना जाता है।

सद्गुण का अर्थ सकुचित दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है और इसके अनुसार सद्गुण को कर्तव्य से सम्बद्ध किया जाता है। इस दृष्टि से सद्गुण चरित्र के वे अग तथा आदते है, जोकि व्यक्ति अपने कर्तव्यो का पालन करते हुए तथा अपने अनेक प्रकार के अधिकारो का उपयोग करते हुए ग्रहण करता है। इस दृष्टि से सद्गुण उत्कृष्टता का वह आकार है, जो शुभ सकल्प मे अभिव्यक्त होता है और जिसको काट ने स्वलक्ष्य मूल्य माना है। इस दृष्टिकोण से सद्गुण का, मानवीय व्यवहार का, बाहरी अग से वैसा ही सम्बन्ध रहता है, जिस प्रकार कि निहित शक्ति का गत्यात्मक गति से। सद्गुणात्मक प्रवृत्तिया कर्तव्यो को निभाने की स्थिर आदते-मात्र है। किन्तु ये आदतें निमित्त रूप से ही मूल्य प्रमाणित होती हैं। इसलिए सद्गुण की यह परिभाषा शूरवीरता, सयम, पवित्रता आदि सबको निमित्त मूल्य बना देती है। इसमे कोई सन्देह नही कि यह दृष्टिकोण भी एक यथार्थ दृष्टिकोण है। वास्तव मे सद्गुण की परिभाषा के दोनो दृष्टिकोण इस बात मे सहमत हैं कि सद्गुण का अर्थ चरित्र की उत्कृष्टता है। सद्गुण का आचरण करने से निस्सन्देह व्यक्तित्व का उत्थान होता है। अत सद्गुण ही सच्चरित्रता का एकमात्र आधार है। दूसरे शब्दो मे, वह शुभ की ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। शुभ की यह अभिव्यक्ति जोकि सर्वथा मानवीय चरित्र मे उपस्थित होती है, मनुष्य की श्रेष्ठता का एकमात्र चिह्न है। सद्गुण की उपस्थिति पशुओ मे नही हो सकती, क्योकि उनमे न तो ज्ञान होता है और न वे शुभ को लक्ष्य बनाकर सद्गुण का क्रियात्मक जीवन मे अनुसरण कर सकते हैं। सुकरात ने सद्गुण को इसी दृष्टि से ज्ञान माना है और कहा है कि कोई भी व्यक्ति अज्ञानवश सद्गुण का आचरण नही कर सकता। इसी प्रकार अरस्तू ने सद्गुण को सविकल्पक निर्वाचन की आदत कहा है, क्योकि ऐसी आदत केवल मानवीय चरित्र का ही अग हो सकती है।

इससे पूर्व कि हम उन चार मुख्य सद्गुणो की व्याख्या करें, जोकि विख्यात दार्शनिक प्लेटो के द्वारा स्वीकार किए गए है, यह कह देना आवश्यक है कि सद्गुणो का सम्बन्ध समाज की अवस्था तथा समाज के उद्देश्य से होता है और इसलिए सद्गुणो को समाज के प्रकरण मे सापेक्ष माना गया है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि समाज की विभिन्न अवस्थाओ मे, विभिन्न समय पर, विभिन्न सद्गुणो को वाछनीय और विकास के योग्य माना गया है। यद्यपि कर्तव्य भी सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथापि सद्गुण कर्तव्यो की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। इसका कारण यह है कि

कर्तव्य प्राय जीवन की सभी सम्भव उपाधियो मे लागू होनेवाले व्यवहार-सम्बन्धी सामान्य नियम होते है और सद्‌गुणो का विकास वातावरण पर अधिक आश्रित रहता है। किन्तु गम्भीर चिन्तन करने पर हम यह कह सकते है कि सद्‌गुण भी हमारी आशा से अधिक स्थायी और व्यापक हो सकते है। यद्यपि यूनानी समय के साहस का सद्‌गुण, केवल युद्ध-क्षेत्र मे वीरता से सम्बन्धित था और यद्यपि आधुनिक जीवन मे, इस वीरता को सराहनीय मानने के लिए सामान्य जीवन मे कोई भी इस प्रकार की परिस्थिति नही है, जो साहस को उतना ही महत्त्व दे सके जितना कि यूनानी समय मे उसे प्राप्त था, तथापि साहस से सम्बन्धित मानसिक अवस्था आज भी उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार कि वह पहले थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि सद्‌गुणो के अभ्यास के लिए आवश्यक निश्चित परिस्थितिया परिवर्तित होती रहती है, किन्तु सद्‌गुणो से सम्बन्धित मानसिक आदत का स्वरूप निश्चित रूप से वही रहता है।

यह मानसिक आदत भी समाज की परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ काफी सीमा तक बदलती रहती है। उदाहरणस्वरूप, जिस प्रकार का साहस युद्धक्षेत्र मे वीरता दिखाने के लिए आवश्यक माना जाता था, वह उस साहस से विभिन्न है जो आज के युग मे वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, विद्वान तथा उदार व्यक्ति के लिए सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से आवश्यक होता है। साहस का यह पहलू ऐसा है, जिसका अध्ययन करना प्रत्येक पीढी के विद्वानो के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। जिस प्रकार सामाजिक विकास तथा भौतिक और सामाजिक वातावरण का परिवर्तन, अधिकारो और कर्तव्यो को सापेक्ष सिद्ध करता है, इसी प्रकार समय के व्यतीत होने पर शारीरिक वीरता सम्प्रदाय के प्रति भक्ति, मातृप्रेम आदि सद्‌गुण भी समय के साथ-साथ महत्त्व की दृष्टि से परिवर्तित होते रहते हैं। ये सद्‌गुण अपने प्राचीन रूप मे प्राकृतिक निर्वाचन के कारण सराहनीय थे। क्योकि वे आज तक भी उपस्थित है, इसलिए हम यह कह सकते है कि उनका सुरक्षित रह जाने का अब भी एक मूल्य है। यह तो ठीक है कि जिस वस्तु का सुरक्षित रहने का मूल्य है, वह मूल्य एक स्तर पर कुछ और, दूसरे स्तर पर कुछ और होगा। इसी प्रकार उसका महत्त्व भी विभिन्न स्तरो पर विभिन्न हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, आधुनिक जीवन के प्रकरण मे शारीरिक साहस का मूल्य कोई अर्थ नही रखता और अध-विश्वास पर आधारित श्रद्धा भी एक विरोधी तत्त्व है। इसी प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि बचत का आर्थिक सद्‌गुण, जोकि पूजीवादी सभ्यता के आरम्भ मे महत्त्व रखता था, धीरे-धीरे इस महत्त्व को खो रहा है। उसका कारण यह है कि आधुनिक समय के सुव्यवस्थित आर्थिक समाज मे उधार की प्रथा को अधिक व्यापक बनाया जा रहा है। इसी प्रकार आधुनिक परिस्थितियो मे सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा रखने की अपेक्षा सत्य तथा मानवता जैसे आदर्शो के प्रति श्रद्धा रखना अधिक वाछनीय माना जाता है। इसमे कोई सदेह नही कि आज भी जनसाधारण का बहुमत सद्‌गुण की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की अपेक्षा अधविश्वास से प्रेरित शारीरिक वीरता की अद्वितीय अभिव्यक्ति को अधिक सराहनीय

मानेगा। किन्तु यह भी सत्य है कि ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण अधिक सभ्य सद्‌गुणो को पहले की अपेक्षा अधिक सम्मान देने लगा है।

सद्‌गुणो की सापेक्षता एव परिवर्तनशीलता, समाज की विभिन्न उपयोगिताओ से भी सम्बन्धित है। जो क्रिया प्राचीनकाल मे उपयोगी मानी जाती थी, उसे उस समय सद्‌गुण स्वीकार किया जाता था और जो आधुनिक समय मे उपयोगी मानी जाती है, उसे वर्तमान मे सद्‌गुण स्वीकार किया जाता है। जबकि प्राचीनकाल मे सामान्य रूप से 'अच्छे मनुष्य' को सद्‌गुणसम्पन्न माना जाता था, आधुनिक समय मे अच्छे वायुयान-चालक, अच्छे व्यापारी अथवा अच्छे आकाश-यात्री (Cosmonaut) को सद्‌गुणसम्पन्न व्यक्ति माना जाता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक परिस्थितिओ मे सामान्य ज्ञान की अपेक्षा विशेषज्ञता को अधिक उपयोगी माना जाता है। यही कारण है कि आधुनिक समाज मे विभिन्न व्यवस्थाओ मे विभिन्न आचार के नियमो को स्थापित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, चिकित्सात्मक आचार-विज्ञान (Medical ethics) एव चिकित्सात्मक नैतिकता सदाचार के उन नियमो को प्रतिपादित करती है, जो चिकित्सको पर लागू होते हैं। ऐसे आचार-विज्ञान के अनुसार हर प्रकार से किसी व्यक्ति के जीवन को लम्बा करना चिकित्सक का कर्तव्य माना जाता है। इसी प्रकार वैधानिक आचार-विज्ञान (Legal ethics) के अनुसार एक वकील का कर्तव्य न्यायालय से न्याय प्राप्त कराना है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर और सद्‌गुण की सापेक्षता के कारण विभिन्न श्रेणियो मे विभक्त हो रहा है और सदाचार को समाज के प्रकरण मे सापेक्ष सिद्ध कर रहा है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान का यह लक्षण भारतीय आचार-विज्ञान की निरपेक्षता के लक्षण से सर्वथा विपरीत है। हम अंतिम अध्याय मे भारतीय तथा पश्चिमीय आचार-विज्ञान के इस भेद की व्याख्या करेगे और यह देखेगे कि कहा तक इन दोनो की यह विषमता समन्वय की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है। क्योकि यदि पूर्वीय और पश्चिमीय आचार-विज्ञान समन्वित हो सकते है, तो उन्हे एक-दूसरे का पूरक होना चाहिए। वास्तव मे यह सत्य है कि आचार के ये दो दृष्टिकोण एक-दूसरे के प्रतिकूल नही हैं, अपितु समन्वयात्मक है।

पश्चिमीय दर्शन मे सद्‌गुण की सापेक्षता की धारणा का मुख्य कारण यह है कि सद्‌गुण को कर्तव्य से सम्बन्धित ही माना जाता है। जब तक सद्‌गुण को केवल कर्तव्य से सम्बन्धित समझा जाएगा, तब तक वह कर्तव्य से अधिक न होने के कारण सापेक्ष ही रहेगा। एक चिकित्सक के सद्‌गुण वे नही हो सकते, जोकि एक कलाकार के हो और न ही एक पुजारी के सद्‌गुण वे हो सकते है, जोकि किसी वैज्ञानिक के हो। न ही केवल इतना, अपितु पुरुषो और स्त्रियो के सद्‌गुणो मे भी भेद होता है। जिन सद्‌गुणो के आधार पर हम पुरुषो की प्रशसा करते हैं, वे सभवतया स्त्रियो मे प्रशसनीय नही हो सकते। इन सभी विषमताओ का कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियो एव समाज के अगो का विभिन्न उपयोग होता है और उनके भिन्न कर्तव्य होते है। यही कारण है कि विभिन्न समाजो मे

और विभिन्न देशो मे सद्गुण की धारणा पृथक्-पृथक् होती है। जो कर्म एक स्थान पर अनैतिक और अवाछनीय माना जाता है, वह दूसरे स्थान पर प्रशसनीय और सद्गुण माना जाता है। उदाहरणस्वरूप, मॉनटेग का कहना है, "विश्व मे कोई भी वस्तु विधान तथा रीति-रिवाज की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील नही है। एक वस्तु एक स्थान पर अत्यन्त घृणास्पद होती है और दूसरे स्थान पर प्रशंसनीय होती है, जैसे कि लैसीडिमोनिया मे चोरी करने की चतुराई की प्रशसा की जाती थी।" उपर्युक्त सद्गुण-सम्बन्धी सापेक्षता के होते हुए भी, और सद्गुण की धारणाओ मे समय और स्थान के अनुसार परिवर्तन होते हुए भी कुछ गम्भीर चिन्तको ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि कुछ मानवीय सद्गुण ऐसे भी हैं, जोकि व्यापक है। ऐसे सद्गुण विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न रूप अवश्य ही धारण कर लेते हैं, किन्तु फिर भी उनमे स्थायित्व और समानता अवश्य रहते हैं। यदि हम ऐसे सद्गुणो को उनकी ऐतिहासिक तथा वातावरण-सम्बन्धी पृष्ठभूमि से पृथक् करे, तो हम अवश्य उनमे एक ऐसा व्यापक तत्त्व पाएगे, जोकि आकस्मिक उपाधियो के होते हुए भी स्थिर है और जो वास्तव मे उनका मूल आकार है। यदि हम इस अपरिवर्तनशील मूल आकार को ढूढ लें, तो हम अवश्य कुछ ऐसे व्यापक सद्गुण की सूची प्राप्त कर सकते है, जिनमे निरपेक्ष मूल्यो के लक्षण है और जो स्थायी तथा स्वलक्ष्य हैं। ऐसे ही स्थायी, स्वलक्ष्य और निरपेक्ष मूल्यो पर आधारित चार सद्गुणो को पश्चिमीय दर्शन के विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने चार मुख्य सद्गुण (Four cordinal virtues) कहा है।

इन चार मुख्य सद्गुणो को अरस्तू ने भी अपनाया है। इन सद्गुणो की विशेषता यह है कि ये सरलतम हैं और इनमे व्यापकता है। ये सद्गुण निम्नलिखित हैं :

(१) विवेक (Wisdom or Prudence)
(२) साहस (Courage)
(३) संयम (Temperance)
(४) न्याय (Justice)

ये चारो सद्गुण निस्सन्देह सर्वमान्य हैं और आज तक भी विश्व मे इनको वही मान्यता दी जाती है, जोकि इन्हे प्राचीनकाल मे प्राप्त थी। यद्यपि कुछ आलोचको ने इन सद्गुणो की निरपेक्षता के प्रति आपत्ति की है, तथापि सरलता की दृष्टि से यह सूची स्वीकार करने योग्य है। यह भी कहा जाता है कि प्रथम सद्गुण विवेक के अन्तर्गत, अन्य सभी सद्गुण सापेक्ष है। एक दृष्टि से विवेक की व्यापकता को स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि प्रत्येक सद्गुण पर आधारित क्रिया वही होती है जो विवेकपूर्ण होती है। यही कारण है कि सुकरात ने सद्गुण को ज्ञान माना था। यद्यपि इन त्रुटियो को दूर करने के उद्देश्य से अरस्तू ने एक अधिक व्यापक सूची बनाई थी, तथापि आधुनिक परिस्थितियो के अनुसार वे सद्गुण व्यापक नहीं माने जा सकते। इसलिए प्लेटो की सूची को ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व प्राप्त है।

इन चारो सद्गुणो को स्वतन्त्र और मुख्य माना गया है, क्योकि इनमे विषमता

होते हुए भी समानता का तत्त्व उपस्थित है। आधारभूत एव मुख्य सद्‌गुण वास्तव मे उन मानवीय गुणो तथा सस्कारो की अभिव्यक्ति है, जोकि नीचे के स्तर के मूल्यो की अपेक्षा ऊचे स्तर के मूल्यो के निर्वाचन की क्रिया के द्वारा विकसित होते है। उदाहरणस्वरूप, साहस को ले लीजिए। वह एक ऐसा सकल्प का गुण है, जोकि भय अथवा शारीरिक दु ख की उपस्थिति मे भी मनुष्य को दृढता देता है। यह सद्‌गुण सदैव स्वलक्ष्य होने के कारण प्रशसनीय होता है और इसके मूल्य का स्तर उतना ही ऊचा होता है, जितना कि वे मूल्य ऊचे होते है, जिनकी प्राप्ति के लिए भय अथवा दु ख का सामना किया जाता है। इसी प्रकार न्याय, व्यक्तिगत पक्षपात और हित की उपस्थिति मे तटस्थता धारण करने का दृढ सकल्प है। इसमे अन्य व्यक्तियो अथवा सामाजिक हितो की उपस्थिति मे सकल्प की दृढता का तत्त्व उपस्थित रहता है। इसी प्रकार विवेक का अर्थ सत्य को जानने के लिए और कर्म को ज्ञान पर आधारित करने के लिए दृढ निश्चय है। विवेक का यह अर्थ नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित है। अत विवेक सापेक्ष मूल्यो का वह ज्ञान है जोकि हमे इस योग्य करता है कि हम सभी वस्तुओ को सुव्यवस्थित क्रम मे रख सके। विवेक का अर्थ साधन तथा उद्देश्य का ज्ञान भी है।

इस दृष्टि से कुछ अन्य गुणो को भी सद्‌गुण माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, वचत का आर्थिक सद्‌गुण, काम से सम्वन्धित ब्रह्मचर्य का सद्‌गुण तथा सामाजिक दृष्टि से निष्ठा का सद्‌गुण भी चार मुख्य सद्‌गुणो के सदृश है। किन्तु यदि इन सद्‌गुणो की व्याख्या की जाए, तो इन सभीको चार मुख्य सद्‌गुणो के अन्तर्गत माना जा सकता है। इनमे वही समान तत्त्व उपस्थित रहता है, जो चार मूल सद्‌गुणो मे है। उदाहरणस्वरूप, वचत मे विवेक के अतिरिक्त संकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान आर्थिक सुख की अपेक्षा भविष्य के आर्थिक शुभ का निर्वाचन करने के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य एक प्रकार का सयम है, किन्तु इसका मूल तत्त्व भी सकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान शारीरिक कामवृत्ति की तृप्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट मूल्यो का निर्वाचन करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार सभी मूल्यो को चार मुख्य मूल्यो के अन्तर्गत किया जा सकता है।

ये चारो मूल सद्‌गुण या तो व्यक्तिगत विकास के मूल्य है या सामाजिक कल्याण को प्रेरित करनेवाले है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि इनको हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है। वास्तव मे व्यक्ति कदापि समाज से पृथक् नही हो सकता और जो सद्‌गुण व्यक्ति के विकास के लिए है, वही सामाजिक विकास के लिए भी उपयोगी होता है। अत एक दृष्टि से, चारो सद्‌गुण सामाजिक सद्‌गुण है। किन्तु साहस और सयम दो सद्‌गुण ऐसे है, जो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालते हैं और विवेक तथा न्याय ऐसे सद्‌गुण है, जिनका सीधा सम्बन्ध सामाजिक शुभ से है। यदि हम साहस का अर्थ, दु ख के भय का सामना करना एव दु ख सहन करने की वीरता समझे, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि साहस व्यक्तिगत जीवन मे हमे लोभ का विरोध करने की प्रेरणा

देता है। इसी प्रकार सयम भी हमे व्यक्तिगत जीवन के प्रलोभन से दूर रहने की प्रेरणा देता है। ये दोनो सद्गुण हमे जीवन मे स्थिरता लाने की प्रेरणा देते है। हमारे जीवन मे दो प्रकार के मुख्य प्रलोभन उपस्थित रहते है। एक तो वह प्रलोभन है, जो हमे दु ख से दूर भागने की प्रेरणा देता है। दूसरा वह प्रलोभन है, जो हमे सुख की ओर आकर्पित करता है। जो व्यक्ति पहले प्रकार के प्रलोभन से प्रभावित होता है, वह पलायनवादी कहलाता है और जो विषय-भोग आदि मे सलग्न हो जाता है, उसे सुखवादी कहते है। इन दोनो अवगुणो से बचने का एकमात्र उपाय साहस और सयम के द्वारा, बुद्धि की स्थिरता बनाए रखना है। जो व्यक्ति स्थिर बुद्धिवाला है, उसीमे ये दोनो सद्गुण उपस्थित रहते है। भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ एव स्थिर बुद्धिवाले व्यक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है .

"दु खेष्वनुद्विग्नमन' सुखेपु विगतस्पृह.।
वीतरागभयक्रोधो स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

अर्थात् "जो व्यक्ति दु ख मे घबराहट अनुभव नही करता और जो सुख मे आवश्यकता से अधिक प्रसन्नता का अनुभव नही करता और जो भय, क्रोध आदि मे सतुलित रहता है, वही व्यक्ति स्थितप्रज्ञ योगी कहलाता है।" भारतीय तथा पश्चिमीय आचारशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से, हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि बुद्धि की स्थिरता ही व्यक्तिगत सद्गुणो का लक्ष्य है और वही नैतिकता का उच्चतम आदर्श है। जिस प्रकार प्लेटो ने साहस और सयम के साथ-साथ विवेक को अनिवार्य सद्गुण बताया है, उसी प्रकार भगवद्गीता मे भी ज्ञान को सतुलित जीवन के लिए आधार माना गया है। कोई भी व्यक्ति तब तक सतुलित व्यक्तित्ववाला नही कहा जा सकता, जब तक कि वह साहस और सयम के साथ-साथ विवेक न रखता हो। जो व्यक्ति इन तीनो सद्गुणो का अनुसरण करता है, वह निस्सदेह न्याय का भी अनुसरण करेगा। इस प्रकार यद्यपि हम साहस और सयम को व्यक्तिगत जीवन के आधारभूत सद्गुण मानते हैं, तथापि सम्पूर्ण वैयक्तिक विकास के लिए विवेक तथा न्याय के सद्गुण भी उपयोगी होते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहस और संयम, प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत विकास के आधार हैं और विवेक तथा न्याय उसपर परोक्ष रूप से प्रभाव डालते है।

इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विवेक तथा न्याय व्यक्ति के उस व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं, जोकि वह अन्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे करता है। इन दो सद्गुणो मे भी न्याय का सद्गुण अधिक महत्त्व रखता है और विवेक न्याय का साधन-मात्र है। न्याय का सद्गुण बहुत व्यापक है। इसमे वे सभी सद्गुण समाविष्ट हो जाते है, जो व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को शुभ बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, भागीदारी को निभाना, विधान के अनुसार सभी कर्तव्यो का पालन करना, सत्यपरायण रहना, दृढप्रतिज्ञ रहना आदि सभी सद्गुण न्याय के सद्गुण मे समाविष्ट होते हैं। यदि हम इन सद्गुणो का विश्लेषण करे, तो हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि इन

सभीका पालन करने के लिए भी साहस, संयम तथा विवेक की नितान्त आवश्यकता रहती है। अत यद्यपि न्याय को ही एकमात्र सामाजिक सद्गुण स्वीकार किया जाता है, तथापि अन्य तीनो मूल सद्गुण भी इसमे समन्वित रहते है। अत हम यह कह सकते है कि चारो मूल सद्गुण व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए समान महत्त्व रखते हैं।

सद्गुणों का नैतिक महत्त्व

अरस्तू ने प्लेटो के दृष्टिकोण पर आधारित सद्गुणो की व्याख्या करते हुए मनुष्य की आत्मा के तीन अग स्वीकार किए है, जो निम्नलिखित है

(१) आत्मा का वनस्पतिभावात्मक अग (Vegetarı aspect of the soul)
(२) आत्मा का पशुभावात्मक अग (Anımal aspect of the soul)
(३) आत्मा का तर्कात्मक अग (Rational aspect of the soul)

नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य के तर्कात्मक अग को अधिक प्रभावशाली बनाना और उसके अन्य दोनो अगो को तर्क के अधीन करना है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो प्रथम स्तर उसे स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करते है और उसे प्रलोभन से आकर्षित होने पर वाध्य करते है। नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए एक ओर उन प्रेरणाओ का नियन्त्रण करना आवश्यक है, जोकि मनुष्य के वनस्पतिभावात्मक अग से तथा पशुभावात्मक अग से उत्पन्न होती है और दूसरी ओर तर्कात्मक अग को इस प्रकार विकसित करना है कि वह मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य की ओर ले जाए। सद्गुणो का उद्देश्य यही द्विविध उद्देश्य है। सद्गुण नैतिक जीवन की वह प्रक्रिया है, जोकि मनुष्य की प्रवृत्तियो को व्यवस्थित करती है। वह उसकी स्वच्छन्द प्रेरणाओ, भावनाओ तथा इच्छाओ को तर्कात्मक क्रिया प्रदान करती है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान के अनुसार सद्गुणो को दो विभिन्न श्रेणियो मे विभक्त किया जाता है ·

(१) व्यावहारिक सद्गुण (Practical vırtues)
(२) सैद्धान्तिक सद्गुण (Theoretıcal vırtues)

व्यावहारिक सद्गुण वे सद्गुण है, जोकि उन उच्च स्तरवाले सद्गुणो के निर्वाचिन मे सकल्प को स्थायित्व देते हैं, जोकि न्यून स्तरवाली प्रवृत्तियो को तिरस्कृत करने मे सहायता देते हैं। ये व्यावहारिक सद्गुण साहस, सयम, ब्रह्मचर्य आदि है। इस दृष्टि से व्यावहारिक सद्गुण वह सद्गुण है, जोकि तर्क के आधार पर दो अत्यन्त विरोधी दृष्टियो मे मध्यम मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। अरस्तू ने भी व्यावहारिक सद्गुण की यही परिभाषा स्वीकारकी है और सद्गुणको 'दो अत्यन्त विरोधी तत्त्वोका स्वर्ण मिश्रण'[1] कहा है। उदाहरणस्वरूप, साहस, कायरता तथा आवेश मे आने की प्रवृत्ति के दो विरोधी तत्त्वो के बीच का तत्त्व है एव उनका सुन्दर समन्वय है। अत व्यावहारिक दृष्टि से,

१ The golden mean between the two extremes.

सद्गुण का अर्थ तर्क के आधार पर समन्वय करने की प्रवृत्ति है। व्यावहारिक सद्गुण हमे वनस्पतिभावात्मक तथा पशुभावात्मक प्रेरणाओ को तर्कात्मक व्यक्तित्व के नियन्त्रण मे लाने के लिए सहायक होते हैं। इसके विपरीत सैद्धान्तिक सद्गुण वे सद्गुण है, जो हमारे व्यक्तित्व के विशुद्ध तर्कात्मक विकास के लिए सहायक होते है। उदाहरणस्वरूप, विवेक तथा अन्य ऐसे सभी सद्गुण, जोकि बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक स्वलक्ष्य मूल्यो से समन्वित है, सैद्धान्तिक सद्गुण हैं। ये सद्गुण व्यावहारिक सद्गुणो की अपेक्षा ऊचे स्तर पर होते है और क्षणिक सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट आनन्द को देनेवाले हैं।

पश्चिमीय आचारशास्त्रियो की धारणा है कि सैद्धान्तिक सद्गुणो एव आध्यात्मिक मूल्यो को व्यावहारिक सद्गुणो की अपेक्षा अधिक वाछनीय स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्लेटो और अरस्तू के समय मे भले ही सगत मानी गई हो, किन्तु वर्तमान युग मे, जबकि उपयोगितावादी वातावरण हमारी तर्क की धारणा पर प्रभुत्व जमाए हुए है, सैद्धान्तिक सद्गुणो को सर्वश्रेष्ठ नही माना जा सकता। यदि कोई श्रेष्ठ सैद्धान्तिक सद्गुण है, वे आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित न होकर उपयोगिता पर आधारित, जीवन के उच्चतम मूल्यो से समन्वित वैज्ञानिक सद्गुण हैं। वर्तमान समय मे आध्यात्मिक मूल्यो को श्रेष्ठ तो अवश्य माना जाता है, किन्तु यह स्वीकार नही किया जाता कि जो व्यक्ति इन मूल्यो को अपनानेवाले है, वे उन साधारण व्यक्तियो से श्रेष्ठ है जोकि व्यावहारिक सद्गुणो का अनुसरण करते है। पश्चिमीय आचारशास्त्र मे यह प्रवृत्ति प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित है और सैद्धान्तिक सद्गुणो को अव्यावहारिक घोषित करती है। यहा पर इस पश्चिमीय दृष्टिकोण की भारतीय दृष्टिकोण से तुलना करना अनुचित न होगा। हमने पहले भी बताया है कि भारतीय आचारशास्त्र की दृष्टि से अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष चारो मूल्यो को मनुष्य के जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। इन चारो मूल्यो मे से, अर्थ और काम को धर्म की अपेक्षा गौण माना जाता है और धर्म, अर्थ और काम को मोक्ष की अपेक्षा गौण स्वीकार किया जाता है। मोक्ष उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य है और धर्म एव नैतिकता उसका साधन है।

इसका अभिप्राय यह नही कि अर्थ और काम, जिनमे कि साहस और संयम की आवश्यकता रहती है, अवांछनीय मूल्य है। इसके विपरीत, इन दो मूल्यो को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के विना धर्म एव नैतिकता का अनुसरण करना असम्भव है और धर्म के विना मोक्ष का चरम लक्ष्य कदापि उपलब्ध नही हो सकता। पुरुषार्थों पर आधारित यह प्राचीन नैतिक सिद्धान्त निस्सन्देह व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणो एव नैतिकता का सुन्दर समन्वय है। इसके विपरीत, अरस्तू का व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणो का वर्गीकरण, विश्लेपणात्मक होने के कारण पार्थक्य तथा द्वैतवाद को जन्म देनेवाला है। हमे यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि पश्चिम मे सिद्धान्त और व्यवहार के पार्थक्य ने व्यवहार पर अधिक वल देकर, वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक विकास को इतना प्रश्रय दिया है कि आज मनुष्य प्रकृति पर शक्ति की दृष्टि से विजयी हो रहा है।

किन्तु इसके साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यो को केवल सैद्धान्तिक घोषित करके और उन्हे व्यावहारिक जीवन से पृथक् मानकर, उनकी इतनी अवहेलना की गई है कि पश्चिमीय जीवन मे व्यक्तित्व का आध्यात्मिक विकास आज तक भी पिछड़ा हुआ रह गया है।

इसका अभिप्राय यह नही कि भारतीय जीवन मे व्यक्तित्व का समन्वित विकास हुआ है। इसके विपरीत, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दुर्घटनाओ के कारण भारत मे भी जहा तक जनसाधारण के जीवन का सम्बन्ध है, सिद्धान्त और व्यवहार मे एक वडी खाई उत्पन्न हो गई है। भारतीय अध्यात्मवादियो ने मोक्ष के पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक वल देकर और निवृत्ति-मार्ग को ही उसका एकमात्र साधन मानकर भौतिक तथा व्यावहारिक मूल्यो का इतना तिरस्कार किया है कि कुछ सीमा तक भारतीय दृष्टिकोण मे निराशावाद उत्पन्न हो गया है। यही कारण है कि जव तक भारत परतन्त्र रहा, तव तक उसकी भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति अवरुद्ध रही। किन्तु इसके साथ ही साथ भारत के कोने-कोने मे, हर युग मे ऐसी महान आत्माओ ने जन्म लिया, जिन्होने कि आज तक भारतीय अध्यात्मवाद की पूजी को न ही केवल सुरक्षित रखा है, अपितु उन्होने एक समन्वित आदर्श जीवन व्यतीत करके प्रमाणित किया है कि व्यावहारिक जीवन मे आध्यात्मिक मूल्यो को लागू किया जा सकता है। भारतीय अध्यात्मवाद की यह अद्वितीय प्रगति और पश्चिमीय भौतिकवाद द्वारा उत्पन्न असीम शक्ति का सुन्दर समन्वय और सामंजस्य मानव-समाज के कल्याण का एकमात्र साधन प्रमाणित हो सकते है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही, हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि मूल्यो का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक वर्गीकरण यह नही वताता कि सद्गुण अथवा मूल्य, मूल रूप से किसी प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न करता है। इसके विपरीत सद्गुण विभिन्न होते हुए भी सामूहिक व्यवहार उत्पन्न करते है और यही समरूपता चरित्र-निर्माण का दूसरा नाम है।

यदि हम प्राचीनकाल के लोगो के व्यवहार पर दृष्टि डाले, तो हम यह अनुभव करेंगे कि वे भी शक्ति, वीरता, विश्वासपात्रता, सत्यपरायणता आदि मूल्यो की सराहना इसलिए करते थे कि ये मूल्य स्वलक्ष्य सद्गुण है और चरित्र-निर्माण की आधारशिला है। इसलिए ऐसे सद्गुणो को चरित्र-सम्बन्धी मूल्य भी कहा जाता है। ये चरित्र-सम्बन्धी मूल्य एव सद्गुण उन लोगो को प्रत्यक्ष तुष्टि प्रदान करते है, जिनमे कि ये मूल्य उपस्थित होते है। न ही केवल इतना, अपितु जो व्यक्ति चरित्र-सम्बन्धी मूल्यो को दूसरो मे उपस्थित देखता भी है, वह भी आनन्दित होता है और तुष्टि का अनुभव करता है। इस आनन्द का कारण यह है कि ये सद्गुण स्वलक्ष्य होते है। जिस प्रकार कि हम किसी कलाकारकी दक्षता की प्रशसा इसलिए करते है कि उसकी कला मे स्वलक्ष्य मूल्य है, इसी प्रकार हम पौरुषयुक्त साहस तथा आत्मत्याग की प्रशसा इसलिए करते है कि वह सद्गुण कला की भाति स्वलक्ष्य होता है। ऐसा करते समय हम उन परिणामो की ओर ध्यान नही देते, जो उस सद्गुण द्वारा प्रेरित कर्म की उत्पत्ति होते है। इसलिए चरित्र की उत्कृष्टता को ही सद्गुणो के विकास का आत्मिक लक्ष्य स्वीकार किया जाता है।

अरबन ने इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए यह कहा है कि सद्गुण चरित्र की उत्कृष्टता को उत्पन्न करने के साधन अवश्य है, किन्तु वे सम्पूर्ण चरित्र नही है। वे तो आत्मानुभूति के साधन हैं जबकि आत्मानुभूति न ही केवल स्वलक्ष्य शुभ है, अपितु वह परम शुभ है। अरबन के शब्दो मे, "वास्तव मे हम सद्गुणो को उनके लिए स्वलक्ष्य मूल्य देते हैं, क्योकि वे आत्मानुभूति के विभिन्न प्रकार है और आत्मानुभूति न ही केवल एक अन्तरात्मक मूल्य है, अपितु वह उच्चतम शुभ है। इसलिए ऐसे मूल्यो को एक दृष्टि से अन्तिम और आधारभूत माना जाता है, क्योकि इन (मूल्यो) का रखना, उस वस्तु का रखना है, जो अपने-आपमे शुभ है। ये मूल्य न ही केवल अच्छे जीवन के साधन है, अपितु शुभ जीवन की वास्तविक सामग्री का अग है अथवा जीवन के शुभ के स्वरूप एव स्वभाव की अभिव्यक्ति है।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि इन सद्गुणो का नैतिक मूल्य केवल इतना है कि वे नैतिक दृष्टि से मनुष्य के चरित्र का मूल्याकन करने मे सहायता देते है।

कुछ लोग सद्गुण की स्वलक्ष्यता का विरोध करते हैं और कहते है कि सद्गुणो का अनुसरण करना निरर्थक है। उदाहरणस्वरूप, विश्वयुद्ध के दौरान मे एक राजनीतिज्ञ ने यह घोषणा की थी कि युद्ध की विजय पहले ही प्राप्त हो चुकी है और कि उन मनुष्यो के नैतिक गुणो मे उसकी सगतता प्रमाणित हो चुकी है। इस प्रकार की घोषणाए सन्देह उत्पन्न करनेवाली होती हैं, क्योकि ज्यो-ज्यो युद्ध का समय व्यतीत हुआ, यह स्पष्ट हो गया कि ऐसी घोषणा सद्गुणो की भ्रान्त अभिव्यक्ति थी। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि चरित्र स्वलक्ष्य नही है। इसमें कोई सन्देह नही कि धैर्य, माता-पिता का आत्मत्याग, साहस तथा युद्ध मे नागरिको की विश्वासपात्रता ऐसे सद्गुण हैं, जोकि जीवन के लिए निमित्त मूल्य है। क्योकि नैतिक नियम जीवन के लिए होते है और जीवन नैतिक नियमो के लिए नही होता, इसलिए हम कह सकते है कि सद्गुण जीवन के लिए अस्तित्व रखता है न कि जीवन सद्गुण के लिए। यदि हम सद्गुणोका गम्भीर विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुचेगे कि इनकी उत्पत्ति और इनको आदर्श स्वीकार करने का कारण सार्वजनिक प्रवृत्ति को निरपेक्ष मूल्य स्वीकार करना है। यह सार्वजनिक वृत्ति मनुष्य के नैतिक स्वभाव पर ही आश्रित है। अतः सद्गुणो का महत्त्व यही है कि वे नैतिक मूल्याकन का मुख्य साधन हैं।

हमने अधिकारो और कर्तव्यो के नैतिक महत्त्व की व्याख्या पहले ही की है और बताया है कि ये दोनो सामाजिक दृष्टि से सापेक्ष हैं। ज्यो-ज्यो सामाजिक विकास होता

---

१. "The real reason that we value virtues for their own sake is that they are forms of self-realization and self-realization is not only an intrinsic good, but the highest good. Such values, then, are in a sense final and ultimate, since the possession of them is the possession of what is good in itself"

—Fundamentals of Ethics by W. M. Urban, Page 340.

है, अधिकारो और कर्तव्यो का स्वरूप स्वत ही परिवर्तित होता चला जाता है। अधिकारो और कर्तव्यो का सघर्ष राजनीतिक और वैधानिक समस्याएं उत्पन्न करता है। इसलिए प्रत्येक समाज मे व्यवस्था, विधान और अनुशासन की आवश्यकता रहती है। यह आवश्यकता इस वात का प्रमाण है कि मानवीय समाज नैतिक दृष्टि से पिछडा हुआ है। जव तक समाज मे अधिकारो और कर्तव्यो का सघर्ष रहेगा, जव तक पुलिस, सेना और न्यायालयो को समाज और राजनीति का अनिवार्य अग माना जाएगा और जव तक राष्ट्रो की परस्पर सन्धिया भंग होती रहेगी और युद्ध की सम्भावना रहेगी, तव तक मानव-समाज को पूर्णतया सभ्य और नैतिक कहना असगत होगा। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य की नैतिकता को जवतक वाह्यात्मक उपाधियो पर निर्भर रखा जाएगा, तव तक नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहेगी। अत. चरित्र-निर्माण की प्रशिक्षा प्रत्येक समाज के लिए हर युग मे आवश्यक और अनिवार्य रहेगी। चरित्र के प्रशिक्षण का अर्थ, मनुष्यो मे सद्‌गुणोके प्रति इतना आदर और प्रेम उत्पन्न करना है कि सच्चरित्र मानव-मात्र मे स्वत ही परिस्फुटित हो जाए। इस प्रकार सद्‌गुण, जोकि मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते है, सज्जनता तथा सच्चरित्रता का मूल आधार है और चरित्र-निर्माण का शाश्वत स्रोत है।

जिस व्यक्ति मे सद्‌गुण स्वभाव मे परिवर्तित हो जाते है, वह विना किसी बाहरी आदेश के सद्‌व्यवहार पर चलनेवाला हो जाता है। अव प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार से किसी व्यक्ति मे सद्‌गुणो को स्वभाव मे परिवर्तित किया जाए। इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि सद्‌गुण कोई सैद्धान्तिक धारणा नही है, अपितु एक ऐसा तत्त्व है जो वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखता है। सद्‌गुण का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है, किन्तु केवल ज्ञान ही सद्‌गुण को किसी व्यक्ति में विकसित नही कर सकता। अरस्तू ने यथार्थ ही कहा था कि सद्‌गुण एक सविकल्पक निर्वाचन का अभ्यास है। अरस्तू की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि चरित्र मे सद्‌गुण को विकसित करना सरल कार्य नही है। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम दृढ सकल्प की आवश्यकता है। इसलिए यह माना जा सकता है कि तपश्चर्या और कड़ा अनुशासन सद्‌गुणो के विकास के लिए अनिवार्य है। कड़े अनुशासन से मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है और जव एक बार किसी व्यक्ति का चरित्र एक विशेष रूप धारण कर लेता है, तो उस रूप का परिवर्तित होना कठिन हो जाता है। इस परिवर्तन के लिए कठोर नियमो पर चलने तथा तपस्या की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि मन तथा ज्ञानेन्द्रियो पर सयम रखना प्रत्येक धर्म तथा दर्शन मे सर्वोपरि माना गया है। कडा अनुशासन निस्सन्देह व्यक्ति के चरित्र को एक विशेष मार्ग पर चलाता है।

इसके अतिरिक्त चरित्र-निर्माण के लिए न ही केवल कडे अनुशासन की आवश्यकता है, अपितु उसमे ऐसे उदाहरणो की भी आवश्यकता है, जिनमे कि कुछ व्यक्ति व्यावहारिक रूप से सद्‌गुणो का आचरण करते हो। अग्रेज़ी भाषा मे कहा गया है, "व्यावहारिक

उदाहरण केवल धारणा प्रस्तुत करने की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।"[1] इसमे कोई सन्देह नही कि जिस प्रकार लोग बुरी आदतो का अनुकरण करते है और वे आदते एक छूत के रोगकी भाति तुरन्त फैल जाती है, उसी प्रकार सद्गुण भी मनुष्यो द्वारा अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ग्रहण किए जाते है। 'खरबूजे को देखकर खरबूजा रग बदलता है' का कथन सद्गुण के विषय मे चरितार्थ होता है। प्राय' लोग यह तर्क प्रस्तुत करते है कि जब बहुमत दुराचारियो का हो, तो वहा सदाचारियो की अल्पसख्या समाज मे नैतिक क्रान्ति उत्पन्न नही कर सकती । किन्तु ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त धारणा है। यदि एक व्यक्ति भी दृढप्रतिज्ञ होकर सदाचार का जीवन व्यतीत करता है, तो भी असख्य अन्य व्यक्ति उससे प्रेरित होकर सदाचारी बन जाते हैं। भारत के स्वतन्त्रता-सग्राम का इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गाधी जैसे सूक्ष्म शरीरवाला एक ही व्यक्ति, कोटि-कोटि मनुष्यो मे सत्य और अहिंसा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर सकता है और उन्हे सत्याग्रह का पालन करने पर प्रेरित कर सकता है। महात्मा गाधीके जीवन का उदाहरण एक ऐसा शाश्वत नैतिक स्रोत है, जिससे असख्य व्यक्तियो ने नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त की है और आगे आनेवाली पीढियो मे भी असख्य व्यक्ति ऐसी प्रेरणा प्राप्त करते रहेगे।

न ही केवल महापुरुष सदाचारी जीवन का प्रेरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, अपितु सामान्य व्यक्ति भी सद्गुण-रूपी रोग को छूत के रोग की भांति कोने-कोने मे प्रसारित कर सकते हैं । इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए एक वास्तविक उदाहरण देना आवश्यक है। अमरीका के एक विख्यात उद्योग-धन्धे का मैनेजर रेलगाडी के इजन निर्मित करके यूरोप के किसी राज्य से बेचने के लिए पत्र-व्यवहार कर रहा था । उस पत्र-व्यवहार मे जो वार्ता चल रही थी, उसमे राज्य-विशेष के अधिकारी यह चाहते थे कि उनको कम से कम मूल्य पर रेलवे के इजन प्राप्त हो जाए, चाहे उनके उत्पादन मे घटिया प्रकार की सामग्री भी क्यो न लगाई जाए । क्योकि इस विशेष उद्योग-धन्धे की सत्यपरायणता और उच्च कोटि की सामग्री का प्रयोग करने की ख्याति थी, इसलिए वह मैनेजर उस राज्य के लिए रेल के इजन निर्मित करने के लिए हिचकिचा रहा था। अन्त मे यह निश्चित हुआ कि समझौता करने के लिए मैनेजर यूरोप के उस राज्य मे स्वय जाए। अत वह मैनेजर वायुयान के द्वारा यूरोप को रवाना हुआ। मार्ग मे वह एक दिन के लिए लन्दन नगर मे अपने एक मित्र के पास ठहरा। सध्या के समय वह जब बाज़ार मे घूमने के लिए गया, तो उसने एक कपड़े की दुकान पर सुन्दर-सा एक सूट का कपडा देखा। क्योकि कपड़े का दाम बहुत कम था, इसलिए उस मैनेजर ने उसे तुरन्त खरीद लिया। उसने अपने मित्र से पूछा कि लन्दन मे सबसे अच्छे दर्ज़ी की दुकान कौन-सी है। मित्र से पता मालूम करके वह उस अच्छे दर्ज़ी की दुकान पर गया। दुकान के स्वामी ने उसका स्वागत किया और उससे पूछा कि वह उसकी क्या सेवा कर सकता

१. "Example is better than precept"

है । मैनेजर ने वह सुन्दर-सा सूट का कपडा उसे दिया और उससे प्रार्थना की कि उस कपड़े का सूट शीघ्र तैयार किया जाए । दर्ज़ी ने उस कपड़े का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने के पश्चात् तुरन्त ही कहा, "श्रीमन्, हमारे यहा इस कपडे का सूट तैयार नही किया जा सकता, क्योकि यह नकली कपड़ा है ।" मैनेजर ने कहा, "आप इस कपडे का सूट तैयार कर दीजिए और सिलाई का पूरा मूल्य ले लीजिए ।" दर्जी ने उत्तर दिया, "इस प्रकार के नकली कपडे के वस्त्रो पर हम अपनी विख्यात दुकान की छाप नही लगा सकते ।" मैनेजर ने सूट तैयार करने के लिए पुनः प्रार्थना की, "आप भले ही मेरे सूट पर अपनी दुकान का चिह्न मत लगाइए ।" दर्ज़ी ने तुरन्त उत्तर दिया, "श्रीमन्, मैं अपने कारीगरो के सच्चे परिश्रम को नकली कपड़े पर व्यय नही करना चाहता ।" यह सुनकर वह मैनेजर झुझला-सा गया और उस कपडे को उठाकर दर्जी की दुकान से बाहर निकला । किन्तु इस घटना से उसकी सत्यपरायणता प्रेरित हुई और वह विचार करने लगा, 'यदि एक सत्यपरायण दर्जी नकली कपडे पर अपने नाम का चिह्न लगाना अपमान समझता है, तो हमारे लिए भी घटिया प्रकार की सामग्री से रेलवे इजनो का निर्मित करना और उन-पर अपनी कम्पनी की छाप लगाना अपमानजनक है ।' ऐसा विचार करके उसने अपना दौरा स्थगित कर लिया और वापस अमरीका जाकर उस राज्य-विशेष को लिख दिया कि उनकी कम्पनी घटिया सामग्री का प्रयोग करके किसी भी अवस्था मे रेलवे इजन निर्मित नही कर सकती ।"

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि नैतिक शिक्षा के लिए किसी बल के प्रयोग करने की आवश्यकता नही है । प्रत्येक मनुष्य का अन्त करण सद्गुण ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है । अत जब वह किसी अन्य व्यक्ति को सद्गुण का अनुसरण करते हुए देखता हैं, वह तुरन्त उसे स्वय अपनाता है और स्वय अपनी भूल पर पश्चात्ताप भी करता है । यही कारण है कि चरित्र की प्रशिक्षा सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा उपदेश द्वारा नही दी जा सकती, अपितु साक्षात् व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा दी जा सकती है ।

इसी प्रकार सयम का अनुसरण करने से नैतिकता का स्वत ही विकास होता है। सयम का अर्थ वह आध्यात्मिक अनुशासन है, जो मनुष्य के अन्त करण को प्रेरित करता है और उसकी सुप्त नैतिक शक्ति को पुन जागरित कर देता है। पूर्व तथा पश्चिम मे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट धर्मों मे सयम को आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य साधन माना गया है। सयम हमारा ध्यान आन्तरिक जीवन की ओर ले जाता है और हमारे व्यक्तित्व का कायाकल्प कर देता है। भारत मे तो सयम को जीवन का मूल आधार माना गया है और कहा गया है कि "सयम खलु जीवनम्" अर्थात् "सयम ही जीवन है ।" जब किसी समाज मे थोडे-से व्यक्ति भी आदर्शों को अपने जीवन मे उतारते है और सयम का अनुसरण करके पूर्णत्व को प्राप्त करते हैं, वे जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करके, न ही केवल स्वय परम आनन्द का अनुभव करते है, अपितु सच्ची समाजसेवा के द्वारा अन्य प्राणियो का लाभ भी करते हैं । जिस समाज मे इस प्रकार नैतिकता का विकास होता है और जिसमे प्रत्येक

व्यक्ति सद्गुणो की प्रतिमूर्ति वन जाता है, तो उस समाज के लिए न तो किसी प्रकार के बाहरी अनुशासन की आवश्यकता रहती है और न उसे किसी प्रकार की नैतिक प्रशिक्षा से लाभ होता है। अतः सद्गुणो के विकास का व्यक्ति तथा समाज, दोनो के लिए भारी महत्त्व है। किन्तु अभी तक विश्व मे किसी भी ऐसे समाज की स्थापना नही हो सकी, जो सर्वगुणसम्पन्न हो, और जिसमे राजकीय अनुशासन और व्यवस्था की आवश्यकता न हो।

इसलिए प्रत्येक समाज मे नैतिकता की प्रगति के लिए नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है और नैतिक सुधारको का क्षेत्र वना रहता है। सद्गुणो के विकास के लिए जिन दो विधियो का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सामान्यतया उपयोगी रहती हैं। इनमे से सयम की विधि विशेष महत्त्व रखती है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, सयमी व्यक्ति वही है, जो अपनी इच्छाओ और भावनाओ को वुद्धि के अधीन करके समन्वित जीवन व्यतीत करता है। ऐसा व्यक्ति एक पूर्ण व्यक्ति होता है, किन्तु वह पूर्ण तभी हो सकता है, जव वह किसी लक्ष्य को एव उद्देश्य को सामने रखता है। पश्चिम के विख्यात साहित्यकार गेटे ने सत्य कहा है कि एक मनुष्य को या तो अपने-आपमे पूर्ण होना चाहिए या उसे पूर्ण मे सम्मिलित हो जाना चाहिए। इस प्रकार सद्गुणो का विकास चरम लक्ष्य की ओर सकेत करता है और वह चरम लक्ष्य नि सदेह पूर्ण ही है। ब्रैडले ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, "तुम उस समय तक पूर्ण नही हो सकते, जव तक कि तुम एक पूर्णमें सम्मिलित नही होजाते।"[१] अत चरित्र का सम्पूर्ण विकास तभी हो सकता है, जव हम किसी महान उद्देश्य की ओर दूसरो के सहयोग से प्रवृत्त हो जाए। उस महान उद्देश्य के प्रति नितान्त श्रद्धा तथा भक्ति का होना आवश्यक है। यदि चरित्र का विकास हमे पूर्णवाद को अपनाने के लिए वाध्य करता है, तो इसमे कोई सन्देह नही कि सद्गुणो का ग्रहण करना निरपेक्ष पूर्ण की ओर अग्रसर होना है।

अधिकारो, कर्तव्यो और सद्गुणो की उद्देश्यात्मक व्याख्या हमे अन्त मे एक ऐसे निरपेक्ष चरम लक्ष्य की धारणा को स्वीकार करने के लिए वाध्य करती है, जो ऐसा पूर्ण और ऐसा तत्त्वात्मक स्तर हो, जिसकी वास्तविक अनुभूति व्यक्ति को नैतिकता की उस पराकाष्ठा तक पहुचा दे, जिसको प्राप्त करके वह द्वैत से उठकर अद्वैत पर, अनेकतत्व से उठकर एकत्व पर एव सापेक्षता से उठकर निरपेक्षता पर पहुच जाता है। इसमे कोई सदेह नही कि ऐसी धारणा नैतिकता की उच्चतम धारणा है और मोक्ष की धारणा है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मोक्ष की नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-metaphysical) धारणा नैतिकता के सभी सिद्धान्तो के समन्वय की धारणा है। काट का 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' का सिद्धान्त इसलिए अमूर्त सिद्ध होता है कि वह किसी पूर्ण की प्राप्ति को लक्ष्य नही वनाता और इस प्रकार मनुष्य को नैतिक प्रशिक्षण नही देता, एवं उसके चरित्र का निर्माण नही कर पाता। मोक्ष की धारणा काट के सिद्धात की इस त्रुटि को दूर करती है, क्योकि वह आत्मा की पूर्णता मे विश्वास रखती है और मनुष्य को असत् से

१. "You cannot be a whole, unless you join a whole."

सत् की ओर, अधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाती है। इसी प्रकार सुखवाद की धारणा भी केवल इच्छाओ की कृति को उद्देश्य मानकर मनुष्य के पूर्णत्व की ओर ध्यान नही देती।

मोक्ष-प्राप्ति के जितने भी साधन भारतीय दर्शन मे प्रस्तुत किए गए है, उन सब-मे नैतिक जीवन व्यतीत करने का विधान है। यह विधान सयम द्वारा व्यक्ति मे सद्-गुणो को स्थायी रूप देता है। किन्तु हम यह जानते है कि वर्तमान समय मे इने-गिने व्यक्ति ही मोक्ष को जीवन का लक्ष्य बनाते है। अधिकतर मनुष्य तो सुखवादी जीवन को ही नैतिक जीवन स्वीकार करते हैं। किन्तु जब व्यावहारिक जीवन मे सुख की खोज मे भी सघर्ष उत्पन्न होता है, जब एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के दु ख का कारण बन जाता है और जब कोई स्वार्थी व्यक्ति समाज के नियमो का उल्लघन करता है और सद्गुणो की अपेक्षा हर प्रकार के अवगुणो का अनुसरण करने लगता है, तो सामाजिक और नैतिक न्याय की समस्याए खड़ी हो जाती हैं। ऐसी अवस्था मे, यह प्रश्न उठता है कि क्या सामा-जिक नियमो के उल्लघन करनेवाले व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड दिया जाए या न दिया जाए। यदि दण्ड को नैतिक मान भी लिया जाए, तो यह प्रश्न होता है कि दण्ड की सगतता किस तर्क पर आधारित है। ऐसे प्रश्नो का उत्तर देने के लिए, हमे दण्ड के मुख्य सिद्धान्तो (Main theories of punishment) का विश्लेषण करना होगा और यह बताना होगा कि इनमे से कौन-सा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। अत हम अगले अध्याय मे दण्ड के सिद्धान्तो की पूरी व्याख्या करेंगे और इसके साथ ही साथ सामा-जिक न्याय की व्याख्या भी करेंगे। दण्ड के सिद्धान्तो के पश्चात् ही हम मृत्युदण्ड तथा आत्महत्या जैसी समस्याओ का समाधान करने की चेष्टा कर सकते है।

तेरहवा अध्याय

दण्ड के सिद्धांतों का नैतिक महत्त्व

(Ethical Significance of the Theories of Punishment)

हमने पिछले अध्याय मे सद्‌गुणो के नैतिक महत्त्व का सिंहावलोकन किया है और इस परिणाम पर पहुचे है कि सद्‌गुण व्यक्तित्व के नैतिक विकास के लिए एव उसके पूर्णत्व के लिए अनिवार्य अवश्य है, किन्तु उनके अभाव के कारण समाज मे चरित्र के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यदि यह सत्य है कि सामाजिक अवगुणो को दूर करने के लिए और सद्‌गुणो के प्रसार के लिए समाज मे नैतिक शिक्षा की अपेक्षा है, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या यह प्रशिक्षा स्वत. ही मनुष्य के अन्तस् से परिस्फुटित हो सकती है अथवा उसको प्रेरित करने के लिए कुछ ऐसे सामाजिक विधान की भी आवश्यकता है, जिसके द्वारा नैतिक विकास को प्रोत्साहन दिया जाए। यह प्रश्न हमे नैतिक न्याय के क्षेत्र मे प्रवेश करने पर बाध्य करता है और हमे यह जानने के लिए प्रेरित करता है कि जिस प्रकार एक नव-जात शिशु को सुख और दु ख का अनुभव एव पारितोषिक और दण्ड की व्यवस्था अच्छी आदतो के निर्मित करने मे सहायक सिद्ध होती है, क्या उसी प्रकार समाज के नैतिक विकास मे भी शुभ कर्म की प्रशसा और अशुभ कर्म की निन्दा सहायक हो सकती है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीनकाल से ही मनुष्य न्याय तथा दण्ड के द्वारा, नैतिकता का विकास करता चला आया है। इसका कारण यह है कि नैतिकता निस्सन्देह एक सामाजिक तत्त्व है और सर्वथा सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मनुष्य भी स्वभाव से सामाजिक प्राणी है और उसकी यह सामाजिक प्रवृत्ति उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह समाज में एक सम्मानित व्यक्ति कहलाए और इस सम्मान के लिए हर प्रकार का त्याग करे। जब उसे सदाचार के लिए समाज मे सम्मान प्राप्त होता है और दुराचार के लिए अपमान का सामना करना पडता है, तो उसकी यह प्रवृत्ति अधिक तीव्रता से प्रेरित होती है और वह स्वत ही अपने-आपमे सदगुणो का विकास करता है। प्राचीनकाल मे तो सामाजिक बहिष्कार को मृत्यु के दण्ड से भी अधिक भय-कर माना जाता था। आधुनिक युग मे जबकि व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता है और जबकि सम्प्रदाय और धर्म के आधार पर सामाजिक बन्धनो को खुलकर तोडा जा रहा है, सम्भवतया ऐसा विचार किया जा सकता है कि नैतिक विकास के लिए भय और दण्ड का कोई भी स्थान नही है। किन्तु ऐसी धारणा भी एकपक्षीय धारणा है। यदि हम इस

समस्या पर गम्भीर चिन्तन करे, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि कुछ सीमा तक यह कथन आज भी हमारे जीवन मे चरितार्थ होता है कि "विधान का भय ज्ञान का प्रथम चरण है।"[1]

इसमे कोई सन्देह नही कि आज जो भय मनुष्य को नैतिकता की ओर आकर्षित करता है, वह किसी अन्धविश्वास पर आधारित नही है। आज मनुष्य सामाजिक वहिष्कार से इसलिए भयभीत नही होता कि वह अपनी आवश्यकताओ के लिए, अपने सम्प्रदाय पर निर्भर न होकर यन्त्रो पर निर्भर है। आज यदि कोई रूढिवादी समाज किसी व्यक्ति को अन्तर्जातीय विवाह करने पर उसका हुक्का-पानी बन्द भी कर दे, तो भी वह व्यक्ति सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है, जबकि प्राचीनकाल मे इस प्रकार का वहिष्कार मृत्युदण्ड से भी भयकर माना जाता था। वर्तमान प्रगतिशील युग मे ऐसे बहिष्कार का कोई महत्त्व नही है, क्योकि इस प्रकार का दण्ड अज्ञान, सकुचितहृदयता और रूढिवाद पर आधारित है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति इस प्रकार के रूढिवाद का विरोध करता है, उसे शिक्षित समाज सम्मानित करता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि परम्पराओ के विरोध को ही नैतिकता स्वीकार कर लिया जाए। मानव-समाज मे कुछ ऐसी शाश्वत परम्पराए भी है, जो जाति-सम्प्रदाय और देश की सीमाओ से ऊपर उठ जाती हैं और जिनका उल्लघन करना प्रत्येक सामान्य मानव के लिए सर्वत्र वर्जित माना जाता है। हमने जिन मानवीय अधिकारो और कर्तव्यो का उल्लेख पहले किया है, वे ऐसी ही व्यापक मानवीय परम्पराए है। आज भी यदि विश्व के किसी भी भाग मे, इन कर्तव्यो और अधिकारो का उल्लघन किया जाता है,तो प्रत्येक सामान्य मनुष्य उस उल्लघन पर खेद प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का उल्लघन मानव-मानव मे भेद उत्पन्न करता है और सदैव अन्याय पर आधारित होता है। यदि मनुष्य आज रूढिवाद से भयभीत नही है, वह अन्याय से अवश्य भयभीत होता है। यदि मनुष्य सद्गुणो से प्रेम करता है, तो उसे अवगुणो से घृणा करनी होगी। यदि वह न्याय को वाछनीय स्वीकार करता है और उससे आकर्पित होता है तो उसे अन्याय को अवाछ-नीय मानकर अन्याय के प्रति विकर्षण और तिरस्कार का व्यवहार करना होगा। इससे यह प्रमाणित होता है कि समाज मे आज भी भय का स्थान है।

मनुष्य की अन्याय के प्रति विरोध की भावना न्याय की माग के रूप मे अभि-व्यक्त होती है। इस भावना मे दो पक्ष हैं। एक तो वह पक्ष है, जोकि उसके क्रोध एव उसकी वदला लेने की भावना को अभिव्यक्त करता है। उसका यह पक्ष न्याय की माग करने का मूलप्रवृत्यात्मक आधार है। इस भावना से प्रेरित होकर न्याय की माग करने-वाला व्यक्ति यह चाहता है कि जिस व्यक्ति अथवा समूह ने उससे अन्याय किया है, वह उससे वैसा ही व्यवहार करे, अर्थात् वैसा ही अन्याय करे, जैसाकि उस व्यक्ति के साथ किया गया है। इस प्रकार की न्याय की माग प्राचीनतम समाज मे उपस्थित थी। यह

१ "Fear of the law is the beginning of wisdom."

भावना सस्कृत मे इस प्रकार व्यक्त की गई है, "शठे शाठ्यं समाचरेत्," अर्थात् "दुष्ट व्यक्ति से दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए।" न्याय की इस धारणा को असभ्य न्याय (Wild justice) कहा जाता है और इसकी अभिव्यक्ति 'हत्या का प्रतिशोध हत्या' के कथन मे होती है। न्याय की नैतिक धारणा का विकास काफी समय के पश्चात् हुआ है। असभ्य न्याय को प्रतिशोधात्मक (Retributive) न्याय का नाम दिया जाता है। दण्ड के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए हमे इस प्रकार के न्याय की धारणा का पुन-विश्लेषण करना होगा। यह न्याय वितरणात्मक (Distridative) न्याय से विभिन्न है, क्योकि वितरणात्मक न्याय का सम्बन्ध जीवन की सुविधाओ के वितरण से है। न्याय की परिभाषा देने के लिए हमे इन दोनो पक्षो की ओर ध्यान देना होगा। न्याय का दूसरा पक्ष वितरणात्मक पक्ष है।

न्याय की परिभाषा देते हुए अरबन ने लिखा है, "रोम के विधान के अनुसार, न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को 'उसका उचित भाग देना है।' इस अभिव्यक्ति मे छिपी हुई भावना, आधुनिक भाषा मे, उस समय अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम एक मनुष्य के विषय मे कहते है 'वह उसी वस्तु को प्राप्त करता है जोकि उसका भाग है।' "[1] यदि हम इस अभिव्यक्ति का विश्लेषण करे तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि इसमे न्याय के दोनो तत्त्व उपस्थित है। जब हम यह कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका भाग देना न्याय है, तो यह स्पष्ट है कि हम जीवन की सुविधाओ के वितरण को न्यायसगत मानते है और इस प्रकार न्याय के वितरणात्मक पक्ष की रक्षा करते है। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति को उसका भाग देने का अर्थ उसको उसका अधिकार देना है। इस प्रकार इसमे न्याय का सम्बन्ध अधिकारो मे है। हम यह कह सकते हैं कि न्याय व्यक्तियो की यथार्थ आकाक्षाओ की तृप्ति है। दूसरे शब्दो मे, वह उसके उचित अधिकारो की स्वीकृति है। यदि कोई व्यक्ति सतत परिश्रम करता है और फिर भी जीवन-निर्वाह के योग्य धन प्राप्त नही कर सकता, तो वह ऐसा विचार करता है कि विश्व मे न्याय नही है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति आवारा और अकर्मण्य हो और उसे ससार की सभी सुविधाए प्राप्त हो, तो भी हम ऐसा अनुभव करते है कि ससार मे अन्याय है।

न्याय की व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके नैतिक आशय और वैधानिक (Legal) आशय के भेद को स्पष्ट करे। नैतिक दृष्टि से न्याय का अर्थ सद्गुण एवं नैतिक शुभ है और विधान की दृष्टि से इसका अर्थ, बिना किसी पक्षपात के

---

१. "Justice, according to Roman law is 'giving everyone his due' The feeling that underlies this expression is even better expressed in our modern slang, when we speak of a man 'getting what is coming to him' In this expression are incuded several deas, which are inseparable from the notion of justice."

—Fundamentals of Ethics by W. M. Urban, Page 210.

नियमो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा करना है। जब हम यह कहते है कि अमुक व्यक्ति न्यायशील है, तो हम 'न्याय' शब्द को नैतिक दृष्टि से प्रयोग मे ला रहे होते हैं। इसके विपरीत जब हम यह कहते है कि अमुक नियम अथवा अमुक राज्य न्यायसगत है, तो हम न्याय का अर्थ वैधानिक दृष्टि से कर रहे होते है। जब हम न्याय के इन दो अर्थो को स्पष्ट नही करते, तो इस शब्द के प्रयोग मे अस्पष्टता एव भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किन्तु न्याय के इन दोनो दृष्टिकोणो का स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। अत. सिजविक जैसे विद्वानो ने इस समस्या पर प्रकाश डाला है। जब हम न्याय को सगतता एव पक्षपातरहित व्यवहार कहते है, उसमे भी या तो हम शुभ एव सद्गुणो के वितरण का प्रकरण दे रहे होते है अथवा अशुभ एव अवगुणो के वितरण का। जब हम न्याय के द्वारा उन व्यक्तियो के प्रति निर्णय देते है जिन्होने अशुभ का आचरण किया है, तो हमारा वह निर्णय दण्ड का निर्णय होता है। जब हम न्याय के द्वारा शुभ का वितरण करते हैं, तो हमारा वह न्याय पारितोषिक एव अच्छा फल देनेवाला न्याय होता है। पहले प्रकार का न्याय समाज को सुधारने का (Corrective) न्याय होता है और दूसरी प्रकार का न्याय वितरणात्मक होता है। अनेक बार न्याय शब्द का प्रयोग सुधारने की दृष्टि से किया जाता है। अत यह कहा जाता है कि न्याय करने का अर्थ दण्ड देने की व्यवस्था है। इससे पूर्व कि हम दण्ड के सिद्धान्तो की व्याख्या करे, जोकि न्याय के सुधारात्मक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है, वितरणात्मक न्याय की व्याख्या करना आवश्यक है।

अरवन का कहना है कि विधानात्मक न्याय तथा नैतिक न्याय मे अन्तर यह है कि पहले प्रकार का न्याय आदर्श न्याय नही है, जबकि हम नैतिक न्याय को आदर्शात्मक कह सकते है। नैतिक न्याय, राजनीतिक विधान की अपेक्षा उत्कृष्ट विधान को ही आर्दश मानता है। इसका कारण यह है कि मानवता के उचित अधिकारो तथा राजनीतिक विधान एव उस विधान द्वारा सुरक्षित सस्थाओ मे परस्पर सघर्ष है। हम यह जानते है कि विधान का नैतिकता से प्राय सघर्ष उत्पन्न होता है। इसी सघर्ष के कारण ही ससार मे अनेक युद्ध लडें जाते है। हमने इस प्रकार के एक सघर्ष का उदाहरण अधिकारो के सम्बन्ध मे दिया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैधानिक न्याय केवल औपचारिक है और औपचारिक रूप से ही प्रत्येक मनुष्य के अधिकार को स्वीकार करता है। विधान इस दृष्टि से एक प्रकार का रूढिवादी न्याय प्रस्तुत करता है और अपनी सीमाओ से बाहर नही जाता। उसका नैतिकता से न्यूनतम सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध भी इसलिए होता है कि उस नैतिकता की न्यूनतम मात्रा के बिना समाज का स्वास्थ्य सुरक्षित नही रह सकता। इस प्रकार वैधानिक न्याय केवल इतना प्रतिपादित करता है कि मनुष्य केवल अपना भाग प्राप्त कर सकता है और उसके कुछ मूलभूत स्वाभाविक अधिकार सुरक्षित रखे जा सकते हैं। इस सुरक्षा मे विधान के सामने सभी व्यक्ति समान हैं। इस प्रकार जब भी विधान को लागू किया जाता है और उसका अर्थ किया जाता है, तो उसमे स्वतन्त्रता के अधिकार तथा उस

स्वतत्रता की सुरक्षा को असगत घोषित करने की धारणा उपस्थित रहती है। इस प्रकार नैतिक न्याय मे औपचारिकता तथा वैयक्तिक भावना की प्रधानता रहती है। इसी दृष्टि से विख्यात नैतिक विचारक सिजविक ने वैधानिक न्याय को सकीर्ण न्याय (Conservative justice) कहा है। न्याय की यह धारणा नैतिक दृष्टि से उपयोगी नही है, क्योकि वह एक अमूर्त धारणा है। इसी विचार को पुष्ट करते हुए अरवन ने लिखा है, "विधान की सकीर्णता की भावना अनेक वार उसे न ही केवल कठोर, अपितु मूर्खतापूर्ण प्रमाणित करती है। विधान अनेक मानवीय मूल्यो की अवहेलना तो करता है, किन्तु वह जिन मूल्यो को स्वीकार करता है, उन्हे आवश्यकता से अधिक दृढता से लोहे के हाथ से जकड़कर रखता हैं।"[1]

इसका अभिप्राय यह है कि वैधानिक न्याय केवल स्वतंत्रता के अधिकार पर ही वल देता है और इस वात की अवहेलना करता है कि व्यावहारिक जीवन मे इस अधिकार की कुछ सीमाए होती हैं। यदि इन सीमाओ को स्वीकार न किया जाए, तो नैतिकता का पालन नही हो सकता और मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास भी नही हो सकता। उदाहरणस्वरूप, यदि जीवन के अधिकार मे स्वतत्रता निहित है, तो इस स्वतंत्रता का उस समय तक कुछ अर्थ नही रहता, यदि जीवन के कुछ साधन उपलब्ध न हो। अत. जीवन के अधिकार का अर्थ जीने की औपचारिक स्वतन्त्रता-मात्र नही है, अपितु इससे कुछ अधिक है। नैतिक न्याय जीने की कोरी स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है और उन साधनो और सुविधाओ की अवहेलना करता है, जोकि जीवन को वनाए रखने के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। इसी प्रकार अन्य अधिकारो मे भी, केवल औपचारिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना जीवन के विकास के लिए पर्याप्त नही है।

नैतिक न्यायमे अथवा आदर्शात्मक न्याय मे जो वितरणात्मक तत्त्व है, वह वैधानिक न्याय की औपचारिकता मे नही है। वैधानिक न्याय का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति को सीमित रूप मे कुछ अधिकारो को प्राप्त करने का अवसर देना अवश्य है। इस दृष्टि से पक्षपात से रहित होने की चेष्टा एव वैधानिक समानता देने के लिए, वैधानिक न्याय को अनिवार्य रूप से शुभ जीवन की कुछ उपाधियो को न्यायसगत रूप से वितरित करने की चेष्टा करनी पडती है। किन्तु वितरणात्मक न्याय इससे कुछ अधिक होता है। इस न्याय मे शुभ जीवन की अत्यावश्यक उपाधियो के अतिरिक्त अन्य मूल्यो के वितरण की आवश्यकता रहती है। अत वितरणात्मक न्याय, एक उच्च प्रकार का एव आदर्श न्याय है और यही न्याय नैतिकता का मूल आधार है। वितरणात्मक न्याय की इस व्याख्या के पश्चात् हम दण्ड के सिद्धान्तो के आशय को भली भाति समझ सकते हैं और इस निष्कर्ष

---

१. "The conservative spirit of law makes it seem at times not only callous but also stupid Law may seem to be blind to many human values, but those which it does see, it sees very clearly and in the main holds on to with a grip of iron"

—Fundamentals of Ethics by Urban, Page 219.

पर पहुच सकते है कि वैधानिक न्याय कहा तक नैतिक न्याय से सम्वन्धित है और वह नैतिक उत्तरदायित्व मे क्या महत्त्व रखता है।

दंड

दड की धारणा नि सदेह एक सामाजिक धारणा है। किन्तु इसका आधार न्याय का स्वाभाविक सिद्धान्त है। न्याय के स्वाभाविक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक रूप से यह भावना रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मो का फल अवश्य मिलना चाहिए। इस धारणा के विपरीत, जो प्राचीन धार्मिक धारणा है, उसके अनुसार अन्याय करनेवाला व्यक्ति स्वत ही उसका फल प्राप्त करता है। क्योकि जब वह किसी व्यक्ति से अन्याय करता है, तो उसे आत्महीनता का अवश्य अनुभव होता है। ऐसा करते समय वह मानवता के स्तर से च्युत हो जाता है। इस प्रकार वह व्यक्ति अन्याय करते समय अपने दु ख का कारण स्वय बन जाता है। कुछ सीमा तक तो यह सत्य है कि अनैतिक कर्म करनेवाला व्यक्ति अवश्य आत्महीनता के भाव के कारण मानसिक दु ख का अनुभव करता है। यदि इस तथ्य को व्यापक भी मान लिया जाए, तो भी अन्य व्यक्ति उसके इस आन्तरिक दु ख को नही देख सकते और वे ऐसा समझते है कि उस व्यक्ति को अनैतिकता का दड नही मिला। यदि यह सत्य है कि मनुष्य मे किसी प्रकार के जन्मजात सस्कार नही होते और उसके चरित्र का निर्माण सर्वथा बाहरी परिस्थितियो पर निर्भर रहता है, तो यह सत्य होगा कि कुछ व्यक्ति जो आरम्भ से अन्याय और अनैतिकता को अपना लेते हैं, वे कदापि अनैतिक कर्म करने के पश्चात् आत्महीनता की भावना का अनुभव न करते होगे। यदि इसके विपरीत यह स्वीकार कर लिया जाए कि कुछ व्यक्ति जन्मजात सस्कारो के अनुसार स्वभाव से ही नैतिक और कुछ स्वभाव से ही अनैतिक होते हैं, तब भी यह बात स्पष्ट है कि कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य है, जो अनैतिक कर्म करने पर अन्त करण की ग्लानि का अनुभव नही करते। उपर्युक्त दोनो अवस्थाओ मे, निष्पक्ष तर्क हमे इस निष्कर्ष पर पहुचने के लिए बाध्य करता है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मो के अनुसार अवश्य फल प्राप्त होना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमे दड की समस्या को समझने की प्रेरणा देता है।

नैतिक दृष्टि से भी सज्जनता को प्रोत्साहन देना और दुष्टता का दमन करना समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। चाहे हम धर्म मे विश्वास रखते हो या न रखते हो, हमारी बुद्धि हमे यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है कि धर्मात्मा एव नैतिक व्यक्ति मानव-मात्र की प्रगति के लिए सघर्ष करता है और दुर्गुणो का अनुसरण करने-वाला व्यक्ति सदाचार के आदर्श का विरोधी है। इसलिए सामान्य व्यक्ति की यह इच्छा रहती है कि वह सदाचारी व्यक्ति की सहायता करे और दुराचारी व्यक्ति का विरोध करे। पश्चिमीय आचार-विज्ञान सदाचार तथा दुराचार की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। भारतीय आचारशास्त्र मे आदिकाल से ही इन दो प्रवृत्तियो को

स्वीकार किया गया है। सदाचार की प्रवृत्ति को दैवी सम्पत् और दुराचार की प्रवृत्ति को आसुरी सम्पत् कहा गया है। भगवद्गीता के सोलहवे अध्याय मे दैवी और आसुरी सम्पत् की जो व्याख्या दी गई है, उसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। दैवी सपत्-वाले व्यक्ति मे अहिंसा, सत्य, क्रोध से मुक्ति, त्याग, शान्ति, दया, अन्य प्राणियो के प्रति प्रेम, सौजन्य, क्षमा, साहस, पवित्रता आदि गुण स्वभाव से ही उपस्थित होते है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्वाले व्यक्ति मे दम्भ, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि जैसे अवगुण स्वभाव से उपस्थित होते है। आसुरी सम्पत्वाला व्यक्ति ध्वस करनेवाला, लोभी, पाखडी और दूसरो के दु:ख मे प्रसन्नता अनुभव करता है। वह अनेक चिन्ताओ मे मग्न रहता है और इच्छाओ की तृप्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। वह अन्यायपूर्ण विधियो से धन एकत्र करता है और इच्छाओ की निरकुश तृप्ति मे लगा रहता है। इसके विपरीत, दैवी सम्पत्वाला व्यक्ति सदैव दूसरो की भलाई मे प्रवृत्त रहता है।

यदि यह सत्य है कि नैतिक व्यक्ति, जनहित और जनकल्याण के लिए जीवन व्यतीत करता है और अनैतिक व्यक्ति स्वार्थ के लिए दूसरो को हानि पहुचाता है, तो तर्क हमे इस बात पर प्रेरित करता है कि दैवी सम्पत् के प्रोत्साहन के लिए और आसुरी सपत् के दमन के लिए किसी न किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। मैकन्जी ने भी इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए कहा है कि अनैतिक एवं दुष्ट व्यक्ति का जीवन मे सफल होना और धर्मपरायण व्यक्ति का असफल होना सर्वथा असगत है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्राय सद्गुणो का आचरण करनेवाला व्यक्ति पहले दु ख और अन्त मे सुख का अनुभव करता है, किन्तु फिर भी एक सामान्य व्यक्ति की यही भावना रहती है कि नैतिक व्यक्ति का प्रोत्साहन और अनैतिक व्यक्ति का विरोध सर्वथा वाछनीय है। प्राचीनकाल मे भले ही ऐसी भावना प्रतिशोध की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई हो, किन्तु आधु-निक समाज मे अनैतिकता की रोकथाम की प्रवृत्ति नि सन्देह मनुष्य के तर्कात्मक स्वभाव पर आधारित है। हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि तभी हो सकती है, जब हम दण्ड के विभिन्न सिद्धान्तो की पूरी व्याख्या करे।

दण्ड के सिद्धान्त

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि सदाचार के लिए प्रशंसा और दुरा-चार के लिए निन्दा की प्रवृत्ति से ही समाज मे दण्ड की प्रथा आरम्भ हुई। प्राचीनकाल से ही समाजिक नियमो को भग करने पर व्यक्ति को दण्ड दिए जाने की प्रथा का अनु-सरण किया जा रहा है। आधुनिक समाज मे भी अपराध करनेवाले व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है। कुछ रूढिवादी समाजो मे अब तक भी किसी सामाजिक नियम को भग करने-वाले व्यक्ति को सम्प्रदाय से वहिष्कृत कर दिया जाता है। किन्तु शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ ऐसे दण्डो की प्रथा भी समाप्त होती चली जा रही है। कुछ ही वर्ष पूर्व

विद्यालयो मे छात्रो को पढाई न करने पर दण्ड दिया जाता था। किन्तु आजकल यह प्रथा भी लुप्त हो गई है। अव केवल अपराध करनेवाले व्यक्तियो को ही राज्य-शासन द्वारा विभिन्न प्रकार का दण्ड दिया जाता है। अपराध के क्षेत्र मे अभी तक सबसे अधिक उन्नत देशो मे भी दण्ड की प्रथा का अन्त नही हुआ है। इसका कारण यह है कि यदि किसी समाज मे अपराध एव अनैतिक कर्म करने की रोकथाम के लिए दण्ड की व्यवस्था न की जाए, तो समाज का ढाचा ही छिन्न-भिन्न हो जाए। इसलिए दण्ड की प्रथा भले ही परिवर्तित हो गई हो, किन्तु उसका आज भी ससार के कोने-कोने मे महत्त्व है। न ही केवल अपराध के क्षेत्र मे, अपितु समाज मे भी आज तक परिवर्तित रूप मे दण्ड की प्रथा प्रचलित है। यदि सम्प्रदायवादिता और सकुचित हृदयता के अभाव से वहिष्कार (हुक्का-पानी वन्द) की प्रथा आज सभ्य समाज मे नही है, फिर भी विभिन्न व्यवसायो के सघो मे सस्थाओ के नियमो को भग किए जाने पर व्यक्ति को जुर्माने आदि का दण्ड अवश्य दिया जाता है। अत दण्ड की प्रथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे आज भी प्रचलित हे। इसका कारण यही है कि दण्ड, समाज की किसी न किसी आवश्यकता को पूरा कर रहा है। यह प्रकृति का नियम है कि जव कोई भी प्रथा समाज के लिए उपयोगी सिद्ध न हो, तो वह स्वय ही लुप्त हो जाती है। दण्ड की उपयोगिता को सामने रखते हुए, विचारको ने विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए है। दण्ड के तीन मुख्य सिद्धान्त माने गए है, जोकि दण्ड के उद्देश्य पर प्रकाश डालते है। ये तीन सिद्धान्त निम्नलिखित है

(१) निरोधात्मक अथवा रोकथाम (Preventive or deterrent) का सिद्धान्त ,

(२) प्रशिक्षणात्मक अथवा सुधारात्मक (Educative or reformative) सिद्धान्त ;

(३) प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धान्त।

अव हम इन सिद्धान्तो की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे और यह जानने की चेष्टा करेंगे कि इनमे से कौन-सा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से महत्त्व रखता है।

निरोधात्मक अथवा रोकथाम का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार, दड का उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा अन्य कोई भी व्यक्ति अपराध करने का साहस न करे। जव एक व्यक्ति को उसके अपराध के लिए दड दिया जाता है, तो अन्य व्यक्ति इससे भयभीत होकर, भविष्य मे सद्व्यवहार करते है और इस प्रकार समाज मे अपराध की रोकथाम होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार दड देनेवाला निर्णायक निम्नलिखित नियम का अनुसरण करता हुआ निर्णय देता है, "तुम्हे भेडो को चुराने के लिए दड नही दिया जा रहा, अपितु इसलिए दड दिया जा रहा है कि भविष्य मे भेडो की चोरी न हो।" दड का यह दृष्टिकोण नि सदेह नैतिकता के विरुद्ध है। इसके अनुसार, मनुष्य को स्वलक्ष्य न मानकर एक साधन-मात्र स्वीकार किया

जाता है। एक विकसित नैतिक चेतना के अनुसार, मनुष्य को सदैव स्वलक्ष्य ही स्वीकार किया जाएगा। यदि मनुष्य को अन्य व्यक्तियो की शिक्षा के लिए साधन-मात्र माना जाए, तो दड की प्रथा को नैतिक दृष्टि से समाप्त ही करना पड़ेगा। नैतिक न्याय के अतिरिक्त, तर्क की दृष्टि से भी दंड के इस सिद्धान्त को असगत ही स्वीकार किया जाएगा। यदि किसी व्यक्ति को उसके अपराध के लिए दड नही दिया जाता, तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि मनुष्य को उसके कर्म का फल नही दिया जा रहा। इस प्रकार की दृष्टि मे तर्कात्मक न्यायशीलता नही है। निर्णायक को निर्णय देते समय किसी प्रकार का पक्षपात नही करना चाहिए और अपनी भावनाओ के आधार पर निर्णय नही देना चाहिए। विधान भी निर्णायक को तटस्थ रहने का आदेश देता है। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि नैतिक दृष्टि से हर प्रकार की भावनाओ से मुक्त होना आवश्यक है। न्याय तभी व्यापक माना जा सकता है, जब उसे व्यक्तिगत हितो से पृथक् रखा जाए। यही कारण है कि काट ने 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' की धारणा को उच्चतम नैतिक नियम स्वीकार किया है। प्राय. सभी प्रगतिशील राज्यो मे, न्यायाधीशो के लिए विशेष व्यवहार के नियम निर्धारित किए जाते है। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णायको को जनसाधारण से अधिक सम्पर्क रखने की आज्ञा भी नही दी जाती, क्योकि ऐसे सम्पर्क से निर्णायक पर किसी पक्ष का प्रभाव पडने की सम्भावना रहती है। अत नैतिक तथा वैधानिक दृष्टियो से रोकथाम पर आधारित दड का सिद्धान्त, न्यायसगत स्वीकार नही किया जा सकता।

जहा तक राजनीति का सम्बन्ध है, एकतत्रवादी राज्य मे इस प्रकार के दड के सिद्धात को प्रोत्साहन दिया जा सकता है, किन्तु एक प्रजातन्त्रीय राज्य मे ऐसे सिद्धान्त को अवैधानिक ही स्वीकार किया जाएगा। यदि विधान की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान है, तो यह कहना कि अपराधी की अपेक्षा समाज तथा सम्प्रदाय श्रेष्ठ है, स्वतन्त्रता तथा समानता के अधिकारो को पददलित करना है। जिस राज्य मे व्यक्ति के अधिकार को समुदाय के लिए पददलित किया जाता है, उसे न्यायसगत नही माना जा सकता। यदि अपराध का दण्ड समाज को व्यक्ति से अधिक सम्मानित स्वीकार करने पर आधारित है, तो व्यक्ति को मतदान की स्वतन्त्रता भी नही देनी चाहिए। यही कारण है कि एक-तन्त्रीय राज्यो मे, एकदलीय शासन ही होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मत-दाता को किसी प्रकार का विकल्प प्राप्त नही होता और उसे बलपूर्वक एक ही दल का पक्ष लेना पड़ता है। ऐसे राज्यो मे अनेक व्यक्तियो को विचार की स्वतन्त्रता के लिए मार दिया जाता है। साम्यवादी एकतन्त्रवाद और प्रजातन्त्रवाद मे यही भेद है। साम्यवाद समुदाय को इतना महत्त्व देता है कि वह व्यक्ति को तुच्छ मानता है, इसके विपरीत प्रजातन्त्रवाद मे प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते हैं और किसी समु-दाय एव समाज को उसके अधिकारो को पददलित करने का अवसर नही दिया जाता। अत प्रजातन्त्र की दृष्टि से रोकथाम पर आधारित दड का सिद्धान्त सर्वथा असंगत

प्रमाणित होता है ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी दण्ड का यह सिद्धात वांछनीय स्वीकार नही किया जा सकता। वर्तमान मनोविज्ञान के क्षेत्र मे, वैज्ञानिक खोज के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि मनुष्य का प्रत्येक असामान्य व्यवहार एक प्रकार का रोग है। उस रोग की रोकथाम वलपूर्वक दण्ड से नही की जा सकती, अपितु अपराधी से सहानुभूति करके समझाने-बुझाने से की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान एक नवीन विधि को अपनाकर अपराध के मानसिक कारण को ढूढने की चेष्टा करता है और अन्त मे उस कारण को दूर करके अपराधी को सामान्य स्तर पर लाकर उसे अपराध के मानसिक रोग से मुक्त करता है।

प्रशिक्षणात्मक अथवा सुधारात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अन्य लोगो के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना नही है, अपितु अपराध करनेवाले व्यक्ति को सुधारना है। जैसाकि हमने पहले कहा है, अपराध मनुष्य का एक असाधारण व्यवहार है, जो सम्भवतया विशेष परिस्थितियो के कारण अथवा भावावेश मे उत्पन्न होता है। यदि अपराधी से सहानुभूति दर्शाई जाए और उसे समझा-बुझाकर उचित मार्ग पर चलाए जाने की चेष्टा की जाए, तो वह भविष्य मे अपराध नही करेगा। आधुनिक युग मे सुधारात्मक दृष्टिकोण और भी अधिक प्रभावशाली हो रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त आधुनिक मानववादी भावनाओ के अनुकूल है । न ही केवल अपराध के क्षेत्र मे, अपितु वालको की शिक्षा मे भी दण्ड की प्रथा को अवाछनीय घोषित किया गया है। इसका दूसरा कारण यह है कि मनोविश्लेषण के अनुसन्धान ने अपराध को एक ऐसा मानसिक रोग सिद्ध कर दिया है कि जिसका प्रतिकार अपराधी से क्रूरता का व्यवहार करने की अपेक्षा सहानुभूति करना है। मनोविज्ञान की यह धारणा है कि मूल प्रवृत्तियो के दमन से दमित इच्छाए अचेतन मे स्थित हो जाती है और वे मनुष्य के व्यवहार को असामान्य वना देती है। इसका उल्लेख हमने आचार-विज्ञान की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि देते हुए पहले भी किया है। यहा पर इस वात का दोहराना आवश्यक है कि जव दमित इच्छाए एव प्रवृत्तिया मार्गान्तरीकरण (Redirection) अथवा शोध के द्वारा तृप्त नही हो सकती, वे अपराध जैसे असामान्य व्यवहार को उत्पन्न करती हैं ।

विशेषकर वाल-अपराध के क्षेत्र मे जितना अनुसन्धान हुआ है, वह इस वात का साक्षी है कि वाल्यकाल के अपराधो का कारण मूल प्रवृत्तियो का दमन ही है। जव किसी वालक की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति पर आघात पहुचता है, तो वह मारपीट और लड़ाई-झगड़े के द्वारा इस प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार का व्यवहार समाज-विरोधी माना जाता है और ऐसे वालक पर प्रतिवन्ध लगाए जाते है। यह प्रतिवन्ध उसके दमन पर और भी वुरा प्रभाव डालते है और उसकी दमित इच्छाए उग्र रूप धारण करके

बुरी आदतो मे या अपराध मे अभिव्यक्त होती है। ऐसे अपराधियो को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड देना अथवा प्रौढ अपराधियो की भाति जेल मे कडा कार्य कराना, उनकी मानसिक दशा के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और उन्हे जेल से मुक्त हो जाने के पश्चात् पक्का अपराधी बनने के लिए बाध्य करता है। अत. मनोवैज्ञानिको की यह धारणा है कि बाल-अपराध न तो अनैतिक व्यवहार है और न ही समाज-विरोधी कर्म है, अपितु निश्चित रूप से एक मानसिक रोग है। ऐसे अपराधियो को दण्ड देने की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा तथा समाज-उपयोगी कार्य करने की प्रशिक्षा के द्वारा सुधारना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण को सभी प्रगतिशील देशो मे स्वीकार किया गया है और बाल-अपराध की रोकथाम के लिए जेलो को सुधारालयो मे परिवर्तित कर दिया गया है। जहा तक विद्यालयो का सम्बन्ध है, बालको को आत्मप्रकाशन आदि मूल प्रवृत्तियो की तृप्ति के लिए अधिक से अधिक अवसर दिया जाना बाल-अपराध की रोकथाम का सर्वोत्तम उपाय है। न ही केवल इतना, अपितु बालक के व्यक्तित्व के सामान्य विकास के लिए माता-पिता का सहयोग भी आवश्यक है। जब माता-पिता बालक का आदर नही करते और उसकी आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति को पनपने का अवसर नही देते, तो बालक जिद्दी बन जाता है। माता-पिता मनोविज्ञान के नियमो को न जानने के कारण ऐसे बालक से कठोरता का व्यवहार करते है। इसका परिणाम यह होता है कि वह बालक अधिक से अधिक हठी बन जाता है और असामान्य व्यवहार करने लगता है। ऐसे बालक को सुधारने का एकमात्र उपाय प्रेम और सहानुभूति के द्वारा उसकी आत्मचेतना को प्रेरित करना और उसकी आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति को पनपने का सुअवसर देना है।

न ही केवल बाल-अपराध को मानसिक रोग स्वीकार किया गया है, अपितु अनेक प्रौढ अपराधियो के मनोविश्लेषण से यह भी सिद्ध हुआ है कि अनेक प्रौढ अपराधी भी मानसिक रोगी होते है। इसका अभिप्राय यह नही कि सभी अपराधियो को निर्दोष मान लिया जाए और उन्हे किसी प्रकार का दण्ड न दिया जाए; किन्तु यह सत्य है कि अपराधियो की अधिक सख्या ऐसी है, जिनको कडा दण्ड देने की अपेक्षा सहानुभूति, प्रेम तथा समाज-उपयोगी कार्यों की प्रशिक्षा के द्वारा सुधारा जा सकता है। हमारे देश मे भी दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और जेलो मे अनेक छोटे-छोटे उद्योग प्रचलित किए गए है। अनेक अपराधी जेल मे अत्यन्त उपयोगी कार्य करते हैं और उद्योग सीखकर जेल से मुक्त होने के पश्चात् अपनी आजीविका प्राप्त करने के योग्य बन जाते है। भारतीय जेलो मे, उस अपराधी की जेल मे रहने की अवधि मे कमी कर दी जाती है, जो निरन्तर सद्व्यवहार करता है। इस प्रकार जेलों मे अनेक सुधार किए गए है और जेलो को प्राय सुधारालयो मे परिवर्तित कर दिया गया है। यह सभी सुधार प्रमाणित करते है कि दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त अधिक वाछनीय माना जाता है और इस सिद्धात को अपनाने से वास्तव मे अपराधी के हृदय का परिवर्तन भी किया जा सकता है। किन्तु यदि इस सिद्धान्त को ही दण्ड का एकमात्र आधार मान लिया जाए और हर प्रकार के

अपराधी को जेल में सुविधाए ही सुविधाए दी जाए, ता सम्भवतया अपराधो की संख्या वढ जाए। अपराधी को जब तक यह महसूस नही हो जाता कि उसने अपराध करके अपने साथ और समाज के साथ अन्याय किया है, अर्थात् जब तक उसमे आत्मचेतना उत्पन्न नही हो जाती, तब तक दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य कदापि पूरा नही हो सकता। इसमे कोई सन्देह नही कि इस प्रकार की आत्मचेतना समाज मे धीरे-धीरे पनप सकती है और पनप रही है। किन्तु यह सत्य है कि मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल है और व्यक्ति-व्यक्ति की भावनाए विभिन्न होती हैं। विश्व के सभी मनुष्य एक ही रात मे बुद्ध, ईसा और गाधी नही बन सकते। यद्यपि सद्गुण अनुकरण के द्वारा ग्रहण किया जाता है, तथापि नैतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जो तुरन्त अन्तिम अवस्था तक नही पहुच सकती। आसुरी प्रवृत्तिवाले व्यक्तियो के स्वभाव को परिवर्तित करना सहज कार्य नही है। महात्मा गाधी की यह धारणा थी कि प्रत्येक सामान्य मानव के हृदय को सद्-भावना के द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। उन्होने इसी सिद्धान्त को अपनाकर अहिंसात्मक मार्ग पर चलकर भारत को ब्रिटेन के साम्राज्यवाद से मुक्त कराया। किन्तु वे भी यह जानते थे कि समस्त समाज के हृदय को परिवर्तित करने के लिए धैर्य और समय की आवश्यकता है। यही कारण है कि उनकी यह अन्तिम इच्छा थी कि काग्रेस जैसी सुव्यवस्थित सस्था राजनीति की अपेक्षा समाज-सुधार में प्रवृत्त हो जाए।

सुधारात्मक सिद्धान्त दण्ड के उद्देश्य की पर्याप्त व्याख्या करता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि दण्ड का सुधारात्मक दृष्टिकोण ही एकमात्र यथार्थ दृष्टिकोण है। इसके विपरीत हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ अनिवार्य परिस्थितियो मे, दण्ड की रोकथाम के सिद्धान्त को अपनाना समाज की प्रगति के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि निरोधात्मक सिद्धान्त प्रजातन्त्रीय प्रवृत्तियो के विरुद्ध है, तथापि जिस समाज मे नैतिकता की पूर्णतया अवहेलना की जा रही हो, जहा पर व्यापार मे असत्य और चोरवाजारी का साम्राज्य हो और जहा राज्य-अधिकारियो मे रिश्वत लेना धर्म स्वीकार कर लिया गया हो, उस अवस्था मे निरोधात्मक सिद्धान्त को अप-नाना ही आवश्यक होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि एक विकसित और सुव्यवस्थित समाज मे सुधारात्मक सिद्धान्त ही अपनाया जाएगा। जब कोई समाज पूर्णतया सुसस्कृत हो जाता है, वहा किसी प्रकार के दण्ड की आवश्यकता नही रहती। किन्तु हम यह पहले ही कह चुके है कि एक पूर्ण सुसस्कृत समाज की धारणा, निरपेक्ष धारणा होने के कारण कल्पना-मात्र है। जब तक समाज सापेक्ष रूप से नैतिक है, जब तक उसमे शिक्षा की आव-श्यकता है, तब तक अपराध और अनैतिकता के लिए दण्ड निर्धारित करना आवश्यक है। ऐसी अवस्था मे धीरे-धीरे दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त निरोधात्मक सिद्धान्त का स्थान ले सकता है।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का आशय यह है कि अपराधी को यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि उसने जो अपराध किया है, वह न ही केवल दूसरो के लिए हानिकारक है, अपितु स्वय उसके लिए भी अत्यन्त दु ख का कारण है। दूसरे शब्दो मे, यह सिद्धात अपराधी को यह चेतावनी देता है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी।' यहा पर प्रतिशोध का अर्थ 'हत्या का वदला हत्या' नही है, अपितु समाज के विधान की शक्ति की स्वीकृति है। यदि किसी समाज मे चोरी, मारपीट आदि जैसे अपराधो की रोकथाम के लिए नियम तो वनाए गए हो, किन्तु अपराधियो को अपराध करने के पश्चात् किसी प्रकार का दण्ड न दिया जाए, तो समाज के ऐसे नियम निरर्थक निर्देश-मात्र ही होगे। ऐसे नियमो मे किसी प्रकार के आदेश का सकेत नही होगा औरसमाज अस्तव्यस्त हो जाएगा। ईसाई धर्म मे प्रतिशोध को पाप माना गया है और इसलिए दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। किन्तु ऐसी आलोचना इसलिए असगत है कि ईसाई धर्म के अनुसार व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना को अवाछनीय स्वीकार किया गया है, जवकि न्यायालय के द्वारा प्रतिशोध पर आधारित दिया गया दण्ड ऐसी व्यक्तिगत भावना से मुक्त होता है। न्यायालय तो अपराधी को उसके कर्म का फल देता है और उसे यह महसूस कराने की चेष्टा करता है कि दुष्कर्म का फल दु ख है। दण्ड का यह सिद्धान्त वास्तव मे दण्ड के मुख्य उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है और विधान की सत्ता को निरपेक्ष सत्ता घोपित करता है। यदि दण्ड का उद्देश्य विधान की शक्ति को अभिव्यक्त करना है, तो यह अशत निरोधात्मक सिद्धान्त के द्वारा और अशत. सुधारात्मक सिद्धान्त के द्वारा भी सिद्ध होता है। किन्तु जव तक अपराधी को यह महसूस नही हो जाए कि दण्ड वास्तव मे विधान का प्रतिशोध है, तव तक न तो अपराधी के हृदय का परिवर्तन हो सकता है और न अन्य व्यक्ति विधान के प्रति सम्मान रखकर अपराध न करने के लिए प्रतिज्ञा कर सकते है। जव दण्ड को विधान का प्रतिशोध स्वीकार किया जाता है, तव स्वत ही अन्य व्यक्ति अपराध करने से डरते हैं औरअपराधी के हृदय का परिवर्तन हो जाता है। प्रतिशोध का सिद्धान्त तभी अधिक प्रभावशाली हो सकता है, जव अपराधी दण्ड को अपने कर्म का स्वाभाविक परिणाम समझ ले और पश्चात्ताप करे। इस प्रकार पश्चात्ताप उसे प्रायश्चित्त की ओर ले जाता है और उसका स्वत. ही सुधार हो जाता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दण्ड का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त अन्य दोनो सिद्धान्तो की अपेक्षा इसलिए अधिक सगत है कि उसमे पहले दो सिद्धान्तों का स्वत. ही समन्वय हो जाता है।

दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त यह प्रमाणित करते है कि मनुष्य स्वय अपने कर्म के प्रति उत्तरदायित्व रखता है। मनुष्य के कर्म उसके सकल्प पर ही निर्भर हैं न कि वाहरी परिस्थितियो पर। इसलिए मनुष्य जो कर्म करता है, उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसीपर होता है। सामान्य व्यक्ति के प्रकरण मे तो यह वात शत-प्रतिशत यथार्थ मानी जा सकती है, किन्तु किसी विपरीत मस्तिष्कवाले सामान्य व्यक्ति के कर्मों को सकल्प पर

आधारित नही माना जा सकता । उसका असामान्य व्यवहार दण्डनीय स्वीकार नही किया सकता । पागल व्यक्ति के कर्म वास्तव मे उसके चरित्र की अभिव्यक्ति नही होते, अपितु उसके मानसिक रोग का परिणाम होते है । उसका व्यवहार नैतिक निर्णय के अन्तर्गत इसलिए नही हो सकता कि वह सकल्प की स्वतन्त्रता से वचित होता है और उसका प्रत्येक कर्म स्वच्छन्द और असम्बद्ध होता है । जब मनुष्य अपने-आपपर नियन्त्रण नही रख सकता, उसमे सकल्प की स्वतन्त्रता नही होती और इसलिए उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी नही हो सकता । इस दृष्टि से शराब के नशे मे चूर व्यक्ति को हम उसके असामान्य व्यवहार के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी तो नही ठहरा सकते, किंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति उस नशे की अवस्था का स्वयं उत्तरदायी है, क्योकि शराब पीना एक सविकल्पक कर्म है । नैतिक उत्तरदायित्व की इस व्याख्या के आधार पर हम मृत्युदण्ड तथा आत्महत्या की समस्याओ पर विचार कर सकते है ।

मृत्युदण्ड

जो व्यक्ति किसी मनुष्य की हत्या करता है, उसे न्यायालय विधान के अनुसार मृत्यु का दण्ड देता है । कुछ प्रगतिशील देशो मे मृत्युदण्ड की प्रथा का अन्त कर दिया गया है, जबकि अन्य राज्यो मे आज भी यह प्रथा उपस्थित है । प्रश्न यह उठता है कि मृत्युदण्ड नैतिक दृष्टि से कहा तक सगत है । विधान की दृष्टि से तो इस दड को इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि यह हत्या के अपराध की रोकथाम करता है और समाज को विधान के प्रति सम्मान रखने मे मदद देता है । यदि हम सुधारात्मक सिद्धान्त के आधार पर इस प्रथा का विश्लेषण करे, तो हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि मृत्युदण्ड अनैतिक और असगत है । यदि दण्ड का उद्देश्य अपराधी के हृदय का परिवर्तन करना एव उसे सुधारना है, तो मृत्युदड प्राप्त करने के पश्चात् यह कदापि सभव नही हो सकता । यही कारण है कि सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले व्यक्ति मृत्युदड का विरोध करते हैं । यह तो सत्य है कि जो मनुष्य दूसरे की हत्या करता है अर्थात् दूसरे व्यक्ति के जीवित रहने के अधिकार को स्वीकार नही करता, उसे भी जीवित रहने का कोई अधिकार नही; किन्तु हत्या का प्रतिशोध हत्या मानना असभ्यता के नियम को स्वीकार करना है । यदि प्रतिशोध का अर्थ अपराधी को यह महसूस कराना है कि हत्या का अपराध वास्तव मे विधान का अपमान है और यदि उसे इस अनुभूति के द्वारा उसके हृदय के परिवर्तन के लिए पश्चात्ताप कराना है, तो भी मृत्युदड इस उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता । अत न तो सुधारात्मक सिद्धान्त और न प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त मृत्युदड को सगत स्वीकार करता है ।

केवल निरोधात्मक सिद्धान्त के आधार पर मृत्युदंड की पुष्टि की जा सकती है। जब हत्या करनेवाले व्यक्ति को फासी पर लटका दिया जाता है, तो अन्य व्यक्ति इस घटना से भयभीत होकर अवश्य हत्या करने से सकोच करते है । किन्तु निरोधात्मक

सिद्धान्त केवल ऐसे समाज मे लागू किया जा सकता है, जो सर्वथा असभ्य हो और जिसमे कोमलहृदयता और प्रेम की भावना का सर्वथा अभाव हो। यह सिद्धान्त दो हजार वर्ष पूर्व के समाज मे भले ही वाछनीय स्वीकार किया गया हो, किन्तु वर्तमान समय मे इस सिद्धान्त के आधार पर मृत्युदड को सगत मानना मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का अपमान करना है। यदि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और यदि शिक्षा के द्वारा उसकी तर्कात्मक प्रवृत्ति को प्रेरित किया जा सकता है, तो कोई कारण नही कि एक हत्यारे के मन को परिवर्तित करने के लिए, उसे मृत्युदड न देकर, उसके हृदय को परिवर्तित न किया जाए। यह एक भ्रान्त धारणा है कि मृत्युदड को समाप्त करने से हत्या के अपराध मे वृद्धि हो जाएगी। जिन देशो मे इस प्रथा का अन्त कर दिया गया है, वहा पर इस अपराध मे किसी प्रकार की वृद्धि नही हुई। विश्व के विख्यात विचारक और राजनीतिज्ञ यह अनुभव कर रहे हैं कि मृत्युदड को मानव-समाज मे समाप्त कर दिया जाए। अत यह सभव है कि निकट भविष्य मे विश्व के सभी राज्यो मे मृत्युदड का अन्त हो जाएगा। जब तक ऐसा नही होता, तब तक हमे कोई अधिकार नही कि हम मानव-समाज को सभ्य, सुसस्कृत और नैतिक दृष्टि से पशुओ की अपेक्षा श्रेष्ठ माने।

आत्महत्या

मृत्युदड की भाति आत्महत्या भी एक नैतिक समस्या है। यदि किसी व्यक्ति को दूसरे के जीवन का अन्त करने का कोई अधिकार नही, तो उसे आत्महत्या के द्वारा अपने जीवन को समाप्त करने का अधिकार है, यह भी स्वीकार नही किया जा सकता। जीवन एक प्रकृति की देन है और उसका सदुपयोग करना ही मानव-मात्र का परम कर्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति इस कर्तव्य से विमुख होने के लिए आत्महत्या करता है, तो उसे अपराधी ही स्वीकार किया जाएगा। यही कारण है कि विधान की दृष्टि मे भी आत्महत्या को एक अपराध माना गया है। कुछ लोगो का कहना है कि जब कोई व्यक्ति ऐसी दु खद परिस्थितियो मे जीवन व्यतीत कर रहा हो कि उन परिस्थितियो से निकलने का कोई भी उपाय सामने न हो, तो आत्महत्या के द्वारा दु ख से छुटकारा पाना उस व्यक्ति के लिए वाछनीय स्वीकार करना चाहिए। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था मे ग्रस्त है और उसकी मृत्यु निश्चित है ; यदि वह दु ख से मुक्त होने के लिए आत्महत्या करता है, तो उसके इस कर्म को अनैतिक नही कहना चाहिए। चिकित्सा-आचार के नियमो के अनुसार, ऐसे व्यक्ति को शान्तिपूर्वक मरने देना सगत समझा जाता है। किन्तु गम्भीर विचार करने पर हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि आत्महत्या को कदापि नैतिक नही माना जा सकता।

प्राय यह देखा गया है कि जिस प्रकार की परिस्थितियो से भयभीत होकर एक व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है, वैसी ही परिस्थितियो मे एक दूसरा साहसी व्यक्ति जीवन से सघर्ष करता हुआ परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करता है। परिस्थितियो के

कारण जीवन को त्याग देना निस्सन्देह कायरता और पलायनवादिता है। दु खद से दु खद परिस्थितियो मे भी साहसी व्यक्ति दृढ सकल्प से विजयी हो सकता है। महान व्यक्तियो के जीवन मे सदैव ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हुई है, जिनमे कि एक साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ कर ही नही सकता, किन्तु महापुरुषो ने सदैव ऐसी परिस्थितियो का डटकर सामना किया है, और वे जीवन मे सफल रहे है। आत्महत्या का सकल्प निस्सन्देह व्यक्ति की दुर्बलता और निराशावाद का प्रतीक है। जब तक मनुष्य मे जीने की शक्ति है, उस समय तक परिस्थितियो से सघर्ष करते रहना ही उच्चतम और सराहनीय आदर्श है।

रोग की अवस्था मे भी, निराश होकर आत्महत्या करना कायरता का चिह्न है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधान ने चिकित्सा के क्षेत्र मे यह सिद्ध कर दिया है कि मानसिक शक्ति और दृढ संकल्प जीवन को लम्बा कर सकते है और भयकर से भयकर रोग के कीटाणुओ से सफलतापूर्वक सघर्ष कर सकते है। इस अवस्था मे रोग के कारण आत्महत्या का सकल्प करना निस्सन्देह नैतिकता से च्युत होना है। साहस, वीरता और धैर्य से शारीरिक व मानसिक दु ख का सहन करना एक ऐसा आध्यात्मिक व्यायाम है, जो मनुष्य मे दिव्य शक्ति उत्पन्न कर देता है। सकल्पशक्ति सहसा आकाश से उतरकर व्यक्ति मे उपस्थित नही हो जाती, अपितु वह हर प्रकार के दु ख को सहन करने से धीरे-धीरे पनपती है। कोई भी व्यक्ति जन्म से शूरवीर तथा हर प्रकार की परिस्थितियो मे सफलता प्राप्त करनेवाला नही होता। कठिन से कठिन परिस्थितियो मे भी विजय प्राप्त करनेवाले व्यक्ति का रहस्य यह होता है कि उसने जीवनकाल मे दु खो को सहन करके आध्यात्मिक प्रशिक्षा प्राप्त की होती है। यही कारण है कि प्रत्येक अध्यात्मवादी सिद्धान्त मे तपश्चर्या को अनन्त शक्ति प्राप्त करने का साधन माना गया है। शारीरिक पीडा को सहन न करके मृत्यु का आश्रय लेना मन और आत्मा की दुर्बलता प्रकट करना है। अत रोग की अवस्था मे भी न ही केवल नैतिक दृष्टि से, अपितु जीवन को बनाए रखने की दृष्टि से भी आत्महत्या का सकल्प सर्वथा अवाछनीय और अनैतिक है।

जहा तक सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियो से त्रस्त होकर आत्महत्या करने का प्रश्न है, कोई भी सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति ऐसे कर्म को नैतिक स्वीकार नही करेगा। यद्यपि दु खात प्रेम की कहानिया रोचक होती हैं, तथापि कोई भी व्यक्ति आत्महत्या करनेवाले प्रेमी के कर्म को नैतिक नही कहता। जीवन एक विस्तृत क्षेत्र है और उसके द्वारा अनेक मूल्यो की अनुभूति की जा सकती है। इस विस्तृत जीवन मे उतार-चढाव, जय-पराजय, सफलता और असफलता सदैव अनुभूत किए जाते है। यदि कोई व्यक्ति केवल एक ही घटना मे असफलता प्राप्त करके जीवन को समाप्त करने का सकल्प कर लेता है, तो वह भविष्य मे आनेवाले अनेक ऐसे स्वर्ण अवसरो की ओर से आखे मूद लेता है, जिनके प्राप्त करने पर उसके और उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियो के जीवन का विकास हो सकता है। आत्महत्या का सकल्प करनेवाला व्यक्ति मानव की श्रेष्ठता

और मानव-जीवन के उदात्त मूल्यो—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अपमान करके बुद्धिहीनता का प्रदर्शन करता है। मानवीय मूल्यो, कला-कौशल, सगीत-विज्ञान आदि जैसी मानवीय सफलताओ और सुविधाओ से विमुख होकर आत्महत्या का सकल्प करना संकुचित-हृदयता, मानसिक दुर्बलता, विचारशून्यता और कल्पनाशक्ति के अभाव का चिह्न है। अत. आत्महत्या नैतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टि से सर्वथा असंगत और अवाछनीय है।

आत्महत्या के सम्बन्ध मे धार्मिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालना भी नितान्त आवश्यक है। जहा तक पश्चिमीय आचार-विज्ञान का सम्बन्ध है, धार्मिक दृष्टिकोण किसी प्रकार की आत्महत्या को प्रश्रय नही देता। भारत मे कुछ परिस्थितियो मे आत्महत्या को धार्मिक स्वीकृति दी जाती थी। उदाहरणस्वरूप, मध्यकाल मे सती की प्रथा को धार्मिक माना जाता था। यदि हम वेदो तथा पुराणों का गम्भीर अध्ययन करें, तो हमे कही भी सती-प्रथा का चिह्न नही मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल मे विदेशियो के आक्रमणो के कारण, स्त्रियो ने अपनी पवित्रता की रक्षा करने के लिए हसते-हसते मृतक पति की चिता पर भस्म हो जाने को दुराचार के जीवन से श्रेष्ठ समझा। इस प्रकार मृत्यु का आलिगन करना निस्सन्देह साहस और वीरता का द्योतक है; किन्तु यदि हम निरपेक्ष नैतिकता के मापदण्ड से इस कर्म का मूल्यांकन करे, तो हमे यह मानना पडेगा कि यह उदात्त आत्म-हत्या नैतिक नही कही जा सकती। यही कारण है कि आगे चलकर सती-प्रथा का अत्यन्त दुरुपयोग हुआ और उन्नीसवी शताब्दी तक सहस्रो निर्दोष युवतियो को बलपूर्वक जीवित जला दिया गया। राजा राममोहन राय जैसे सुधारको के अथक प्रयत्नो से इस अनैतिक प्रथा को अवैध बना दिया गया। वास्तव मे यह प्रथा एक आकस्मिक परम्परा-सी बन गई थी और इसे किसी प्रकार की धार्मिक स्वीकृति प्राप्त नही थी।

भारतीय धार्मिक सिद्धान्तो मे केवल जैन धर्म ही ऐसा सिद्धान्त है, जो एक प्रकार की आत्महत्या को मोक्ष का साधन मानता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जैनवाद तपस्या के द्वारा कर्म-वन्धन से मुक्त होने को धार्मिक स्वीकार करता है। इस तपश्चर्या मे अन्न का त्याग एक मुख्य साधन माना जाता है। जैन धर्म का जो अनुयायी मृत्यु से पूर्व अन्न तथा जल का त्याग कर देता है और इस प्रकार अपनी शारीरिक शक्ति को धीरे-धीरे क्षीण करके मृत्यु को प्राप्त होता है, उसे महान तपस्वी स्वीकार किया जाता है। ऐसी तपस्या को जैनवाद मे सथारा कहा जाता है। आज भी अनेक जैन साधु सथारा ग्रहण करते हैं और लाखो जैन श्रावक ऐसे अवसरो पर संथारा ग्रहण करनेवाले साधु के दर्शनो के लिए दूर-दूर से एकत्र होते है और अपने-आपको धन्य मानते हैं। यही कारण है कि अनेक पश्चिमीय दार्शनिक जैनवाद की आलोचना करते हुए उसे निराशावादी और अनैतिक सिद्धात घोषित करते है।

उनकी यह धारणा अशत. सत्य और अशत असत्य है। जहा तक मोक्ष का सम्बन्ध है, प्राण और शरीर को लक्ष्य न मानकर साधन ही स्वीकार किया जाता है। मोक्षप्राप्ति का

अर्थ अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति को प्राप्त करना है। जो व्यक्ति इस मार्ग पर चलता है, उसके लिए शारीरिक और जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताए कोई अर्थ नही रखती। आध्यात्मिक अनुशासन एव तपश्चर्या के द्वारा जब एक साधक जीवनमुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो एक अलौकिक शक्ति के कारण, उसे भी भौतिक भोजन की आवश्यकता नही रहती और वह न ही केवल ज्ञानेन्द्रियो और मन पर नियत्रण कर लेता है, अपितु प्राणो को त्यागना व न त्यागना भी उसकी इच्छाशक्ति के अधीन हो जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त करनेवाला योगी, जरा-मरण आदि से ऊपर उठ जाता है और उसके लिए शारीरिक मृत्यु का अर्थ वास्तविक रूप मे अमरत्व को एव सर्वज्ञता को प्राप्त करना हो जाता है। किन्तु ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति ससार मे बहुत कम होते हैं। यदि वास्तव मे कोई जैन साधु जीवन्मुक्त हो चुका हो और योग की अवस्था मे प्राण त्यागने की क्षमता रखता हो, तब तो उसमे अलौकिक शक्तिया भी उपस्थित होगी और वह सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी होगा। ऐसे व्यक्ति के लिए प्राणो का त्यागना आत्महत्या नही कहा जा सकता। आधुनिक युग मे, विशेषकर जैन मत के अनुसार, आमरण व्रत रखनेवालो मे ऐसी अलौकिक शक्ति की उपस्थिति नही होती। इसलिए जिस अपूर्ण रीति से जैन लोग सथारा करते है, उसमे यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है। इस प्रकार की मृत्यु मे, मरनेवाले व्यक्ति की ख्याति भले ही हो जाती हो, किन्तु न तो हम इसे जीवन्मुक्ति कह सकते है और न ऐसे कर्म को नैतिक माना जा सकता है। यही कारण है कि पश्चिमीय विद्वान जैनवाद को निराशावादी सिद्धान्त मानते है और यह घोषित करते हैं कि जैनवाद के अनुसार, जीवन के स्थान पर मृत्यु और विकास के स्थान पर स्थिति को ही आदर्श माना जाता है। मिसेज स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'जैनवाद का हृदय' (The Heart of Jainism) मे जैन सिद्धान्त की पूरी व्याख्या करने के पश्चात् और उसके सूक्ष्म आचार-विज्ञान के विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि जैनवाद का हृदय रिक्त है और उसमे अहिंसा होते हुए भी भ्रातृभाव और अनुकम्पा की कमी है। यद्यपि मिसेज स्टीवेन्सन की यह आलोचना उसके ईसाई-सम्बन्धी पक्षपात पर आधारित दृष्टिकोण को प्रकट करती है, तथापि यह सत्य है कि आज भी जैन सिद्धान्तो को व्यावहारिक बनाने के लिए परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

युद्ध और नैतिकता

दण्ड के सिद्धान्तो से सम्बन्धित वर्तमान अध्याय को समाप्त करने से पूर्व युद्ध की समस्या की नैतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य ने सहस्रो वर्षों की अवधि मे जिस सभ्यता का विकास किया है, वह वर्तमान युग मे मानवीय सस्कृति की पराकाष्ठा प्रतीत होती है। मानव-समाज आज इतना सुसस्कृत और विकसित हो चुका है कि मनुष्य मे पाशवी प्रवृत्तियो का अस्तित्व दिखाई ही नही देता। कला, विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति के क्षेत्र मे मानव ने एक अद्वितीय प्रगति

की है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रकृति पर पूर्ण विजय शीघ्र ही प्राप्त करनेवाला है। मनुष्य का रहन-सहन, उसकी वेश-भूषा, उसका भोजन, उसका सौंदर्य-प्रेम, संक्षेप मे उसकी सत्य, शिव, सुन्दरम् की अनुभूति निस्सन्देह उसे सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुचा चुकी है। किन्तु खेद की बात यह है कि यह उदार, सभ्य, विचारशील सामाजिक प्राणी ऐसी अद्वितीय उन्नति के पश्चात् भी अपनी लडाई की प्रवृत्ति को न तो आज तक परिवर्तित कर सका है और न उसका शोध कर सका है। जब मनुष्य की लडने की प्रवृत्ति प्रेरित हो जाती है, तो उसके सभी सद्गुण हवा हो जाते है, उसकी नैतिकता का अन्त हो जाता है और वह न्यूनतम पाशवी स्तर पर उतर आता है। उसकी यही प्रवृत्ति आज भी विश्व मे सैनिक सघर्षो का कारण बनी हुई है। आज भी हमारे उन्नत समाज मे लडने की प्रवृत्ति का लोप नही हुआ। अग्रेजी भाषा के विख्यात साहित्यिक और दार्शनिक फ्रासिस बेकन (Francis Bacon) ने अपने निबन्ध 'युद्ध' (War) मे मनुष्य की लड़ने कीप्रवृत्ति का सुन्दर विवेचन दिया है।

उसके इस विवेचन का उल्लेख करना नैतिक दृष्टि से उपयोगी होगा। बेकन के शब्दो मे, "मनुष्य मे लडने की प्रवृत्ति एक प्रधान मूल प्रवृत्ति है। यदि उनके पास लडने का कोई कारण भी न हो, तो भी वे शब्दो को लेकर अथवा स्त्रियो के लिए युद्ध करेंगे अथवा वे इसलिए एक-दूसरे से युद्ध करेगे कि उनके मार्ग एक-दूसरे से विपरीत हैं।"[१] बेकन के ये शब्द वर्तमान युग मे भी शत-प्रतिशत यथार्थ प्रमाणित होते हैं। आज भी मानव अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ को अहिंसात्मक रीति से सुलझाने मे असमर्थ प्रमाणित हो रहा है। पिछले दो महायुद्धो मे, असख्य निर्दोष मनुष्यो का निर्दयता से सहार हुआ है और अनन्त सम्पत्ति को नष्ट किया गया है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य की लडने की प्रवृत्ति ने जनसहार और सम्पत्ति के क्षय के द्वारा मानव के जीवन तथा सपत्ति-सम्बन्धी मूल अधिकारो का दमन किया है। असख्य बालको को अनाथ और स्त्रियो को विधवा बनाने का श्रेय भी इन्ही युद्धो को प्राप्त है। अत यह स्पष्ट है कि युद्ध मनुष्य की बर्बरता और अनैतिकता का प्रतीक है। इस तथ्य मे मतभेद नही हो सकता कि युद्ध नैतिक दृष्टि से सर्वथा असगत और अवाछनीय है।

युद्ध की अवाछनीयता तथा असगतता को स्वीकार करते हुए विश्व के राजनीतिज्ञो ने बीसवी शताब्दी मे ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की स्थापना की है। पहले महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रो की सभा (League of Nations) की स्थापना की गई थी और दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात्, सयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations Organisation) की नीव डाली गई। यद्यपि पहली सस्था विश्वशान्ति के उद्देश्य मे असफल रही, तथापि

१ "To fight is a radical instinct in man If men have nothing else to fight over, they would fight over words or women; or they would fight because they have found each other walking in opposite direction."

दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था काफी समय तक शान्ति स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जागरित करने मे सफल हुई है और हो रही है। ऐसी संस्था के प्रति सम्मान रखना विश्व के प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि जितनी सफलता सयुक्त राष्ट्रसघ ने अभी तक प्राप्त की है, वह आज तक किसी भी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने प्राप्त नही की। इसकी सफलता के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमे से मुख्य कारण यह भी है कि आज विश्व का जनसाधारण यह जानता है कि अणुबम जैसे विध्वसक शस्त्रो की उपस्थिति मे युद्ध का अर्थ सर्वनाश भी है। इस अवस्था मे मानव-मात्र को एक सूत्र मे बाधना और व्यक्ति तथा समाज के अभिन्न सम्बन्ध पर बल देना ही युद्ध से निवृत्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। इसलिए अगले अध्याय मे हम समाज तथा व्यक्ति (Society and individual) के परस्पर-सम्बन्ध के विषय को लेकर नैतिकता की विभिन्न समस्याओ पर पुन प्रकाश डालेगे। ऐसे अध्ययन के पश्चात् ही हम नैतिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध की व्याख्या भी कर सकते है और यह जान सकते है कि व्यक्ति का अपने समाज मे क्या विशेष स्थान है और उसका क्या कर्तव्य है।

चौदहवां अध्याय

व्यक्ति तथा समाज

(Individual and Society)

यद्यपि नैतिक जीवन की धारणा मनुष्य की विचारशीलता का परिणाम है, तथापि इसमे कोई सन्देह नही कि नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन सामाजिक आवश्यकता का परिणाम है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व रखता है, वह वैधानिक उत्तरदायित्व न होकर एक सामाजिक उत्तरदायित्व है। मनुष्य के कर्तव्य तथा अधिकार सामाजिक दृष्टि से ही महत्त्व रखते हैं और समाज से ही प्रेरणा प्राप्त करते है। इसी प्रकार सद्‌गुण भी समाज से ही सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत चरित्र के विकास का आधार हैं, तथापि उनका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के कल्याण के लिए संतुलित जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्रदान करना है। न ही केवल इतना, अपितु समस्त नैतिक जीवन और नैतिक सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज के समन्वय का साधन हैं। नैतिक सिद्धान्तो मे प्रतिपादित आदेश ऐसे आदेश हैं, जिनका पालन करने से व्यक्ति तथा समाज दोनो का कल्याण होता है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक समय तक प्रत्येक देश मे एव सुसस्कृत समाज मे जितने भी नैतिक नियम एव सद्‌व्यवहार के सिद्धान्त लागू किए गए है, उन सभीका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति और समाज को व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी बनाना था।

यदि हम सामाजिक तथा नैतिक विकास के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम यह देखेंगे कि आरम्भ मे जिस प्रकार की नैतिकता एव नैतिक निर्णय का विकास हुआ, वह पूर्णतया सामाजिक नैतिकता थी। प्राचीन समय मे जबकि लोग उपजातियो एव कबीलो मे रहते थे, अपने-आपको समुदाय का अग मानते थे। उनकी नैतिकता सर्वथा सामुदायिक नैतिकता थी। व्यक्ति समुदाय की परम्पराओ के प्रति इतना आदर रखता था कि वह इनके भग करने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त करना अधिक वाछनीय समझता था। उस समय मनुष्य असभ्य अवश्य था, किन्तु समुदाय के प्रति उसकी अनन्य श्रद्धा थी। वह अपने घर, अपनी पत्नी तथा अपने भोजन का त्याग कर सकता था, किन्तु समुदाय के नियमो को भग नही कर सकता था। यही सामुदायिक नैतिकता धीरे-धीरे रीति-रिवाज मे परिवर्तित हो गई। विद्वानो का कहना है कि इन रीति-रिवाजो मे से वे रीति-रिवाज, जोकि समाज के कल्याण के लिए उपयोगी थे, स्थिर होते गए और अनुपयोगी रीति-रिवाज

धीरे-धीरे लुप्त हो गए। किन्तु रीति-रिवाज की नैतिकता का स्तर भी एक वीच का स्तर था। उसके पश्चात् नैतिकता का आधार विधान बन गया। व्यवहार के नियत्रण के लिए रीति-रिवाज के स्थान पर विधान को ही स्वीकार किया गया है। रीति-रिवाज के स्तर पर यह आदेश था कि कोई व्यक्ति समाज के नियमो का उल्लघन नही करता। क्योकि ऐसे उल्लघन का अर्थ समाज से पृथक् होना था और व्यक्ति समाज से अभिन्न था। विधान के स्तर पर सत्-असत् का भेद अधिक स्पष्ट हो गया और आदेश का यह अर्थ हो गया कि किसी भी व्यक्ति के लिए अमुक अनैतिक कार्य करना असगत है। विधान के द्वारा सद्-व्यवहार को आदेश माना गया और उसके भग करने का अर्थ शारीरिक दण्ड माना गया। किन्तु इस विधान के स्तर से भी ऊपर नैतिक नियम एव नैतिक विधान के स्तर को स्वीकार किया गया। देश के वैधानिक नियम का सम्बन्ध समाज-कल्याण से सम्बन्धित बाह्यात्मक कर्म से था, जबकि नैतिक विधान का सम्बन्ध व्यक्ति के उद्देश्यो, प्रेरको तथा चरित्र से स्थापित किया गया। नैतिक नियमो के पालन करने से समाज का विकास होता है। ईसाई धर्म के दस आदेश इसी प्रकार के नैतिक नियमो का उदाहरण है। उदाहरण-स्वरूप, "तुम लोभ नही करोगे"[1]; "तुम चोरी नही करोगे"[2] आदि। ज्यो-ज्यो नैतिक चेतना का विकास होता गया, नैतिक निर्णय मे बाह्यात्मक कर्म तथा मन के आन्तरिक भाव दोनो पर नैतिक निर्णय देते समय बल दिया गया। नैतिक नियमो एव आदेशो मे भी परस्पर सघर्ष हुआ और इस प्रकार नैतिक सघर्ष की अवस्था उत्पन्न हुई।

यह अवस्था विकसित समाज मे ही उत्पन्न हुई। प्राचीन समाज मे तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य सभ्य समाज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता था, किन्तु जब रीति-रिवाज के स्थान पर नैतिक नियम को अपनाया गया और जब मनुष्य के समाज मे अनेक स्थान निर्धारित हुए, तभी नैतिक सघर्ष की अवस्था उत्पन्न हुई। एक सभ्य समाज मे मनुष्य को पिता के नाते, सैनिक के नाते तथा न्यायाधीश के नाते अनेक अवस्थाओ मे यह निर्णय देना पड़ा कि विशेष अवसर पर क्या सत् है और क्या असत् है। जब प्राचीन सभ्य समाज मे इस प्रकार की समस्याए उत्पन्न हुई, तो अन्त करण को ही प्रमाण स्वीकार किया गया। उदाहरणस्वरूप, जब दुष्यन्त ने महर्षि कण्व के आश्रम मे अपने-आपको शकुन्तला के प्रति आकर्षित होने की अवस्था मे पाया, तो उसको यह सन्देह हुआ कि क्या एक क्षत्रिय होने के नाते वह ऋषि-कन्या शकुन्तला से विवाह कर सकेगा। उसके मन मे यह सन्देह इसलिए उत्पन्न हुआ कि वह क्षत्रिय होने के कारण ब्राह्मण की कन्या से विवाह नही कर सकता था। उसने इस सन्देह का निर्णय अपने अन्त करण के आधार पर दिया। कालिदास ने दुष्यत के मन की इस अवस्था का वर्णन देते हुए और अन्त.करण का महत्त्व बतलाते हुए अपने विख्यात नाटक 'शकुन्तला' मे लिखा है .

१. "Thou shalt not covet"
२. "Thou shalt not steal."

"सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।"

अर्थात् "सन्दिग्ध स्थलो मे सज्जनो का अन्तःकरण ही प्रमाण हाता है।" दुष्यंत के अन्त.करण ने उसे यथार्थ मार्ग वतलाया और अन्त मे शकुन्तला एक अप्सरा की पुत्री सिद्ध हुई। किन्तु आधुनिक समाज मे इस प्रकार के सघर्ष का समाधान अन्त करण की अपेक्षा तर्क द्वारा ही किया जाता है और तर्क को ही नैतिक निर्णय का एकमात्र आधार माना जाता है। दूसरे शब्दो मे, नैतिक निर्णय का जन्म सामाजिक वातावरण मे एव समुदाय मे हुआ और सामाजिक कल्याण ही उसका आधार माना गया। किन्तु नैतिकता के विकास मे यह निर्णय परम्परा से, प्राकृतिक नियम से, नैतिक नियम से गुजरता हुआ अन्त मे तर्कात्मक नियम पर ही आधारित माना गया। इस प्रकार सामाजिक नैतिकता एवं परम्परागत नैतिकता धीरे-धीरे वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता मे परिवर्तित हो गईं। नैतिकता एव नैतिक निर्णय के विकास का यह इतिहास व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है और हमे यह वताता है कि नैतिकता किस प्रकार बाह्यात्मक स्तर से अन्तरात्मक स्तर तक पहुची है। यद्यपि वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ यह नही कि नैतिक आदर्श सामाजिक कल्याण की अवहेलना करता है, तथापि इस परिवर्तन ने व्यक्ति और समाज के सम्वन्ध को एक नवीन रूप दिया है। इस नवीन व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्ध की व्याख्या करने से पूर्व उन उपाधियो एव परिस्थितियो का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है, जोकि सामाजिक नैतिकता को वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता मे परिवर्तित करने मे सहायक सिद्ध हुई हैं। ऐसी उपाधियो के अध्ययन के पश्चात् ही हम व्यक्ति तथा समाज के सम्वन्ध तथा उस सम्वन्ध से उत्पन्न नैतिक समस्याओ को भली भाति समझ सकेंगे। इन परिस्थितियो का अध्ययन हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि नैतिकता का यह परिवर्तन अथवा विकास व्यक्ति तथा समाज, दोनो के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिन उपाधियो एव परिस्थितियो ने सामाजिक नैतिकता को वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता मे परिवर्तित होने के लिए योग दिया है, वे निम्नलिखित हैं .

(१) आर्थिक परिस्थितिया
(२) राजनीतिक परिस्थितियां
(३) युद्ध
(४) वैज्ञानिक उन्नति
(५) कला और साहित्य

आर्थिक परिस्थितियां

प्राचीन समय मे जव मनुष्य का मुख्य व्यवसाय कृषि था, अथवा वह शिकार के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता था, उसके लिए समूह मे रहना आवश्यक था। ऐसी

परिस्थितियो मे सामुदायिक नैतिकता का प्रभुत्व होना आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य था। किसी प्रकार के यन्त्रो की अनुपस्थिति मे मनुष्यो का परस्पर-सहयोग आवश्यक था और समुदाय की आर्थिक दशा केवल समुदाय पर ही निर्भर थी। व्यक्ति को ऐसा अवसर ही प्राप्त नही होता था कि वह अपने-आपको समुदाय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दे। इसलिए वैयक्तिक नैतिकता को पनपने का कोई अवसर प्राप्त न था। औद्योगिक विकास तथा औद्योगिक क्राति के पश्चात्, जबकि अपने व्यक्तित्व की विशेषता के कारण प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक होड मे प्रवृत्त हो गया, तो सामुदायिक रीति-रिवाजो को भग करके वैयक्तिक नैतिकता का अनुसरण करना आवश्यक हो गया। आधुनिक युग मे जबकि मनुष्य की अपेक्षा यन्त्र अधिक सफलता से उत्पादन कर सकता है, व्यक्ति को समाज के सहयोग की उतनी आवश्यकता नही रही है, जितनी कि प्राचीनकाल मे थी। इसके विपरीत एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए, समाज से पृथक् होकर बुद्धि के बल पर नवीन योजनाओ का प्रतिपादन करके यन्त्रो की सहायता से पूजी का स्वामी बनना एक सरल बात हो गई है। आधुनिक युग निस्सदेह आर्थिक सभ्यता का युग है और धन की सहायता से सभी सांसारिक कार्यो मे सफलता प्राप्त हो सकती है। इसलिए प्राचीन सामुदायिक नैतिकता का लोप होता चला जा रहा है, और वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है। यह सत्य है कि आर्थिक कारणो से लोग गामो को छोडकर बड़े-बड़े नगरो मे निवास कर रहे हैं और ग्राम्य जीवन की सरलता, स्वच्छता, सहानुभूति तथा प्रेम का सर्वत्र अभाव हो रहा है। यही कारण है कि नगरो मे एक व्यक्ति, जो नीचे की मजिल पर रहता है, यह नही जानता कि उसी घर मे ऊपर की मजिल पर रहनेवाले व्यक्ति का क्या नाम है। इस प्रकार आधुनिक आर्थिक परिस्थितिया मनुष्य को अधिक से अधिक वैयक्तिक बना रही है। यही कारण है कि आर्थिक परिवर्तनो ने, सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक नैतिकता को अधिक प्रश्रय दिया है।

राजनीतिक परिस्थितियां

जब हम वर्तमान युग की राजनीतिक परिस्थितियो और राजनीतिक प्रथाओ की, प्राचीन काल की राजनीतिक परिस्थितियो और प्रथाओ से तुलना करते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र ने राजनीतिक परिवर्तनो मे भी सामुदायिक नैतिकता को भग करके तर्कात्मक नैतिकता को प्रोत्साहन दिया है। प्राचीन समय मे जबकि प्रजातन्त्र के स्थान पर एकछत्र राज्य था और राजा को ही समुदाय का एकमात्र नेता और नियन्ता माना जाता था, कोई भी व्यक्ति न तो स्वतन्त्र विचार कर सकता था और न परम्पराओ को असगत कह सकता था। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव से न तो सामाजिक स्वतन्त्रता थी और न किसी व्यक्ति मे समाज के रुढिवाद को भग करने का साहस था। किन्तु राजनीतिक क्राति के कारण, जब मनुष्य की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकृत किया गया और जब रूसो जैसे क्रातिकारी विद्वानो ने समानता

(Equality), स्वतन्त्रता (Liberty) और भ्रातृत्व (Fraternity) का उद्घोष किया, तो मानव-समाज मे एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई और रूढिवादी प्रथाओ को भग करके व्यक्ति के सम्मान को वृद्धि दी गई। राजनीतिक स्वतन्त्रता ने सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता का मार्गदर्शन किया।

राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र के स्थापित होने से प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम पद प्राप्त करने का अवसर मिला और इस प्रकार व्यक्तित्व को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय शासन मे यह आवश्यक है कि प्रजा मतदान के द्वारा किसी योग्य व्यक्ति को बिना जाति-धर्म और लिंग के भेदभाव के प्रतिनिधि निर्वाचित करे। इसलिए प्रजातन्त्र ने जातिवाद तथा उससे सम्वन्धित अन्य रुढिवादी परम्पराओ पर आघात किया है और इस प्रकार सामुदायिक नैतिकता का अन्त करने मे सहायता दी है। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रजातन्त्र के अतिरिक्त अन्य नवीन राजनीतिक सस्थाओ ने समाज एव समूह को महत्त्व अवश्य दिया है। साम्यवाद मे तो व्यक्ति को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नही है और समाज को ही निरपेक्ष रूप से सत्ता प्रदान की गई है। किन्तु साम्यवाद जैसी क्रातिकारी राजनीतिक शैली मे, धार्मिक तथा सामाजिक बन्धनो को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि वर्तमान समय की राजनीतिक परिस्थितियो ने सामुदायिक नैतिकता के अन्त करने मे विशेष योग दिया है।

युद्ध

यदि हम विश्व के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि युद्ध ने सदैव सामुदायिक नैतिकता को वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता मे परिवर्तित करने मे सहायता दी है। सर्वप्रथम हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल मे जब युद्ध होता था, तो उसमे एक व्यक्ति के आधिपत्य की आवश्यकता रहती थी। युद्ध का अर्थ सेनाओ का सघर्ष है और सेना के नेतृत्व के लिए एक सेनापति अथवा राजा की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि इतिहास मे जब-जब भी अशान्ति उत्पन्न हुई है, उसी समय व्यवस्था को वनाए रखने के लिए शक्तिशाली एकछत्र राज्य की स्थापना अनिवार्य रूप से हुई है। न ही केवल प्राचीन काल मे, अपितु वर्तमान समय मे भी युद्ध के समय, युद्ध मे भाग लेनेवाले प्रत्येक राज्य को दलबन्दी त्यागकर एक ही नेता के हाथ मे राष्ट्र की बागडोर सभाल देनी पडती है। ऐसे समय मे प्रजातन्त्रीय शासन मे भी सवसे योग्य और दृढ सकल्पवाले व्यक्ति को ही नेता निर्वाचित किया जाता है। इस प्रकार युद्ध वैयक्तिक उत्थान को प्रश्रय देता है।

जव दो राष्ट्रो मे परस्पर युद्ध होता है, तो विजेता तथा पराजित सस्कृतियो का परस्पर आदान-प्रदान होता है। इस आदान-प्रदान मे सामाजिक तथा नैतिक धारणाओ का परिवर्तित होना स्वाभाविक हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर

आधुनिक समय तक, वे देश ही नैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील प्रमाणित हुए है, जिनको अनेक वार युद्धो मे प्रवृत्त होना पडा है। जो देश प्राकृतिक एव भौगोलिक विशेषताओ के कारण सुरक्षित रहे हैं और युद्ध के द्वारा अन्य देशो के सम्पर्क मे कम आए है, उन देशो मे आज तक भी रूढिवाद और प्राचीन सामाजिक परम्पराए उपस्थित है। इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे देशो मे, प्राचीन सस्कृति के उत्कृष्ट तत्त्व भी सुरक्षित रहे है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय सस्कृति की निरन्तरता और सुरक्षा का मुख्य कारण यही है कि यूरोपीय देशो की तुलना मे, भारत मे विदेशो से कम युद्ध हुए है। भारत की भौगोलिक स्थिति ने निस्सन्देह उसकी प्राचीन सभ्यता को वनाए रखा है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इस वीसवी शताब्दी मे जबकि प्रगतिशील देश, अन्य नक्षत्रो तक पहुचने की चेष्टा कर रहे है और विश्व का मानव एक सूत्र मे बधकर, मानवता को ही एकमात्र समुदाय प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहा है, भारत मे आज भी जाति-उपजाति का परस्पर पार्थक्य और अन्तर्जातीय विवाह करने पर बहिष्कार और प्रतिवन्ध जैसी रूढिवादी प्रथाए प्रचलित है। पिछले दो विश्वयुद्धो ने भी यह प्रमाणित किया है कि सामुदायिक नैतिकता को भग करने मे और तर्कात्मक नैतिकता को प्रश्रय देने मे युद्ध ने विशेष योग दिया है।

वैज्ञानिक उन्नति

विश्व की घटनाओ की व्यवस्थित, विधियुक्त तथा पूर्ण व्याख्या करना विज्ञान का उद्देश्य है। दूसरे शब्दो मे, विज्ञान प्रकृति एव विश्व का ऐसा व्यवस्थित और यथार्थ ज्ञान है, जो घटनाओ मे कार्य-कारण का सम्वन्ध स्थापित करके प्रकृति के रहस्य की व्याख्या करता है। आधुनिक युग को विज्ञान का युग इसलिए कहा गया है कि इस युग मे तटस्थ वैज्ञानिक खोज ने अन्धविश्वास और रूढिवाद का अन्त कर दिया है। विज्ञान की यह अद्वितीय उन्नति मनुष्य की वौद्धिक शक्ति तथा उसकी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का प्रतीक है। समय था कि जव मनुष्य भूत-प्रेत आदि को रोग का कारण मानता था। किन्तु वैज्ञानिक खोज ने मनुष्य के शत्रु और प्रत्येक रोग के मूल कारण कीटाणु को खोज निकाला और प्रत्येक भयकर रोग से सुरक्षित रहने के अनेक उपाय ढूढ निकाले। ओषधि-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति ने न ही केवल मानव-मात्र की अनेक रोगो से रक्षा की है, अपितु उसने रोगो के प्रति अन्धविश्वास और रूढिवाद का भी अन्त किया है। इस प्रकार इस दिशा मे विज्ञान ने तर्क पर आधारित धारणाओ को प्रश्रय दिया है।

इसी प्रकार विज्ञानके अन्य क्षेत्रोमे, विशेषकर भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमे जो आविष्कार हुए है, उनके द्वारा मनुष्य ने असीम शक्ति सचित कर ली है और वह प्रकृति पर विजयी हो रहा है। यातायात-सम्वन्धी आविष्कारो ने इस पृथ्वी को ही नही, अपितु अन्य नक्षत्रो को भी इतना निकटवर्ती वना दिया है कि आज मनुष्य अतरिक्ष मे अत्यन्त तीव्र गति से यात्रा करने के योग्य हो गया है। इस प्रकार के आविष्कारो ने देशीय भौगोलिक

सीमाओं का अन्त कर दिया है। इसी कारण आज विश्व के विभिन्न समाज एक ही मानव-समाज मे परिवर्तित हो रहे हैं और पूर्वीय तथा पश्चिमीय सस्कृतिया अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के कारण समन्वित होकर, एक विश्व-सस्कृति की सम्भावना को सिद्ध कर रही हैं। इस आदान-प्रदान मे सकुचित साम्प्रदायिक रूढिवादी धारणाए स्वत. ही लुप्त होती जा रही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य को निष्पक्ष बनाता है और उसे अन्धविश्वास से मुक्त करता है। यही कारण है कि जितने प्रगतिशील देश विज्ञान मे अग्रसर है, उनमे रूढिवादी धारणाओं का अन्त हो रहा है और सामुदायिक नैतिकता वैयक्तिक नैतिकता मे परिवर्तित हो रही है।

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसन्धान, जिसमे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम तथा अपनी बुद्धि के द्वारा आविष्कार कर सकता है और ख्याति प्राप्त कर सकता है, वैयक्तिक विकास को सम्भव बनाता है। वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सम्प्रदाय, राष्ट्र तथा धर्म आदि की सीमाओं से ऊपर उठकर केवल यथार्थता प्राप्त करने के लिए ही सत्य की खोज करे। इस प्रकार, विज्ञान का अध्ययन और अनुसन्धान सामुदायिक नैतिकता और रूढ़िवादी परम्पराओं का घोर विरोध करता है। वैज्ञानिक उन्नति दिन-प्रतिदिन प्रकृति के अनेक रहस्यो का अनावरण करके मनुष्य को रूढिवाद से यथार्थवाद, अन्धविश्वास से तर्कवाद तथा सम्प्रदायवाद से मानववाद की ओर अग्रसर कर रही है। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक उन्नति सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता को प्रश्रय दे।

कला और साहित्य

कला तथा साहित्य मनुष्य की सस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। कला निस्सदेह मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक क्षमता की सौदर्य मे अभिव्यक्ति है। कलाकार अपनी सौंदर्यात्मक प्रवृत्ति को चित्र, मूर्ति, कविता आदि मे अभिव्यक्त करके, आत्मानुभूति प्राप्त करके, अपने व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करता है। कला मनुष्य को उदात्त बनाती है और उसे परम आनन्द का अनुभव कराती है। एक ओर तो कलाकार अपनी कृति मे अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है और दूसरी ओर वह कला मे ध्यानमग्न होने से आत्मविस्मृति के द्वारा, अपना विश्व की आधारभूत सत्ता से तादात्म्य करता है। इस प्रकार कला उसे साम्प्रदायिक, सामाजिक तथा भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठाकर एक विशेष उदात्त एव उत्कृष्ट वैयक्तिक स्तर पर पहुचाती है। अत. कला स्वभाव से मनुष्य को सामुदायिक नैतिकता से पृथक् करके, वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता की ओर ले जाती है।

जहा तक साहित्य का सबध है, हम यह कह सकते हैं कि कला की भाति इसका उद्देश्य भी व्यक्तित्व का विकास है। इसके अतिरिक्त साहित्य एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा उच्च आदर्शों को जनसाधारण तक पहुचाया जा सकता है और सामाजिक दोषों

तथा रूढिवाद का अंत किया जा सकता है। विश्व के इतिहास मे जब-जब भी क्रांति उत्पन्न हुई है, वह किसी न किसी महान साहित्यिक की नवीन विचारधारा के आधार पर ही हुई है। यूरोप मे फ्रास की क्रांति का आधार रूसो की विचारधारा थी और रूस की क्रांति का आधार कार्ल मार्क्स का दर्शन था। प्राचीन भारत मे भी महावीर और बुद्ध जैसे दार्शनिको ने महान क्रांतिया उत्पन्न की। अत साहित्य मनुष्य की नैतिक धारणाओ के परिवर्तन का मुख्य कारण है और अन्धविश्वास तथा रूढिवाद का अंत करनेवाला है।

अंग्रेजी के एक विख्यात लेखक ने साहित्य का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि कोई भी साहित्य, उस समय तक शाश्वत नही माना जा सकता, जब तक कि वह हमे सहनशीलता और आनद प्रदान न करे। उसके शब्दो मे, "पुस्तको का उद्देश्य यह है कि वे हमे जीवन की सहनशीलता और आनद प्राप्त करने की शिक्षा दें।"[1] यदि साहित्य का उद्देश्य हमे आनदमय जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाना है, तो यह स्पष्ट है कि वह कला की भांति हमे सम्प्रदाय और भौगोलिक सीमाओ से ऊपर उठाकर, एक उत्कृष्ट व्यक्तित्व की ओर ले जाता है। साहित्यिक वही है, जो अपने समय के सामाजिक दोषो को नाटक, काव्य और कथा के द्वारा जनसाधारण तक पहुचाकर, उसमे आत्मचेतना और क्रांति की ऐसी भावना उत्पन्न कर देता है कि वह रूढिवादी और समुदायवादी बधनो को तोडकर वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता की ओर अग्रसर होता है।

हमने सामुदायिक एव सामाजिक नैतिकता के वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता मे परिवर्तित होने की उपाधियो का जो उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह नही कि वैयक्तिक अथवा तर्कात्मक नैतिकता सामाजिक कर्तव्यो की अवहेलना करती है। इसके विपरीत, तर्कात्मक नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य मे ऐसी आत्मचेतना उत्पन्न करना है कि वह न तो सम्प्रदाय के विधान को और न अपनी अन्तरात्मक मूल प्रवृत्ति की प्रेरणा को बिना विवेक के नैतिक आदेश स्वीकार करे। इसके विपरीत तर्कात्मक एव वैयक्तिक नैतिकता मनुष्य के अधिकारो तथा उसके कर्तव्यो का सतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है और व्यक्ति को समाज मे उचित स्थान देकर व्यक्ति तथा समाज का समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। इससे पूर्व कि हम व्यक्ति तथा समाज के इस विशेष सम्बन्ध पर अधिक प्रकाश डालने के लिए कुछ सामाजिक सस्थाओ का उल्लेख करे, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता के कुछ ऐसे विशेष लक्षणो की व्याख्या करे, जोकि इस नैतिकता को सामुदायिक नैतिकता से पृथक् और श्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं।

वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता का प्रथम विशेष लक्षण यह है कि इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विशेष स्थान है, जबकि सामुदायिक नैतिकता मे व्यक्ति को बलपूर्वक समुदाय के सामने झुकना पडता है और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी परम्पराओ

---

१. "Books should teach us how to endure life and how to enjoy it."

एव नैतिक प्रथाओ का पालन करना पडता है। इस प्रकार सामुदायिक नैतिकता मे बाहरी दबाव होता है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता मनुष्य के अन्तम् से परिस्फुटित होती है। इस दृष्टि से सामुदायिक नैतिकता का अनुसरण एक प्रकार की विवशता होती है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता मे मनुष्य की इच्छा एव सकल्प उसके कर्म का आधार होता है।

सामुदायिक नैतिकता मे मनुष्य अपने-आपको विना किसी विवेक और तर्क के अन्धविश्वास के द्वारा समुदाय के प्रति समर्पित कर देता है, जवकि वैयक्तिक नैतिकता मे वह तर्क और विवेक का प्रयोग करता है और कर्म के प्रत्येक पक्ष पर विचार करके ही नैतिक मार्ग का अनुसरण करता है। वैयक्तिक नैतिकता के इसी लक्षण को हम एक दूसरे रूप मे भी प्रस्तुत कर सकते है। हम कह सकते है कि सामुदायिक नैतिकता मूल-प्रवृत्त्यात्मक है, जवकि वैयक्तिक नैतिकता तर्क तथा विवेक का प्रयोग करती है।

वैयक्तिक नैतिकता तर्क पर आधारित होने के कारण व्यक्ति-व्यक्ति मे, व्यक्ति-समाज मे, तथा समाज-समाज मे भी न्याय करती है। इसके विपरीत सामुदायिक नैतिकता एक सकुचित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है और उस दृष्टिकोण के अतिरिक्त, अन्य सभी दृष्टिकोणो को अस्वीकार करती है। दूसरे शब्दो मे, वैयक्तिक नैतिकता विशाल और उदार है, जवकि सामुदायिक नैतिकता सकुचित और सकीर्ण दृष्टिकोण रखती है।

चौथे स्थान पर हम यह कह सकते है कि वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता गत्यात्मक और प्रगतिशील है, जवकि सामुदायिक नैतिकता स्थायी और अचल होने के कारण विकसित नही होती। सामुदायिक परम्पराए अपरिवर्तनशील मानी जाती है और उन्हे राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के परिवर्तन के पश्चात् भी वाछनीय माना जाता है। इसके विपरीत वैयक्तिक एव तर्कात्मक नैतिकता परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं और इस प्रकार सदैव गतिमान और विकासशील प्रमाणित होती है।

अन्त मे हम यह कह सकते है कि सामुदायिक नैतिकता मे व्यक्ति के समुदाय-सम्बन्धी कर्तव्यो पर ही बल दिया जाता है, जवकि वैयक्तिक नैतिकता मे मनुष्य के कर्तव्यो तथा अधिकारो—दोनो को समान महत्त्व दिया जाता है और व्यक्ति तथा समाज के सन्तुलित विकास को ही चरम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा अधिक विशाल, अधिक प्रगतिशील, अधिक समन्वयात्मक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

व्यक्ति तथा समाज का परस्पर-सम्बन्ध ऐसा है कि वे दोनो अन्योन्याश्रित हैं। यदि व्यक्ति समाजका अभिन्न अग है और ऐसा सामाजिक प्राणी है कि वह एकाकी सामान्य जीवन व्यतीत नही कर सकता, तो यह भी सत्य है कि समाज व्यक्तियो के समूह के अतिरिक्त और कुछ नही है। व्यक्ति ही समाज की आधारशिला है, और समाज का विशाल भवन उतना ही दृढ होता है, जितना कि उस समाज का एक-एक व्यक्ति दृढ और

शक्तिशाली होता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सच्चाई से अपने कर्तव्यो का पालन करे, तो कोई सदेह नही कि समूचा समाज स्वत. ही ऐसे नैतिक स्तर पर पहुच जाए, जहा किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता ही नही रहती। किन्तु व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास, उसके सद्गुणो का निर्माण और उसके चरित्र का गठन तभी हो सकता है, जब समाज मे अन्याय न हो और जब प्रत्येक व्यक्ति को चरित्र-निर्माण के लिए सभी सुविधाए समान रूप से प्राप्त हो। इस प्रकार व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को आगे बढा सकता है। यह तभी हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति उन सामाजिक सस्थाओ के उद्देश्य को भली भाति जानता हो जिनका कि वह सदस्य है। एक व्यक्ति एक ही समय मे एक से अधिक सामाजिक सस्थाओ का सदस्य हो सकता है। यदि वह प्रत्येक सामाजिक सस्था के उद्देश्य तथा उसकी उपयोगिता को भली भाति समझता हो, तो वह अपने व्यवहार के द्वारा व्यक्ति और समाज के हितो को सुरक्षित रख सकता है और इस प्रकार वैयक्तिक तथा सामुदायिक नैतिकता मे सन्तुलन रखता हुआ सार्वजनिक कल्याण की ओर अग्रसर हो सकता है।

वर्तमान युग मे मनुष्य जिन सामाजिक सस्थाओ एव समुदायो का अनिवार्य रूप से सदस्य होता है, उनको मुख्यतया हम निम्नलिखित क्रम से सूचिबद्ध कर सकते है ·

(१) कुटुम्ब (Family)
(२) व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय (Occupational community)
(३) नागरिक सम्प्रदाय (The civic community)
(४) धार्मिक सस्था (The church)
(५) राज्य-सस्था (The state)
(६) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए (International organizations)

अब हम इन विभिन्न समुदायो एव सस्थाओ की पृथक्-पृथक् सक्षिप्त आलोचनात्मक व्याख्या करेगे, ताकि हम व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध मे इनका महत्त्व जान सके।

कुटुम्ब

कुटुम्ब अथवा गृहस्थ सामाजिक इकाई है, क्योकि यह एक ऐसी मूल सस्था है, जिसके आधार पर अन्य सभी सामाजिक सस्थाए स्थित है। कुटुम्ब एक स्वाभाविक इकाई है, जिसमे कि परिवार के सभी सदस्य स्वाभाविक प्रेम के सूत्र मे बधे हुए होते है। यह सामाजिक इकाई निस्सदेह इतनी प्राचीन है, जितनी कि मनुष्य की सभ्यता है। छोटे से छोटा परिवार अथवा कुटुम्ब दो व्यक्तियो का होता है, जो विवाह द्वारा पति-पत्नी के रूप मे सम्बन्धित होते है। विश्व के प्रत्येक देश मे परिवार एव कुटुम्ब की प्रथा एक ही रूप मे उपस्थित है। परिवार मे ज्यो-ज्यो सतान की उत्पत्ति के कारण वृद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो इसके प्रौढ सदस्यो का उत्तरदायित्व भी बढता चला जाता है। पति-पत्नी

पिता-माता मे परिवर्तित हो जाते है और शिशुओ की हर प्रकार की रक्षा करना उनका परम कर्तव्य हो जाता है। यो तो पति-पत्नी के सम्बन्ध मे भी कर्तव्य और अधिकार की समस्या खडी होती है—जब तक जीवन के दोनो साथी एक-दूसरे का सम्मान न करे, तब तक परिवार सफलतापूर्वक नही चल सकता । सन्तान की उपस्थिति मे कर्तव्य और अधिकार की समस्या और भी जटिल हो जाती है। परिवार मे पति और पत्नी का सम्बन्ध तो समानता का होता है, किन्तु सन्तान का माता-पिता से सम्बन्ध असमानता का होता है। माता-पिता निस्सदेह आयु और अनुभव के कारण बालको की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं और बालको की उचित शिक्षा तथा उनके चरित्र का निर्माण उन्हीके हाथो मे होता है। यह सत्य है कि बालको पर माता-पिता का नियन्त्रण उनके भविष्य के लिए लाभदायक होता है, किंतु बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र मे जो खोज की गई है, उसके आधार पर शैशवावस्था से ही बालको के मन पर दबाव न डालना और उनकी मूल प्रवृत्तियो का दमन न करना उनके सर्वांगीण विकास के लिए नितात आवश्यक माना गया है।

जहा तक बालको के चरित्र के निर्माण का सम्बन्ध है, मनोविज्ञान का कहना है कि जब तक शिशु बारह या चौदह वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले, तब तक उसे उच्च नैतिक शिक्षा देना, सत्य, अहिंसा जैसी अमूर्त धारणाओ का ज्ञान कराना उचित नही है। किन्तु यदि शैशवावस्था मे ही नैतिक सिद्धान्तो का परिचय दिया जाए और बालक को स्वच्छन्द व्यवहार करने का अवसर न दिया जाए, तो ऐसे बालक प्रौढ़ावस्था मे अनैतिक बन जाते है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से किशोरावस्था मे ही बालको को सद्गुणो और नैतिक आदर्शों का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करना चाहिए । बालको की नैतिक प्रशिक्षा मे अनुकरण की प्रवृत्ति विशेष महत्त्व रखती है। अत इस प्रवृत्ति की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक अनुसधान ने अनुकरण के निम्नलिखित स्तर निर्धारित किए हैं :

(१) सहजानुकरण (Reflex imitation)
(२) स्वच्छन्दानुकरण (Spontaneous imitation)
(३) सविकल्पक अनुकरण (Voluntary imitation)
(४) नाट्यानुकरण (Dramatic imitation)
(५) आदर्शानुकरण (Ideal imitation)

सहजानुकरण का अर्थ सहज प्रवृत्ति (Reflex) का अनुकरण है। यह अनुकरण यत्रवत् और जन्मजात होता है। इसलिए नवजात शिशु मे इस प्रकार के अनुकरण की प्रवृत्ति उपस्थित रहती है। उदाहरणस्वरूप, जब नवजात शिशु भूख के कारण रोता-चिल्लाता है, तो उसका यह चिल्लाना सहज क्रिया होती है। किन्तु जब वह किसी अन्य शिशु के रुदन को सुनकर बिना भूख के ही रोने लगता है, तो उसकी यह क्रिया सहजानुकरण पर आधारित होती है। प्राय. यह देखा गया है प्रसूतिगृह मे, जहा अनेक नवजात

शिशु एकसाथ उपस्थित होते है, वहा एक शिशु के रोने पर अन्य सभी रोना आरम्भ कर देते है। उनका यह एकसाथ रोना सहजानुकरण के कारण होता है। स्वच्छन्दानुकरण मे शिशु किसी वडे वालक अथवा व्यक्ति की क्रिया का आकस्मिक अनुकरण करता है। ऐसा करते समय शिशु उस अनुकरण का अर्थ नही समझता और न ही उस अनुकरण मे उसका कोई उद्देश्य होता है। यह 'अनुकरण केवल अनुकरण के लिए'[१] ही होता है। उदाहरणस्वरूप, जव एक वर्ष अथवा उससे कम आयुवाला शिशु किसी व्यक्ति को सिर हिलाते देखता है, तो वह स्वत ही अपना सिर हिलाने लगता है। उसकी यह क्रिया स्वच्छन्दानुकरण पर आधारित होती है। प्राय. एक या डेढ वर्ष की आयु तक वालक स्वच्छन्दानुकरण के स्तर तक ही रहता है। स्वच्छन्दानुकरण शिशु को चलने की क्रिया सीखने मे सहायता देता है। जव तक वालक मे थोडी-सी तर्कशक्ति उत्पन्न नही होती, तव तक वह सविकल्पक अनुकरण नही कर सकता।

सविकल्पक अनुकरण मे शिशु अपने सकल्प के द्वारा किसी कर्म का अनुकरण करता है। दूसरे शब्दो मे, जो अनुकरण जान-वूझकर किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है, वह सविकल्पक अनुकरण होता है। यह अनुकरण कम से कम तीन वर्ष की आयुवाले शिशु मे विकसित होता है। इसी अनुकरण के आधार पर ही शिशु अक्षर लिखना और पढना आदि सीखता है। इसी प्रकार साइकल चलाना, नृत्य सीखना आदि सभी सविकल्पक अनुकरण पर आधारित क्रियाएं हैं। अनुकरण का चौथा स्तर नाट्यानुकरण है। जैसाकि इस अनुकरण के नाम से स्पष्ट है, इस अनुकरण मे अनुकरण करनेवाला व्यक्ति किसी क्रिया का अभिनय करता है। उदाहरणस्वरूप, जव शिशु व्यापारी वन जाते हैं अथवा रेल वनाकर चलते हैं, ऐसे खेलो मे वे नाट्यानुकरण का प्रयोग करते है। अनेक वार वालक सेना की नकल करते है अथवा एक वालक अध्यापक वन वैठता हैं और अन्य छात्रो का अभिनय करते है। नाट्यानुकरण मे सकल्प के साथ-साथ कल्पनाशक्ति का भी प्रयोग होता है। नाट्यानुकरण की अवस्था प्राय पाच वर्ष से वारह वर्ष तक रहती है। वारह वर्ष की आयु के पश्चात् वालक आदर्शानुकरण का प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार के अनुकरण करने मे वालक न ही केवल जान-वूझकर किसी क्रिया का अनुकरण करता है, अपितु वह किसी व्यक्ति-विशेष के चरित्र को लेकर और उसे अपना आदर्श मानकर उसीके अनुसार अपने जीवन का मार्गदर्शन करता है। उदाहरणस्वरूप, जो वालक सैनिक जीवन को पसन्द करता है, वह किसी आदर्श सेनापति का जीवन-चरित्र पढकर उसका अनुकरण करने लगता है। किन्तु इस प्रकार के अनुकरण करने की अवस्था वास्तव मे किशोरावस्था है। जव तक वालक वारह वर्ष की अवस्था तक न पहुच जाए, तव तक वह न तो आदर्श का अर्थ समझ सकता है और न किसी महापुरुष के जीवन का अनुसरण कर सकता है। यही कारण है कि आदर्शानुकरण का प्राय: किशोरावस्था मे ही उपयोग किया जाता है। जव वालक अथवा वालिकाए किशोरावस्था

१. 'Imitation for the sake of imitation.'

को प्राप्त होती है, तो उस समय उन्हे अनेक महापुरुषो के जीवन-चरित्र पढने चाहिए। अनुकरण की इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि माता-पिता अपने बालको के विकास के लिए नैतिक प्रशिक्षण देते समय उनकी आयु तथा उनकी कोमलता का विशेष ध्यान रखे। कुटुम्ब एव परिवार की समस्याए इतनी जटिल और महत्त्वपूर्ण है कि हमे आगे चलकर एक सफल परिवार के लक्षणो पर पुन प्रकाश डालना पडेगा। अत हम सामाजिक इकाई, परिवार एव कुटुम्ब से सम्बन्धित विवाह आदि के नैतिक महत्त्व की व्याख्या करने से पूर्व अन्य सामाजिक सस्थाओ की व्याख्या करेगे।

व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय

व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय का अर्थ वह समुदाय है, जिसका सदस्य होने के नाते व्यक्ति अपनी आजीविका प्राप्त करता है। वह समुदाय एवं सामाजिक सस्था एक कार्यालय हो सकता है, उद्योग हो सकता है, विद्यालय, महाविद्यालय अथवा विश्व-विद्यालय आदि हो सकता है। व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय के परस्पर-सम्बन्ध ऐसे होते हैं जो पारिवारिक सम्बन्धो से सर्वथा विभिन्न होते है। वे न तो परस्पर-प्रेम पर आधारित होते हैं और न ही समानता के सम्बन्ध होते है। इसके विपरीत, वे भागीदारी एव समझौते पर आधारित होते हैं और उनमे एक व्यक्ति दूसरे के अधीन होता है। यह तो सत्य है कि परिवार मे भी शिशु माता-पिता के अधीन माने जाते है, किन्तु इस प्रकार की अधीनता विकसित रूप मे नही होती। वह तो एक प्रकार की ऐसी विवशता होती है, जिसका कि शिशु अपने स्वाभाविक रक्षको के प्रति अनुभव करते है। आजीविका-सम्बन्धी एव औद्योगिक अधीनता कुछ विशेष बाहरी उद्देश्य को लेकर चलती है। इसमे अधीन व्यक्ति की सुरक्षा तो अवश्य की जाती है, किन्तु वह सुरक्षा अन्तरात्मक अनुबन्ध पर आधारित न होकर बाह्यात्मक लक्ष्य से सम्बन्धित होती है।

व्यवसाय-सम्बन्धी सस्था की सदस्यता के कारण अनेक नैतिक समस्याए खडी होती हैं। सर्वप्रथम आर्थिक समुदाय-सम्बन्धी समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा और उससे उसके परिश्रम के अनुसार पर्याप्त आजीविका प्राप्त कराने के लिए न्याय दिलाना है। यदि व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार उचित आजीविका प्राप्त न हो और आर्थिक समुदाय मे उसे सम्मान प्राप्त न हो, तो उस समुदाय की अधीनता एक प्रकार की दासता प्रमाणित हो सकती है। जहा आर्थिक समुदाय मे, मनुष्य के जीवन तथा उसके स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकारो की रक्षा आवश्यक है, वहा यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम करे। इस प्रकार प्रत्येक सभ्य समाज मे, व्यक्ति के लिए परिश्रम करना एक सामाजिक कर्तव्य हो जाता है। जिस समाज मे व्यक्ति इस कर्तव्य की अवहेलना करता है और बिना परिश्रम के उसे जीवन-सम्बन्धी सुविधाए प्राप्त होती है, ऐसे समाज मे अन्याय और

अनैतिकता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब समाज मे, किसी वर्ग-विशेष को बिना परिश्रम के आर्थिक सुविधाए प्राप्त हुई हैं, तभी महान क्रान्तिया और परिवर्तन हुए है। फ्रास की अठारहवी शताब्दी की क्रान्ति से पूर्व, फ्रास के समाज मे आर्थिक विषमता के कारण अनेक अत्याचार होते थे। एक ओर तो धनवान जागीरदार भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर रहे थे और दूसरी ओर निर्धन लोग भूख के कारण मृत्यु को प्राप्त हो रहे थे। यही आर्थिक विषमता की दशा रूस मे जार के राज्य के समय थी। दोनो देशो मे आर्थिक विषमताओ के कारण ऐसी भयकर क्रान्तिया हुई, जिनमे असख्य शिशुओ, प्रौढो और वृद्धो का रक्तपात हुआ। फ्रास की क्रान्ति का परिणाम प्रजातन्त्र की उत्पत्ति और रूस की क्रान्ति का परिणाम साम्यवाद की स्थापना हुआ। आज तक ये दोनो राजनीतिक प्रणालिया विश्व मे प्रचलित है। इन दोनो की परस्पर-तुलना तो हम इस अध्याय मे आगे चलकर करेंगे, यहा पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि आर्थिक विषमता मनुष्य मे न्याय की भावना जागरित करती है और इस प्रकार उसे हिंसात्मक क्रान्ति के लिए प्रेरणा देती है। इसमे कोई सन्देह नही कि व्यक्ति और समाज के सन्तुलित विकास के लिए मनुष्य के आर्थिक जीवन मे सन्तुलन होना आवश्यक है। यह सन्तुलन केवल आर्थिक समता के द्वारा प्राप्त नही हो सकता, अपितु स्वामी तथा श्रमिक, उद्योगपति तथा कर्मचारी के परस्पर-स्नेह, प्रेम और भ्रातृभाव से ही उत्पन्न हो सकता है।

पश्चिमीय जगत् मे, कुछ विचारक तो इस दृष्टि का समर्थन करते है और उस आर्थिक सस्कृति का विरोध करते हैं, जिसमे स्नेह और मानवता की अपेक्षा धन और स्वार्थ को श्रेष्ठ समझा जाता है। किन्तु कुछ विचारक ऐसे भी है, जोकि आर्थिक समुदाय को स्वाभाविक स्नेह पर आधारित न करके केवल व्यापारिक सम्बन्ध पर ही आधारित करना श्रेष्ठ मानते है। इसलिए वे विशुद्ध आर्थिक भागीदारी को पैतृक सम्बन्ध की भाति स्वाभाविक बनाने से सकोच करते हैं। इसी समस्या पर विचार करते हुए मैकन्जी ने लिखा है, "जब स्वाभाविक स्नेह का कोई आधार नही होता, तो पैतृक सम्बन्ध तुरन्त अत्याचार मे परिवर्तित हो जाता है। सम्भवतया सर्वोत्तम उपाय यह है कि व्यापारिक सम्बन्धो को विशुद्ध भागीदारी ही स्वीकार किया जाए।"[१] इस प्रकार की धारणा, जोकि अर्थ को मानवता से श्रेष्ठ स्वीकार करती है, और जो सस्कृति को सम्पत्ति से गौण बनाती है, भले ही आर्थिक और औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दे रही हो, किन्तु वह वर्तमान सामाजिक जीवन मे स्वार्थ और रूखेपन का मुख्य कारण हैं। आर्थिक विकास पर आवश्यकता से अधिक बल निस्सन्देह सामाजिक सन्तुलन के लिए हानिकारक

---

१ "A paternal relationship easily passes into tyranny when there is no basis of natural affection It is probably best that business relationships should be made a matter of pure contract"

—A Manual of Ethics by J. S Mackenzie, Page 296

है। आर्थिक समुदाय मे मानवता और संस्कृति की ओर तटस्थता कदापि व्यक्ति और समाज के परस्पर-सम्बन्ध को सुधार नही सकती।

नागरिक सम्प्रदाय

प्रत्येक व्यक्ति, विशेषकर वर्तमान युग मे, निश्चित रूप से किसी न किसी नागरिक समुदाय का सदस्य होता है। यहां पर नागरिक समुदाय का अर्थ कोई भी ऐसी संस्थ है, जिसमे कि व्यक्ति को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते है, चाहे वह समुदाय गाव तक सीमित हो अथवा नगर तक। यह समुदाय निस्सन्देह अनेक पारिवारिक समुदायो और आर्थिक समुदायो की समष्टि होता है। ऐसे समुदाय मे व्यक्ति के अधिकार तथा कर्तव्य होते हैं। उदाहरणस्वरूप, ग्राम-पचायत, नगरपालिका आदि नागरिक समुदाय हैं। ऐसी सस्थाओ का सम्बन्ध ग्राम तथा नगर के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होता हैं। एक आदर्श नागरिक होने के नाते, प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह नागरिक समुदाय मे सक्रिय भाग ले। नागरिको के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने नागरिक समुदाय मे स्वास्थ्य, शिक्षा तथा खाद्य-सम्बन्धी समस्याओ की ओर ध्यान दे और यह देखे कि उनके समुदाय मे प्रत्येक नागरिक को जीवन की इन तीनो आवश्यकताओ के लिए सभी सुविधाए प्राप्त हैं। यदि कोई नागरिक यह देखता है कि उसके समुदाय मे शिशु-शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध नही है अथवा गलियो आदि मे स्वास्थ्य-विधि के नियमो को नही अपनाया जाता, अथवा व्यापारी-वर्ग खाद्य-पदार्थो मे मिलावट कर रहा है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इन दोषो की रोकथाम के उपाय जुटाए। इसमे कोई सन्देह नही कि नागरिक समुदाय के विकास के लिए पचायत, नगरपालिका आदि स्थानीय स्वायत्त शासन जैसी सस्थाए प्रत्येक प्रगतिशील देश मे उपस्थित है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन सस्थाओ का सदस्य होने के कारण इनमे सक्रिय भाग लेने से समाज-कल्याण मे योग दे सकता है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक व्यक्ति इन सस्थाओ का निर्वाचित प्रतिनिधि बनकर ही अपने इस कर्तव्य का पालन करे। ऐसा करना तो राजनीति मे भाग लेना है। इसके विपरीत, अपने तथा अपने पड़ोसियो के नागरिक अधिकारो के प्रति सजग और सतर्क रहना-मात्र ही नागरिक समुदाय के विकास के लिए पर्याप्त है।

धार्मिक संस्था

आचार-विज्ञान तथा धर्म का सम्बन्ध बतलाते हुए हमने पहले अध्याय मे ही यह स्वीकार किया है कि धार्मिक प्रवृत्ति मनुष्य की एक जन्मजात और अनिवार्य प्रवृत्ति है। यही कारण है कि सस्कृति के आरम्भ से ही मनुष्य मे धार्मिक भावना उपस्थित रही है और आज तक उपस्थित है। मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति, उसकी प्रकृति पर विजय और उसके चमत्कारक आविष्कार, उसे भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली और महान बनाने

मे अवश्य सहायक सिद्ध हुए है। किन्तु यह समस्त भौतिक उन्नति, जो उसकी वाह्यात्मक परिस्थितियो को व्यवस्थित करने मे सफल हुई है, आज तक मनुष्य को अन्तरात्मक स्थायित्व एवं आध्यात्मिक शक्ति प्रदान नही कर सकी। जब तक मानव-समाज की भौतिक और आध्यात्मिक शक्ति सन्तुलित रूप से विकसित नही होती, जब तक इनके विकास मे विषमता रहती है, तब तक समाज का सर्वाङ्गीण विकास नही हो सकता। धार्मिक सस्था—चाहे वह गिरजाघर हो, चाहे मन्दिर, चाहे मस्जिद हो, चाहे गुरुद्वारा—मानव समाज के आध्यात्मिक विकास का एकमात्र केन्द्र होती है।

इसके अतिरिक्त धार्मिक सस्था की सदस्यता के कारण समुदाय-विशेष के व्यक्ति अधिक घनिष्ठता से एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते है। धार्मिक सस्था का मुख्य उद्देश्य मानवीय सम्बन्धो मे उच्चतम नैतिक आदर्श को अभिव्यक्त करना है। प्रत्येक धर्म के एव धार्मिक समुदाय के आधारभूत नियम सदैव सर्वमान्य और व्यापक नैतिक नियम होते हैं। जैसाकि हमने पहले भी सकेत किया है, सत्यपरायणता, अनुकम्पा, भ्रातृभाव जैसे सद्गुणो का विकास धार्मिक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। यदि मानव-मात्र का ही नही, अपितु प्राणी-मात्र का कल्याण प्रत्येक प्रगतिशील धर्म का उद्देश्य है, तो यह सत्य है कि धार्मिक सस्था की सदस्यता समाज-कल्याण के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। यह दु ख की बात है कि धार्मिक सस्थाओ के इस उद्देश्य की अवहेलना करके और सकुचितहृदयता को अपनाकर, मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति का अनुचित लाभ उठाया गया है और धर्म-सस्थाओ के नाम पर, घृणा के बीज बोए गए है। किन्तु मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति का यह दुरुपयोग इस बात को सिद्ध नही करता कि एक आदर्श धार्मिक सस्था का उद्देश्य समाज-विरोधी और अनैतिक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करना है। इसके विपरीत, धार्मिक सस्था एक ऐसी सामाजिक सस्था है, जो मनुष्य मे सेवा-भाव और त्याग की भावना उत्पन्न करके, उसे एक आदर्श नागरिक बनाने मे सहायता देती है। वर्तमान युग मे धर्म के तुलनात्मक अध्ययन के कारण विभिन्न धार्मिक सस्थाओ की समानता दिन-प्रतिदिन स्वीकार की जा रही है और यह अनुभव किया जा रहा है कि धर्म मानव-समाज की विभिन्नता का कारण न होकर उसकी एकता का मूल आधार है।

राज्य-संस्था

राज्य-सस्था भी अन्य सामाजिक सस्थाओ की भाति, मानव-समाज की एक प्राचीनतम सस्था है। राज्यसत्ता मानवीय समाज के सभी अन्य सम्बन्धो का आदि से नियन्त्रण करती चली आई है। जिस समय विश्व मे राजतन्त्र की प्रधानता थी, तो राजा को ही धार्मिक और सामाजिक नेता माना जाता था। मध्यकाल तक यूरोप जैसे प्रगतिशील महाद्वीप मे भी, राजा के अधिकारो को ईश्वरीय अधिकार स्वीकार किया जाता था। इगलैंड जैसे सुसस्कृत और प्रगतिशील राष्ट्र मे आज तक भी राजा को गिरजाघर की धार्मिक सस्था का अधिपति तथा धर्म का रक्षक (Defender of the

faith) स्वीकार किया जाता है। प्रजातन्त्रीय शासन मे, यद्यपि धर्मनिरपेक्षता (Secularism) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना प्रत्येक प्रजातन्त्र का मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। राज्य की सस्था अनेक ऐसे कार्यों को अपने हाथ में लेती है, जो व्यक्तिगत रूप मे नही किए जा सकते। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्र की सुरक्षा, यातायात के साधन जैसे कार्य केवल राज्य के द्वारा ही सुचारु रूप से चलाए जा सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र मे राज्य-सस्था ही ऐसे सार्वजनिक और आवश्यक कार्यो को अपने हाथ मे लेती है। प्रत्येक नागरिक अपने राज्य का नागरिक होता है और उसका कर्तव्य राज्य के आदेशो का पालन करना होता है। आधुनिक समय की राज्य-सस्था और प्राचीन समय की राज्य-सस्था मे भेद यह है कि वर्तमान राज्य-सस्थाए राजतन्त्रीय न होकर, प्रजातन्त्रीय हैं। प्राचीन समय मे, 'जिसकी लाठी उसकी भैस' की लोकोक्ति चरितार्थ होती थी, किन्तु वर्तमान समय मे राज्यसत्ता न तो परम्परा के आधार पर और न शारीरिक बल के आधार पर एक या अनेक व्यक्तियो मे केन्द्रित की जाती है, इसके विपरीत, जनमत के द्वारा ही सत्ता का उत्तरदायित्व एक या एक से अधिक प्रतिनिधियो को सौप दिया जाता है। चाहे राज्य-सस्था प्रजातन्त्रवादी हो चाहे साम्यवादी, चाहे उसका आधार पूजीवाद हो या समाजवाद, हर अवस्था मे प्रजा के द्वारा प्रतिनिधियो का निर्वाचित होना नितान्त आवश्यक है। वर्तमान राज्य-सस्थाओ का यह विशेष लक्षण व्यक्ति तथा समाज के सम्वन्ध को और भी घनिष्ठ प्रमाणित करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राजनीतिक मत का सदुपयोग करके और योग्य सदस्य को निर्वाचित करके राज्य-सस्था की सफलता मे योग दे सकता है। इसी प्रकार राज्य-सस्था के निर्वाचित अधिकारी, राज्यसत्ता का सदुपयोग करके मतदाताओ के व्यक्तिगत विकास मे सहायक हो सकते हैं। अत. राज्य-संस्था व्यक्ति के अधिकारो और कर्तव्यो के आधार पर ही सफल हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं

जव तक मनुष्य वैज्ञानिक आविष्कारो के अभाव के कारण मन्थर गति से यात्रा कर सकता था, तव तक वह इस विशाल विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे, विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियो मे, विभिन्न समूहो मे एव विभिन्न राष्ट्रो मे रहता था और प्रत्येक राष्ट्र अपने-आपमे पूर्ण और स्वतन्त्र स्वीकार किया जाता था। इस अवस्था मे, नागरिकता की सीमा अधिक से अधिक राष्ट्रीयता तक व्यापक थी। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना ने वीसवी शताव्दी के पूर्वार्ध तक इतनी उग्रता धारण की थी कि राष्ट्रीयता के नाम पर असख्य मनुष्यो का सहार किया गया और राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए दो भयकर विनाशकारी विश्वयुद्ध हुए। किन्तु चाहे युद्धो मे सफलता प्राप्त करने के लिए चाहे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए, इसी काल मे विज्ञान ने अणुशक्ति का आविष्कार करके और तीव्र से तीव्र गतिवाले वायुयानो तथा यातायात के अन्य साधनो का निर्माण

करके, विश्व को एक छोटा-सा कुटुम्ब बना दिया है। आज विज्ञान ने सभी भौगोलिक सीमाओ का अन्त कर दिया है। इसी कारण आज प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक समस्या, सामाजिक समस्या तथा राजनीतिक समस्या केवल उसी राष्ट्र तक सीमित नही है, अपितु विश्व के सभी राष्ट्रो पर प्रभाव डालती है। यह तथ्य आज विश्व के जनसाधारण को विदित है कि किसी भी राष्ट्र पर, किसी अन्य राष्ट्र का आक्रमण केवल प्रादेशिक आपत्ति नही, अपितु एक अन्तर्राष्ट्रीय आपत्ति है। इसका कारण यही है कि आधुनिक परिस्थितियो ने मानव-मात्र को एक अन्तर्राष्ट्रीयता के सूत्र मे बाध दिया है। अत मनुष्य आज एक नगर का, एक राज्य का अथवा एक राष्ट्र का ही अग नही है, अपितु वह विश्वव्यापी मानव-समाज का अभिन्न अग है और उसका उत्तरदायित्व स्थानीय और राष्ट्रीय न होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। सौभाग्यवश सयुक्त राष्ट्रसघ तथा उससे सम्बन्धित अन्य सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा सास्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए अपने-अपने क्षेत्र मे सक्रिय सेवा करके विश्व के नागरिको मे अन्तर्राष्ट्रीयता और भ्रातृ-भाव की भावना का सतत सचार कर रही है। अत प्रत्येक सामान्य नागरिक के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से सम्बन्धित रहना आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य होगया है।

यह तो सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार के होते हुए भी मानव-समाज किसी विश्व-राज्य के अधीन नही है। आज भी उच्चतम राज्यसत्ता निस्सन्देह राष्ट्रीय राज्यसत्ता है। यदि ऐसा न हो तो 'अन्तर्राष्ट्रीय सस्था' नाम का कुछ अर्थ ही नही हो सकता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावना की प्रगति को दृष्टिगोचर करते हुए और अन्त-रिक्ष की यात्रा की सफलता को सामने रखते हुए, एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति सर-लता से इस निष्कर्ष पर पहुच सकता है कि निकट भविष्य मे मानव-मात्र की प्रगति के लिए और मानवीय सस्कृति की सुरक्षा के लिए, विश्य-राज्य का स्थापित होना आव-श्यक ही नही, अपितु अनिवार्य हो जाएगा। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए हमने सामा-जिक संस्थाओ की व्याख्या मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ को भी स्थान दिया है। यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का ज्ञान जनसाधारण तक धीरे-धीरे पहुच रहा है। किन्तु यह भी सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के बिना, विश्व का मानव आज एक पग भी आगे नही बढ सकता। अत यह आवश्यक है कि व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए तथा उनके परस्पर-सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिए, प्रत्येक मनुष्य सस्कृत के निम्नलिखित कथन को अपने जीवन मे उतारे, "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्," अर्थात् "उदार चरित्रवाले व्यक्ति वे ही है, जो सम्पूर्ण विश्व को अपना कुटुम्ब स्वीकार करते हैं।" भारतीय ऋषियो, साहित्यिको, दार्शनिको, कवियो तथा राजनीतिज्ञो ने प्राचीन-काल से लेकर वर्तमान समय तक, मानवता के इसी आदर्श को सदैव अपनाया है और अपना रहे हैं। भारत का इतिहास इसी उदारता का इतिहास है। यदि भारत विश्व के सामने कोई आदर्श प्रस्तुत कर सकता है, तो वह भ्रातृभाव, मानवता तथा प्रेम का आदर्श है। यही कारण है कि आज भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे, जहा कही हिंसा और सघर्ष उत्पन्न

होता है, वहा भारतीय संस्कृति के प्रतीक, विश्वप्रिय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसी आदर्श का अनुसरण करते हुए, अहिंसा और सत्य पर आधारित नीति के द्वारा, विकट समस्याओ का समाधान करते है और विश्व को घोर सकट मे पड़ने से वचा लेते है।

अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की सदस्यता आज प्रत्येक राष्ट्र के लिए निस्सन्देह अनिवार्य है। किन्तु इस सदस्यता का उत्तरदायित्व न ही केवल राष्ट्र, अपितु प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक अपने-अपने ढग से, अपनी शक्ति के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीयता, सद्भावना तथा शान्ति का प्रसार कर सकता है और ऐसा करना उसका परम कर्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के सम्बन्ध मे, हमने अभी तक कर्तव्य और उत्तरदायित्व की ही व्याख्या की है। इस प्रकरण मे यह कहना नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्र का नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से मूलभूत अधिकारो को प्राप्त करने की आशा रखता है। इसमे कोई सन्देह नही कि सयुक्त राष्ट्रसघ का आधार मूलभूत मानवीय अधिकार है और संयुक्त राष्ट्रसघ तथा उससे सम्बन्धित अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए इन अधिकारो की रक्षा के लिए सतत प्रयास कर रही है। किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि ये अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाए सभी देशो मे इन अधिकारो की रक्षा करने मे सफल रही है। जब तक दक्षिण अफ्रीका मे वर्ण के आधार पर मानवीय अधिकारो का दमन किया जाएगा और जब तक विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रो मे दीनता और भूख रहेगी, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ को पूर्णतया सफल स्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु इस पूर्ण सफलता के लिए विश्व के प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्यो का पालन करके निरन्तर प्रयत्न करना होगा। तभी व्यक्ति तथा समाज एकसाथ नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सास्कृतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ सकेंगे। नैतिक प्रगति एक ऐसा विषय है, जिसकी व्याख्या हमे अवश्य करनी चाहिए। किन्तु इससे पूर्व, मनुष्य के उचित स्थान के अनुसार, उसके जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य को एक बार फिर आकना आवश्यक है।

पन्द्रहवां अध्याय

व्यक्ति का समाज में स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्य

(Individual's Station and his Duties)

पिछले अध्याय मे हमने व्यक्ति तथा समाज के परस्पर अभिन्न सम्बन्ध पर तथा उन सामाजिक सस्थाओ पर प्रकाश डाला है, जिनका कि एक सामान्य व्यक्ति वर्तमान युग मे सदस्य है। इस व्याख्या का उद्देश्य नैतिक आदर्श का व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध बतलाना है। जो नैतिक आदर्श ठोस जीवन मे लागू नही किया जा सकता, अर्थात् जो एक अमूर्त आदर्श है, उसे आचार-विज्ञान मे स्वीकार नही किया जा सकता। हमने काट के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह बताया था कि उसका 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' आवश्यकता से अधिक व्यापक और अमूर्त नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार आचार-विज्ञान मे ऐसे नैतिक आदर्श को भी स्वीकार नही किया जा सकता, जो आवश्यकता से अधिक ठोस हो और व्यक्ति-विशेष के सुख के आधार पर सामूहिक सुख के आदर्श को ही परम शुभ मानता हो। ऐसा आदर्श व्यक्ति की निजी भावनाओ पर अधिक बल देता है और कोई ऐसा ठोस उपाय नही बताता, जिसके द्वारा व्यक्ति और समाज का समन्वयात्मक विकास सम्भव हो सके। सुखवाद की इस त्रुटि पर आलोचना करते हुए ब्रैडले ने लिखा है, "हमने यह देखा कि सुख की इकाइयो की अधिक से अधिक सख्या की धारणा, एक एकत्रीकरण-मात्र की धारणा है। यदि हम इस धारणा से नैतिकता की आशा करे, तो वह एक प्रकार का ऐसा सामान्य प्रस्तुत करती है, जिसकी हमें आवश्यकता है। विशेषो के एकत्रीकरण-मात्र से ऐसे सुख की रचना करने की चेष्टा, जोकि हमे एक सामान्य दे सके, एक निरर्थक चेष्टा है और ऐसी अवांछनीय उत्पत्ति है, जिसमे कि आत्मविनाश निहित है, क्योकि इसमे निजी सामान्यता पर निरन्तर बल दिया गया है और उसके साथ ही साथ (इसकी पूर्ति मे) इसमे वास्तविक विशेषता और सान्तता भी निहित है।"[१]

---

१ "The greatest sum of units of pleasure we found to be the idea of a mere collection, whereas, if we wanted morality, it was something like a universal that we wanted. Happiness, as the effort to construct that universal by the addition of particulars, gave us a futile and bastard product, which carried its self-destruction within it,

ब्रैडले के इस कथन का आशय यह है कि यदि अधिक से अधिक व्यक्तियो के सुख को ही व्यापक नैतिक आदर्श मान लिया जाए, तो उसकी यह व्यापकता वास्तव मे एक आडम्बर है। सुख की प्राप्ति को आदर्श स्वीकार करने का अर्थ, व्यक्तिगत सुख को प्रश्रय देना है और व्यक्तिगत सुख मे हमे कही भी वह व्यापकता अथवा सामान्यता नही मिलती, जोकि एक नैतिक आदर्श का मूल तत्त्व है। दूसरे शब्दो मे, यदि काट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक व्यापक और सामान्य है, क्योकि वह व्यक्तिगत हित को तनिक-मात्र भी स्थान नही देता, तो सुखवादी सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक वैयक्तिक प्रमाणित होता है, क्योकि उसमे ऐसा सामान्य मूल तत्त्व उपस्थित नही है, जो व्यक्ति को निजी स्तर से ऊपर उठाकर नैतिकता के उत्कृष्ट स्तर पर पहुचा दे। काट का अमूर्त तर्कवाद भी व्यक्ति की पूर्णतया अवहेलना करके, व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या नही कर सकता। इसी प्रकार सुखवादी सिद्धान्त भी पक्षपाती दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और हमे यह नही बताता कि किस उद्देश्य को लेकर एव किस कर्तव्य को सामने रखते हुए, इच्छाओ की तृप्ति करनी चाहिए। इन दोनो सिद्धान्तो मे जो आशिक सत्य है, उसका स्पष्टीकरण तभी हो सकता है जब हम व्यक्ति के समाज मे स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यो की निष्पक्ष व्याख्या करे। इस विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि जिस कर्तव्य को हम नैतिक प्रमाणित करना चाहते है, वह कर्तव्य निजी स्तर से श्रेष्ठ होना चाहिए। ऐसा स्तर ही हमे आत्मानुभूति को उद्देश्य स्वीकार करने मे सहायक हो सकता है। क्योकि आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमे कि विशेष निजी हितो तथा अमूर्त व्यापक आदर्श का समन्वय होता है, इसलिए इसी सिद्धान्त मे हमे एक ऐसे व्यापक कर्तव्य की झलक प्राप्त होती है, जिसको कि ठोस जीवन पर लागू किया जा सकता है। केवल ब्रैडले ही एक ऐसा दार्शनिक है, जिसने कि कर्तव्य की इस प्रकार व्यापक और तर्कात्मक धारणा प्रस्तुत की है, अत हम इस अध्याय मे ब्रैडले के दृष्टिकोण के आधार पर ही व्यक्ति का समाज मे स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्यो की व्याख्या करेगे। किन्तु ऐसी व्याख्या मे ब्रैडले के दृष्टिकोण मे निहित त्रुटियो की आलोचना करना और उसका प्रतिकार बताना भी नितान्त आवश्यक है।

ब्रैडले यह मानकर चलता है कि आत्मा के जिस स्तर की अनुभूति को हम नैतिकता का उद्देश्य स्वीकार करते है, वह स्तर न तो इतना अधिक व्यापक है कि उसे अमूर्त स्वीकार कर लिया जाए और न वह इतना अधिक विशेष है कि उसे विशिष्ट भावों का एकत्रीकरण-मात्र स्वीकार कर लिया जाए। जिस आत्मा की अनुभूति को हम आदर्श स्वीकार करते है, वह निस्सन्देह ऐसे शुभ सकल्प पर आधारित व्यक्तित्व का स्तर है, जोकि व्यक्ति-विशेष से श्रेष्ठ है और निजी हितो से ऊपर उठ जाता है। किन्तु ऐसा

---

in the continual assertion of its own universality, together with its unceasing particularity and finitude"

—Ethical Studies by F. H. Bradley, Page 160.

स्तर निस्सन्देह ठोस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला स्तर है। एक ओर तो वह इतना व्यापक है कि वह व्यक्ति-विशेष के निर्वाचन अथवा निजी दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाता है और दूसरी ओर वह इतना ठोस है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा कर्तव्य वन जाता है जिसका अनुसरण करना सामान्य व्यक्ति के सफल जीवन के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि नैतिक कर्तव्य वह कर्तव्य है, जो व्यक्ति से श्रेष्ठ है, व्यापक है, ठोस है तथा शरीर-विषयक (Organic) है। कर्तव्य के इन लक्षणो की संक्षिप्त व्याख्या करना इसलिए आवश्यक है कि यदि आत्मानुभूति को सर्वोत्कृष्ट नैतिक आदर्श मान लिया जाए, तो उस आदर्श का जीवन मे लागू होना इन्ही मूल तत्त्वो पर निर्भर रहता है।

यदि हम आत्मानुभूति को नैतिक आदर्श स्वीकार करे, तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि हमे ऐसे शुभ सकल्प को लक्ष्य वनाना है, जोकि हमारे निजी व्यक्तित्व से उत्कृष्ट है। यदि हम अपने निजी व्यक्तित्व को ही आत्मानुभूति का लक्ष्य मान लेते है, तो हमारा नैतिक आदर्श केवल व्यक्ति की स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित रह जाता है और वह सामान्य नही वन सकता। यदि नैतिक आदर्श एक सामान्य नियम है, तो उसे व्यक्तिगत हित से उत्कृष्ट भी होना पडेगा। उत्कृष्ट शुभ सकल्प को लक्ष्य वनाने का अर्थ यही है कि नैतिक आदर्श अन्तरात्मक भाव न होकर एक सामान्य वाह्यात्मक तत्त्व है। अत आदर्श का उत्कृष्ट होना, उसकी व्यापकता तथा सामान्यता को प्रमाणित करता है और सामान्यता एव व्यापकता उसकी उत्कृष्टता को प्रमाणित करती है। जव हम यह कहते है कि नैतिक आदर्श सामान्य है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह किसी विशेष भाव अथवा प्रवृत्ति को अभिव्यक्त नही करता, अपितु सभी विशेषो से ऊपर उठ जाता है। नैतिक आदर्श का तीसरा लक्षण यह है कि वह अमूर्त न होकर ठोस है। यदि नतिक आदर्श केवल अमूर्त हो और वास्तविक अस्तित्व न रखता हो, तो उसकी अनुभूति कदापि सम्भव नही हो सकती। जव हम यह कहते है कि नैतिक आदर्श ठोस है, हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह व्यापक और सामान्य होते हुए भी विशेषो मे ही अभिव्यक्त होता है। वह केवल विशेषो के द्वारा ही अनुभूत होता है और सान्त व्यक्तियो के जीवन का वास्तविक सकल्प होता है। यदि वह जीवन का वास्तविक सकल्प न हो तो उसके शुभ होने का और नैतिक होने का कोई अर्थ नही रहता। इस प्रकार ठोस और जीवन से वास्तविक रूप से सम्वन्धित होने के कारण नैतिक आदर्श एक ऐसा पूर्ण है जोकि सम्पूर्ण आत्मा मे एव व्यक्तित्व मे ओतप्रोत रहता है। यह एक ऐसा पूर्ण है अथवा पूर्ण आत्मा है, जो शरीर के साथ-साथ जीवित रहती है, जो शरीर को जीवित शरीर वनाती है और जो स्वय शरीर के विना उसी प्रकार असत्य है एव अमूर्त है, जिस प्रकार कि शरीर उसके विना असत्य और अमूर्त होता है। इस प्रकार नैतिक आदर्श एव कर्तव्य का चौथा लक्षण यह है कि वह एक नैतिक शरीर है। उसमे न ही केवल चैतन्य आत्मानुभूति है, जोकि सकल्प पर आधारित होती है, अपितु वह सम्पूर्ण शरीर की ऐसी आत्मानुभूति और

वास्तविकता है जोकि जीवन के प्रत्येक कर्म मे ओतप्रोत रहती है। इस प्रकार, नैतिक आदर्श के शरीर-विषयक होने का अर्थ यह है कि वह व्यक्ति मे उपस्थित होता हुआ भी व्यक्ति से ऊपर उठ जाता है और ऐसे जीवन मे समाविष्ट हो जाता है, जोकि केवल व्यक्तिगत जीवन नही होता, अपितु ऐसा जीवन होता है, जिसमे कि एक उदात्त और व्यापक व्यक्तित्व की झलक होती है।

नैतिक आदर्श की ऊपर दी गई व्याख्या प्रथम दृष्टिपात पर सगत प्रतीत नही होती, किन्तु यदि व्यक्तित्व और आत्मानुभूति का पूर्ण विश्लेषण किया जाए, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि जिस व्यक्तित्व की अनुभूति को हम उच्चतम नैतिक आदर्श स्वीकार कर सकते है, वह किसी व्यक्ति-विशेष का निजी शरीर अथवा व्यक्तित्व नही है और न ही यह सम्भव है कि कोई भी व्यक्ति ऐसा है जिसको कि हम उसके वातावरण से सर्वथा पृथक् कर सकते है। यदि यह सत्य है, तो व्यक्तिगत आत्मानुभूति का अर्थ व्यक्ति और समाज, विषमता और समता तथा एकत्व और अनेकत्व का सुन्दर समन्वय ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

जिस व्यापक शुभ सकल्प को आत्मानुभूति लक्ष्य बनाती है, वह वास्तव मे व्यक्ति का उस नैतिक पूर्ण एव शरीर से तादात्म्य है, जिसका कि यह स्वय अग है। इस नैतिक पूर्ण एव शरीर की आत्मानुभूति, उसके आत्मचेतन सदस्यो के संकल्प के द्वारा ही फलीभूत होती है। इसे पूर्ण शरीर एव समाज की आत्मानुभूति इसलिए कहा जाता है कि उसके प्रत्येक अग और अगो के द्वारा किए गए कर्म मे एक ही सकल्प निहित रहता है। ब्रैडले इस प्रकार सामाजिक पूर्ण को एक व्यक्तित्व प्रदान करता है और प्रत्येक व्यक्ति को उस पूर्ण का अग स्वीकार करता है। जब व्यक्ति एक शरीर के अग की भाति अपने स्थान को समझ लेता है और उस स्थान के अनुसार अपने कर्तव्यो का पालन करता है, तो वह स्वत ही सुख का अनुभव भी करता है। इस प्रकार समाज-रूपी समष्टि को एक शरीर स्वीकार करके एव एक क्रम मानकर और व्यक्ति को उस क्रम का अभिन्न अंग मानकर आत्मानुभूति का सिद्धान्त, कर्तव्य तथा सुख का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। यह समन्वय कल्पनात्मक नही है, अपितु एक तथ्यात्मक सत्य है।

व्यक्ति को सामाजिक शरीर का अग स्वीकार करना, निस्सन्देह उसकी तथ्यात्मक व्याख्या करना है। हमने पिछले अध्याय मे यह देखा है कि प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप से विभिन्न सामाजिक सस्थाओ का सदस्य होता है। उसकी यह सदस्यता प्रमाणित करती है कि वह अपने-आपमे पृथक् अस्तित्व नही रखता। हम यह नही कह सकते कि किसी व्यक्ति मे उसँके व्यक्तिगत अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नही है। इसके विपरीत, हमे यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, इन सामाजिक सम्बन्धो के अतिरिक्त और कुछ नही है। कुछ लोग ऐसी धारणा प्रस्तुत करते है कि व्यक्ति अपने-आपमे वास्तविक हैं और उनके सामाजिक सम्बन्धो की वास्तविकता, उनकी व्यक्तिगत वास्तविकता पर आधारित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति ही सामाजिक सम्बन्धो

को वास्तविक वनाते है और वे सामाजिक सम्वन्धो के कारण वास्तविक नही होते। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति सामाजिक सस्थाओ से वाहर रहकर भी वास्तविक हो सकते है। इस प्रकार पूर्ण का अस्तित्व वास्तविक न होकर, अगो का जोड़-मात्र रह जाता है और उसके अग पूर्ण से वाहर रहकर भी, उतने ही वास्तविक होते है, जितने कि वे उसके अन्दर रहकर वास्तविक होते है। किन्तु अग एव विशेषो को इस प्रकार आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना तथ्यो की अवहेलना करना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने, विशेषकर पूर्णात्मक मनोविज्ञान (Gestalt psychology) ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पूर्ण अपने अगो का जोड-मात्र नही है, इसके विपरीत वह इन अगो से अधिक वास्तविक है और इन्हे नवीन अर्थ देता है। पूर्ण की इस विशेषता को पूर्णात्मक एव आकारात्मक गुण (Form quality) कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, हम एक ही रग के लकड़ी के टुकडो से विभिन्न प्रकार के आकार वना सकते है और विभिन्न रगो के लकडी के टुकड़ो से एक ही प्रकार के नमूने वना सकते है। इसी प्रकार हम एक ही रग के कपड़े से अनेक प्रकार की वेशभूषाए निर्मित कर सकते है। इन उदाहरणो से यह प्रमाणित होता है कि किसी वस्तु के आकार की वास्तविकता उसके अगो से सम्वन्धित होते हुए भी, एक ऐसी पूर्णात्मक वास्तविकता है, जिसका अपना महत्त्व है। पूर्ण मे समन्वित विशेष अग इसी पूर्ण की वास्तविकता से ही अपना महत्त्व प्राप्त करते है। ब्रैडले की व्यक्ति और समाज की शरीर-विषयक धारणा, पूर्णात्मक मनोविज्ञान के अनुसन्धान से पुष्ट होती है। अत ब्रैडले का यह स्वीकार करना कि व्यक्ति उसी प्रकार अपनी क्रिया करता है, जिस प्रकार कि एक अग पूर्ण के सम्वन्ध मे क्रिया करता है, कोरी कल्पना नही है, अपितु एक वास्तविक धारणा हे। यही कारण है कि ब्रैडले वलशाली शव्दो मे, आत्मानुभूति के सिद्धान्त को शरीर-विषयक आधार पर अभिव्यक्त करते हुए कहता है, "यह वास्तविक है और मेरे लिए वास्तविक है। इसको स्वीकार करते हुए मैं अपने-आपको स्वीकार करता हू, क्योकि मै स्वय इस क्रम के हृदय की धडकन-मात्र हू।··· उस अनुभूत लक्ष्य मे, जो मुझसे श्रेष्ठ है, किन्तु जो वर्तमान मे अस्तित्व रखता है, हम एक निरन्तर प्रक्रिया प्राप्त करते हैं। उसमे हमे अपना उद्देश्य प्राप्त होता है। उसमे आत्मानुभूति प्राप्त होती है, उसमे कर्तव्य और सुख एक हो जाते है—हा, हम उस समय अपने-आपको प्राप्त करते है, जव हम अपने स्थान और अपने कर्तव्यो को एव समाज-रूपी शरीर के एक अग के रूप मे, अपने कर्तव्य को ढूढ लेते है।"[१]

१. "It is real and real for me It is in its affirmation that I affirm myself, for I am but as a heart beat . In the realized idea, which, superior to me, and yet here and now in and by me, affirms itself in a continuous process, we have found the end, we have found self-realization, duty, and happiness in one—yes, we have found ourselves, when we have found our station and its duties, our function as an organ in the social organism" —Ibid, Page 163.

इस प्रकार आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक यथार्थता की अभिव्यक्ति है। वह व्यवितवाद का निस्सन्देह विरोध करता है, क्योकि व्यक्तिवाद व्यक्ति को एक अमूर्त वास्तविकता प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। व्यक्ति और समाज की अभिन्नता का सम्बन्ध तत्त्वात्मक विषय नही है, अपितु तथ्यो पर आधारित व्याख्या है। व्यक्ति को जो व्यक्तित्व प्राप्त होता है, वह उस समुदाय और समाज के कारण ही होता है, जिसका कि वह अग होता है, जिसमे वह निवास करता है और जिसके वातावरण मे वह जीवन प्राप्त करता है। इस प्रकार वह समाज एव समुदाय, जोकि व्यक्ति को अस्तित्व देते हैं, केवल नाम-मात्र ही नही है, अपितु वास्तविकता है।

हम इस दृष्टिकोण को पुष्ट करने के लिए कोई भी ठोस उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। मान लीजिए कि हम एक भारतीय मनुष्य के अस्तित्व के विषय मे विचार करते है। यह भारतीय मनुष्य उस समय तक न तो भारतीय और न ही मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक कि वह अन्य भारतीय मनुष्यो की भाति भारतीयता के तथा मनुष्यता के लक्षण नही रखता। यदि ऐसे मनुष्य को उन सभी सामान्य सामान्यताओ से पृथक् कर दिया जाए, जोकि अन्य भारतीय मनुष्यो मे है, तो हम यह नही बता सकते कि वह मनुष्य क्या है। वास्तव मे भारतीय मनुष्य की विशेषता यही है कि वह एक विशेष सामाजिक और सास्कृतिक वातातरण मे उत्पन्न हुआ है और एक विशेष सामाजिक पूर्ण का सदस्य है। यदि उसको इस पूर्ण से, इस वातावरण से तथा इन सामान्य सामाजिक लक्षणो से सर्वथा पृथक् कर दिया जाए, तो न तो उसका कोई अस्तित्व रह जाता है और न व्यक्तित्व। इसमे कोई सन्देह नही कि व्यक्ति-व्यक्ति मे और व्यक्ति-समाज मे भौतिक भेद है, किन्तु इन भेदो के होते हुए भी उनमे समानता होती है और उस समानता के आधार पर ही, व्यक्ति को विशेष प्रकार का व्यक्ति कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति और समाज अनेकत्व और एकत्व को अभिव्यक्त करते हैं। कोई भी विशेष मनुष्य, जोकि अपने समुदाय से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रखता और जिसमे समुदाय के मूल तत्त्व नही है, एक मिथ्या कल्पना-मात्र है। हम इस दृष्टिकोण को केवल बौद्धिक विवेचन के द्वारा ही नही, अपितु तथ्यो के आधार पर प्रमाणित कर सकते है। मान लीजिए कि हम एक भारतीय शिशु के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। उस भारतीय शिशु का जन्म होते ही उसे व्यक्तित्व प्राप्त होता है। किन्तु यह व्यक्तित्व अन्य सभी मनुष्यो से पार्थक्य का व्यक्तित्व नही है। यह तो सत्य है कि जन्म के समय उसपर शिक्षा तथा सामाजिक वातावरण का प्रभाव नही पडा, किन्तु फिर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान इस बात को मानकर चलता है कि नवजात शिशु का व्यक्तित्व, उन जन्मजात प्रवृत्तियो पर आधारित होता है, जो उसे अपने माता-पिता से प्राप्त होती है। उसके माता-पिता को स्वय ये प्रवृत्तिया उनके पूर्वजो से उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त एक भारतीय शिशु, केवल एक कुटुम्ब का सदस्य ही नही होता, अपितु वह भारतीय राष्ट्र का भी सदस्य होता है। उसमे वे सब लक्षण उपस्थित होते है, जोकि

अन्य सभी भारतीय शिशुओ मे होते हैं और जो इन्हे अन्य राष्ट्र के शिशुओ से पृथक् करते है। अत उस शिशु का अस्तित्व अन्य शिशुओ के समान है। वह मात्र पृथक् व्यक्ति नही है।

यदि परम्परागत प्रवृत्तियो का अधिक विश्लेषण किया जाए, और इनके आरम्भ को ढूढने की चेष्टा की जाए, तो हम इस परिणाम पर पहुचेंगे कि सभी सामाजिक और सास्कृतिक प्रवृत्तिया, जो शिशु को अपने माता-पिता से, और माता-पिता को उनके पूर्वजो से प्राप्त होती हैं, वास्तव मे मनुष्य के सामाजिक स्वभाव की देन है। जव शिशु जन्म लेता है, तो वह शून्य मे जन्म नही लेता, अपितु एक जीवित विश्व मे और एक ऐसे पूर्ण मे जन्म लेता है, जिसका कि वह एक अग है। उसकी विशेषता एव उसका व्यक्तित्व वास्तव मे उसी पूर्ण एव सामाजिक क्रम की देन है। शिशु आरम्भ मे अपने व्यक्तित्व को कदापि पृथक् नही मानता। वह तो अपने मे और अन्य व्यक्तियो मे भेद भी नही कर सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शिशु अपने विश्व के साथ-साथ विकसित होता है और जव वह इस योग्य हो जाता है कि वह अपने-आपमे और वाह्य जगत् मे पार्थक्य कर सके, तो उस समय तक उसकी आत्मचेतना इतनी विकसित हो चुकी होती है कि वह अन्य व्यक्तियो के अस्तित्व से एव सामाजिक वातावरण से पूर्णतया प्रभावित हो जाता है। उसका व्यक्तित्व विशेप होते हुए भी उस सामान्य और व्यापक जीवन की अभिव्यक्ति होता है, जिसका कि वह शिशु एक अभिन्न अग है। ब्रैडले के शब्दो मे, "वह अपने जीवन को पूर्ण के जीवन मे प्राप्त करता है। वह उसको अपने-आपमे अनुभूत करता है, 'वह सम्पूर्ण क्रम की नाडी की धडकन है और स्वय पूर्ण क्रम है'।"[१]

व्यक्ति तथा पूर्ण का यह सम्वन्ध, जोकि व्यक्ति के स्थान तथा उसके कर्तव्यो को उदात्त आदर्श वनाता है, निस्सन्देह उपनिषदो की आत्मा तथा ब्रह्म एव व्यक्ति तथा विश्व की धारणा के सदृश है। उपनिपदो के अनुसार, व्यक्तिगत आत्मा पूर्ण ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया है। व्यक्तिगत आत्मा इसलिए पूर्ण है कि वह विश्वव्यापी तथा विश्वातीत सत्ता पूर्ण ब्रह्म का अग है। इस व्यक्तिगत आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य स्वत ही पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यहा पर अश और अशी का सम्वन्ध समन्वयात्मक सम्बन्ध है, जिसमे विपमता मे समता और अनेकत्व मे एकत्व अभिव्यक्त होता है। ब्रैडले की व्यक्ति तथा समष्टि की धारणा भी इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है। उसकी दृष्टि से व्यक्तिगत नैतिकता उस विश्वव्यापी नैतिकता से परिस्फुटित होती है, जोकि एक निरपेक्ष अन्तर्दृष्टि मे निवास करती है। ब्रैडले ने इस विश्वव्यापी नैतिकता को 'इथॉस' (Ethos) कहा है, जिसका पर्यायवाची वैदिक दर्शन मे 'ऋत' है। वेदो मे ऋत की धारणा विशेष महत्त्व रखती है। ऋत वह शाश्वत

१. "He has found his life in the life of the whole, he lives that in himself, 'he is a pulse beat of the whole system and himself the whole system'" —Ibid, Page 172.

नैतिक नियम है, जो विश्व तथा विश्व की सभी प्रवृत्तियो का आधार माना गया है। इसलिए वैदिक साहित्य मे प्रत्येक देवता को ऋत का रक्षक माना गया है और समाज के प्रत्येक सदस्य को ऋत का पालन करने की प्रेरणा दी गई है। ब्रैडले के अनुसार भी प्रत्येक समाज के नैतिक नियम, विश्वव्यापी नैतिकता की अभिव्यक्ति है। इसलिए जब व्यक्ति सामाजिक, नैतिक नियमो का अनुसरण करता है, तो वह धीरे-धीरे इस विश्व-व्यापी आधारभूत नैतिकता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसीमे अपने जीवन को समाविष्ट कर देता है। इसी दृष्टि से ही यह कहा गया है कि नैतिक होने का अर्थ अपने देश की नैतिक परम्पराओ के अनुसार जीवन व्यतीत करना है।[1]

यह कथन देखने मे तो सरल है, किन्तु वास्तव मे यह सभी नैतिक सिद्धान्तो का सार है। जब व्यक्ति को विश्व मे अपने स्थान का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि देश, काल और परम्परा के अनुसार उसका क्या कर्तव्य एवं धर्म है, तब वह स्वत ही नैतिक जीवन व्यतीत करता है और परम्पराओ का अनुसरण करता हुआ, नैतिक दृष्टि से व्यक्तित्व का विकास करता चला जाता है। ब्रैडले ने भी इस बात को माना है कि व्यक्तित्व का यह विकास एव आत्मानुभूति, एक क्रमिक प्रक्रिया है। भगवद्गीता के अनुसार, आत्मानुभूति के मार्ग मे अग्रसर होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्थान के अनुसार कर्तव्य करने की आज्ञा दी गई है। क्योकि भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व की पूर्णता एव आत्मानुभूति एक क्रमिक प्रक्रिया है और जन्म-जन्मान्तर के पश्चात् उपलब्ध होती है, इसलिए अपने कर्तव्य के पालन करने का आदेश देते हुए भगवद्गीता के आचारशास्त्र ने इतने तक कह दिया है कि अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना भी मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है कि जब एक व्यक्ति सामाजिक हित के लिए अपने धर्म पर चलता है, तो वह निस्सन्देह व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर अपने-आपको सामुदायिक स्तर मे अनुभूत करता है। अत किसी व्यक्ति को जानने के लिए हमे यह नही देखना चाहिए कि वह कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र से पृथक् क्या है। हमे यह नही,भूल जाना चाहिए कि वह किसी राष्ट्र से सम्बन्ध रखता है, किसी कुल मे उत्पन्न हुआ है और किसी विशेप समाज मे अपना जीवन व्यतीत करता है।

ऊपर दिए गए विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का उसके स्थान के अनुसार कर्तव्य, उसके कुटुम्ब, उसके समाज, उसके राष्ट्र तथा वर्तमान युग मे अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओ द्वारा निर्धारित होता है। इन सस्थाओ की परम्पराओ से प्रभावित होने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का अन्तरात्मक अग वाह्यात्मक तथ्यो से समन्वित होने के कारण, एक ठोस व्यापक रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यो का आदर्श, न तो इतना अधिक अन्तरात्मक होता है कि वह काट के शुभ सकल्प की भाति शून्य, शुष्क और अमूर्त प्रमाणित हो और न इतना अधिक

१. Ibid., Page 173.

सासारिक होता है कि वह सुखवाद की भाति निरुद्देश्य तृप्ति सिद्ध हो, अपितु वह व्यक्ति तथा सामाजिक सस्थाओ को एक सजीव सम्बन्ध मे बाधकर इस प्रकार अन्योन्याश्रित प्रमाणित करता है कि व्यक्ति का कर्तव्य, एक ओर तो व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण समाज के विकास मे योग देता है और दूसरी ओर व्यक्ति का भी विकास करता है, क्योकि उसका विकास समाज के विकास से सम्बद्ध होता है । इस आदर्श के अन्तर्गत व्यक्ति समाज के साथ एकत्व प्राप्त करता है, क्योकि यह सत्य है कि मनुष्य मूलतया एक सामाजिक प्राणी है । उसकी वास्तविकता समाज की वास्तविकता पर निर्भर है । वह आत्मानुभूति केवल इसलिए कर सकता है कि सामाजिक प्राणी होने के कारण ही उसे आत्मानुभूति की प्रेरणा प्राप्त होती है । मात्र व्यक्ति निस्सन्देह एक मिथ्या कल्पना है । ऐसी कल्पना के आधार पर, जोकि व्यक्ति और समाज को पृथक् करती है, कदापि नैतिकता को व्यवहार मे नही उतारा जा सकता ।

हमने ब्रैडले के दृष्टिकोण की जो आलोचनात्मक व्याख्या ऊपर दी है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यदि पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तो मे कोई भी सापेक्षवादी सिद्धांत व्यावहारिक सिद्ध हो सकता है, तो वह व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्यो का सिद्धान्त है । यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नैतिकता की सापेक्षता को सिद्ध करता है, किन्तु इसके साथ ही साथ यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि नैतिकता एक वास्तविक तथ्य है और जीवन के विकास के साथ-साथ उसका विकास और वृद्धि होती है । नैतिकता का यह विकास मनुष्य को सदैव प्रेरणा देता है कि वह धीरे-धीरे नैतिकता के न्यून स्तर से उच्च स्तर पर, उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम स्तर पर पहुचने की निरन्तर चेष्टा करता रहे । इस प्रकार का आदर्श काट के 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' की अपेक्षा किन कारणो से श्रेष्ठ है, यह बात सरलता मे समझी जा सकती है ।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि जहा काट का सिद्धान्त अमूर्त है और व्यक्तिगत धारणा पर आधारित है, वहा जो सामान्य नियम 'व्यक्ति का स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यो' मे उपलब्ध होता है, वह ठोस है और व्यक्तिगत मत पर आधारित नही है । यद्यपि अपने-अपने कर्तव्य का निर्वाचन कुछ सीमा तक व्यक्तिगत इच्छा पर भी निर्भर होता है, तथापि यह सत्य है कि हमारे सामाजिक स्थान से सम्बन्धित कर्तव्य सर्वदा व्यक्तिगत मत अथवा इच्छा पर निर्भर नही होते । ऐसे कर्तव्य के सम्बन्ध मे, देश-काल और परिस्थितिया, हमारी अनिच्छा के होते हुए भी हमे विशेष मार्ग अपनाने के लिए बाध्य करती है । भगवद्गीता मे अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करने का आदेश दिया गया है । यही कारण है कि अर्जुन को अपने सम्बन्धियो के प्रति आसक्ति की भावना को त्यागकर उनके विरुद्ध युद्ध करने को तत्पर किया गया है । इस प्रकार का कर्तव्य हमे व्यक्तिगत परिस्थितियो से ऊपर उठाकर, एक अधिक व्यापक और पूर्ण शरीर-विषयक जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करता है । यह पूर्ण किसी प्रकार की अमूर्त धारणा-मात्र नही है,

अपितु ऐसी व्यवस्था और क्रम है, जिसमे जीवन के अनेक पहलू एक ही दृष्टिकोण के अन्तर्गत किए जाते है। इस व्यवस्था मे विशेष कर्मों को जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्बद्ध किया जाता है और जीवन के अनेक दृष्टिकोणों को एक ही चरम लक्ष्य के अधीन किया जाता है। इस प्रकार अश और पूर्ण का एक यथार्थ सम्बन्ध सदैव क्रिया-शील रहता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग सम्पूर्ण शरीर के लिए कार्य करते है, उसी प्रकार जीवन के विभिन्न कर्म और कर्मों के विभिन्न दृष्टिकोण जीवन के चरम लक्ष्य से प्रभावित होकर क्रियाशील होते हैं, और जीवन का सम्पूर्ण लक्ष्य सभी कर्मों में ओतप्रोत हो जाता है। व्यक्ति का जीवन सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के लिए क्रियाशील होता है और व्यक्ति तथा समष्टि एक-दूसरे मे ओतप्रोत होते है। व्यक्तिगत सकल्प अपने-आपको पूर्ण सामाजिक व्यक्तित्व मे अनुभूत करता है और व्यक्ति स्वयं सामाजिक पूर्ण मे परिवर्तित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, व्यक्ति और समाज की परस्पर विभिन्नता इस आदर्श का पालन करने से स्वत. ही समाप्त हो जाती है।

इस आदर्श की दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति के स्थान के अनुसार, कर्तव्यों के पालन करने का आदर्श, न ही केवल एक व्यावहारिक और ठोस आदर्श है, अपितु वह वाह्यात्मक भी है। जब हम यह कहते है कि यह आदर्श वाह्यात्मक है, तो हमारा अभि-प्राय यह होता है कि वह न तो मात्र विषयगत (Objective) है और न मात्र अन्तरा-त्मक (Subjective) है। इसमे न तो व्यक्ति के अन्तरात्मक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल है और न जीवन के वाह्यात्मक अग पर। इसमे कर्ता तथा विषय का वह यथार्थ तादात्म्य उपस्थित है, जिसके एकमात्र माध्यम मे हमारी इच्छाओ की उचित तृप्ति होती है। इसमे हमारे जीवन का अन्तरात्मक अग अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु वह अन्त-रात्मक अग ही सर्वेसर्वा नही है, वह तो पूर्ण का एक अग-मात्र एव तत्त्व है और इसे दूसरे तत्त्व से सर्वथा पृथक् नही करना चाहिए। केवल अन्तरात्मक अग को सम्पूर्ण व्यक्तित्व से पृथक् करना नैतिकता का एकपक्षीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यद्यपि हमारे जीवन का अन्तरात्मक अग एक निश्चित तथ्य है और उसका सम्पूर्ण से भेद किया जा सकता है, तथापि यह नही भूलना चाहिए कि यह तत्त्व, सम्पूर्ण जीवन पर निर्भर है और उस सम्पूर्ण का अभिन्न अग है। सम्पूर्ण जीवन के दो नैतिक अग है, एक वाह्यात्मक और दूसरा अन्त-रात्मक। वाह्यात्मक अग मे वे सब सामाजिक सस्थाए और व्यवस्थाए हैं, जिनकी हमने पहले व्याख्या की है। परिवार से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तक जो व्यवस्था है, वह नैतिक जगत् का वाह्यात्मक अग है। उसे हम नैतिक जगत् एव नैतिक जीवन का शरीर कह सकते हैं। किन्तु इस नैतिक शरीर की आधारभूत आत्मा का होना भी आवश्यक है। ये सभी सस्थाए आत्मा के बिना उसी प्रकार जीवित नही रह सकती, जिस प्रकार कि व्यक्ति-गत शरीर आत्मा के बिना। नैतिक शरीर की आत्मा उसके विभिन्न अगो का सकल्प है। वह सकल्प वास्तव मे सम्पूर्ण शरीर का सकल्प है, जोकि विभिन्न अगो मे उपस्थित रहकर, सम्पूर्ण शरीर को जीवित बनाता है और सम्पूर्ण शरीर के उद्देश्य एव लक्ष्य की

ओर अग्रसर होता है। यह सकल्प प्रत्येक अग मे व्यक्तिगत सकल्प के रूप मे आत्मा के द्वारा ज्ञात एवं अनुभूत होता है। हम इस तथ्य को उदाहरण के द्वारा और भी स्पष्ट कर सकते है। कोई भी राष्ट्र उस समय तक शक्तिशाली नही हो सकता, जब तक कि उस राष्ट्र के विभिन्न समुदाय शक्तिशाली और सजीव न हो, और वे समुदाय तब तक शक्तिशाली और सजीव नही हो सकते, जब तक कि उनके विभिन्न सदस्य स्वय ऐसे न हो। इसी प्रकार जब तक विश्व के विभिन्न राष्ट्र, प्रेम और भ्रातृभाव की भावना से प्रेरित न हो, तब तक कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था फलीभूत नही हो सकती। व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्य का सिद्धान्त इस दृष्टि से नैतिक जीवन के अन्तरात्मक और बाह्यात्मक अगो मे समन्वय उत्पन्न करता है कि वह परिवार से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तक को नैतिक जीवन का शरीर स्वीकार करता है और व्यक्ति तथा उन सस्थाओ मे उपस्थित सकल्प को नैतिकता का अन्तरात्मक अग एव प्रेरणा स्वीकार करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नैतिक जगत् का बाह्यात्मक अग उस समय तक सजग और सजीव नही हो सकता, जब तक कि उसमे सकल्प न हो। उसमे सकल्प उपस्थित होने का अर्थ यह है कि वह सकल्प व्यक्तियो के द्वारा होता है और इन व्यक्तियो का नैतिक जगत्, केवल उनकी सकल्प की सामग्री पर आधारित नही होता, अपितु उसमे सामुदायिक सामग्री के सकल्प करने की चेतना उपस्थित होती है। इस प्रकार यह आदर्श व्यक्ति तथा समाज, सकल्प तथा इच्छाओ की तृप्ति एव आकार तथा सामग्री, व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक शुभ—दोनो का समन्वय करता है।

इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति का नैतिक व्यक्तित्व केवल उस तक ही सीमित नही है। मेरा नैतिक व्यक्तित्व मात्र मेरा नही है। वह ऐसा अन्तरात्मक तत्त्व नही है, जो केवल मेरी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो। इसके अतिरिक्त वह केवल अन्तरात्मक इसलिए नही है कि वह केवल आत्मा हो, क्योकि वह एक ऐसी आत्मा है, जो किसी शरीर मे जीवन उत्पन्न करके उसमे जीवित रहती है और उस समय तक आत्मा नही रह सकती, जब तक कि उसका कोई शरीर न हो।[1] इस प्रकार व्यक्तिगत सकल्प सामाजिक परम्पराओ को सजग और सजीव बनाता है। विषयगत नैतिक शरीर वह व्यवस्थित नैतिक जगत् है, जोकि नैतिक सकल्प, वास्तविकता एव अभिव्यक्ति प्रदान करता है। मेरे कर्तव्य वे अन्तरात्मक क्रियाशीलता है, जोकि इस बाह्यात्मक शरीर को स्फूर्ति तथा जीवन प्रदान करते है। इस प्रकार व्यक्ति अपने-आपको नैतिक शरीर के सकल्प से एक बना देता है और इस एकत्व मे आत्मा तथा शरीर के समन्वय का अनुभव करता है। अत हम यह देखते है कि जब व्यक्ति कर्म करता है, तो उसका वह कर्म निरुद्देश्य नही होता, वह कर्म उस रिक्त स्थान के अनुसार होता है, जिस स्थान की पूर्ति वह व्यक्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति निस्सन्देह अपने-अपने रिक्त स्थान की पूर्ति करता है। उस पूर्ति का उद्देश्य यह है कि व्यक्तिगत आत्मा को सम्पूर्ण जीवन का साधन और सम्पूर्ण नैतिक

१. Ibid, Page 180

शरीर की आत्मा की क्रियाशीलता वना देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व अपने-आपको एक ठोस वास्तविकता मे अभिव्यक्त करता है।

व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्यो का आदर्श न ही केवल ठोस और वाह्यात्मक है, अपितु वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अनुभूति के अन्तर्गत ले लेता है। इस आदर्श मे कर्तव्य तथा अनुभवात्मक व्यक्तित्व का परस्पर-विरोध नही रहता। इसकी अनुभूति मे व्यक्ति का कोई भी अग ऐसा नही रहता, जो आत्मानुभूति मे समाविष्ट न हो। 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' मे आदर्श सदैव हमसे दूर रहता है और हम लक्ष्य के निकट कभी नही पहुच सकते। इसमे हमारा विषय-भोग आदि के व्यक्तित्व का अग सदैव ऐसे तर्कात्मक अग से विरोध करता रहता है, जिसका उद्देश्य सभी इच्छाओ का दमन करना है। इस दृष्टि से कर्तव्य एक अनन्त प्रक्रिया हो जाता है और उसमे सदा के लिए निषेध उपस्थित रहता है।

यह दोष स्थान के अनुसार कर्तव्यो के आदर्श मे उपस्थित नही रहता। इसमे व्यक्ति नैतिक दृष्टि से, इस प्रकार आत्मानुभूति करता है जिसके अनुसार उसे वास्तविक सन्तोष और तृप्ति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दो मे, कर्तव्य का पालन करते समय व्यक्ति के मन मे केवल दमन और निषेध की भावना नही रहती और न ही वह इस वात से सन्तुष्ट रहता है कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सका। इसके विपरीत वह अपने-आपमे सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता है, हम उसके विषय मे यह तो कह सकते हैं कि वह कर्तव्य के पालन करने मे और भी उन्नति कर सकता है, किन्तु हम यह नही कह सकते कि वह अनैतिक है अथवा उसे अपने-आपको अनैतिक मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि जव कोई व्यक्ति स्थान के अनुसार कर्तव्यो के आदर्श का अनुसरण करता है, तो उसे यह ज्ञात होता है कि वह अपने स्थान पर रहकर, अन्य व्यक्तियो से अपना तादात्म्य कर रहा है। वह शुभ का अनुसरण करते हुए जव अपने-आपको शुभ मानता है, तो उस तादात्म्य के कारण अन्य सभी व्यक्तियो को शुभ ही स्वीकार करता है। यह आदर्श हमे यह वताता है कि प्रत्येक व्यक्ति दोषपूर्ण होते हुए भी उस समय तक शुभ है, जब तक कि वह अपना कर्तव्य कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति वास्तव मे अपने स्थान के अनुसार कर्तव्य कर रहा है, तो वह निस्सन्देह एक विधेयात्मक कर्म कर रहा होता है। उसे यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसे क्रम का सदस्य है, जो उसे वास्तविकता प्रदान करता है। उसका यह ज्ञान उसको उस क्रम से तादात्म्य करने के लिए और भी अधिक प्रेरणा देता है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि यह आदर्श मनुष्य की अपूर्णता को नैतिकता के लिए सहायक प्रमाणित करता है और यह सिद्ध करता है कि विश्व मे शुभ संकल्प अपूर्ण साधनो के होते हुए भी उन्हीके द्वारा ही आत्मानुभूति प्रदान करता है।

स्थान के अनुसार कर्तव्यो का उपर्युक्त विवेचन एक क्रमिक नैतिकता के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। व्यक्ति कर्तव्यो का पालन करता हुआ धीरे-धीरे अपूर्णताओ से ऊपर उठता चला जाता है। परिवार अथवा कुटुम्ब मे व्यक्ति अपने स्वार्थ को त्यागकर,

व्यक्तिगत तृप्ति की अपेक्षा, परिवार के सुख को अधिक श्रेष्ठ मानता है और अपने-आपको अनुभूत करता है। इसके पश्चात् वह अपने-आपका समुदाय से तादात्म्य करके एक व्यापक क्षेत्र मे आत्मानुभूति प्राप्त करता है। समुदाय के स्तर से ऊपर उठकर वह राष्ट्रीय स्तर तक पहुचता है और राष्ट्रीय स्तर से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आत्मानुभूति करता है। इस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे त्याग की भावना से प्रेरित होकर, व्यक्तिगत कर्तव्य का पालन करता हुआ, विश्व के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति करता है। यज्ञ और त्याग की भावना को भारतीय दर्शन मे इसलिए उच्चतम स्थान दिया गया है। वैदिक दृष्टि के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यज्ञ करना इसलिए आवश्यक माना गया है कि यज्ञ के द्वारा ही हम स्वार्थ को त्यागकर समाज की वास्तविक सेवा कर सकते है। इसलिए उपनिषद् कहता है कि अन्य लोगो को भोजन खिलाकर ही स्वय भोजन करना चाहिए। भगवद्गीता के अनुसार, जो व्यक्ति केवल अपने लिए ही भोजन बनाता है और जो दूसरो के लिए त्याग नही करता, वह चोर है एव अनैतिक है।

स्थान के अनुसार कर्तव्यो का सिद्धान्त क्रमिक नैतिकता को पुष्ट करके पश्चिमीय आचार-विज्ञान की सापेक्षता के लक्षण को और भी स्पष्ट कर देता है। वास्तव मे यह सत्य है कि जहा तक मनुष्य की सासारिक सफलताओ का सम्बन्ध है, नैतिकता सापेक्ष है। किन्तु इस सापेक्षता का अर्थ यह नही कि वह वास्तविक नही है। जब व्यक्ति, व्यक्तिगत स्तर से कुटुम्ब के स्तर पर, कुटुम्ब से समुदाय और समुदाय से राष्ट्र तथा उसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुचता है, तो वह प्रत्येक स्तर पर नैतिकता को वास्तविक प्रमाणित करता चला जाता है। दूसरे शब्दो मे, यह सापेक्ष क्रमिक नैतिकता एक विकासशील प्रक्रिया है, जिसमे अतीत तथा वर्तमान प्रयत्नो के द्वारा व्यक्ति ऊचे से ऊचे स्तर पर बैठता चला जाता है। इस प्रकार यह नैतिक आदर्श कोरी कल्पना न होकर, एक व्यावहारिक आदर्श है। इसमे व्यक्ति का उत्कृष्ट व्यक्तित्व अतीत तथा वर्तमान के सकल्प की सहायता से अभिव्यक्त होता है। हमारे पूर्वजो ने अपना खून तथा पसीना बहाकर जो नैतिक स्तर तथा परम्पराए प्राप्त की है, वे हमे केवल कृपा और प्रेम के द्वारा उपलब्ध होती है। वे वास्तव मे हमारी निष्ठा है और हमारी पवित्र धरोहर है। इन परम्पराओ पर आश्रित नैतिकता एव नैतिक कर्तव्य, व्यक्ति को उसके अपने स्वभाव के सत्य के रूप मे प्राप्त होती है। वह उसकी शक्ति है और ऐसी विधि है जोकि व्यक्तिगत मत की सकुचितहृदयता से अधिक श्रेष्ठ और अधिक शक्तिशाली है।

सोलहवां अध्याय

परिवार तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का महत्त्व

(Family and the Importance of its Duties)

नैतिकता की दृष्टि से सामाजिक संस्थाओ तथा व्यक्ति के स्थानानुसार कर्तव्यो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमने पिछले दो अध्यायो मे उस तथ्य की विस्तृत व्याख्या की है। कोई भी आचार-विज्ञान का अध्ययन उस समय तक उपयोगी नही माना जा सकता, जब तक कि व्यक्ति तथा समाज के नैतिक आदान-प्रदान एव अधिकारो तथा कर्तव्यो की स्पष्टतापूर्वक व्याख्या न की जाए। ऐसी व्याख्या ही हमे नैतिक सिद्धान्त तथा व्यावहारिक जीवन को परस्पर समन्वित करने मे सहायक हो सकती है। अनेक विद्वानो ने पश्चिमीय आचार-विज्ञान पर ग्रन्थ लिखे हैं और उन्होने अत्यन्त सावधानी से, चातुर्य से तथा सूक्ष्म विश्लेषण से नैतिक सिद्धान्तो का विवेचन किया है। दुर्भाग्यवश ऐसे विद्वानो मे से वहुमत उन लेखको का है, जो नैतिक समस्याओ का केवल सैद्धान्तिक अध्ययन ही करते हैं और व्यावहारिक नैतिक जीवन को वैज्ञानिक विषय न मानकर, एक व्यक्तिगत समस्या घोषित करते है। आगे चलकर हमे कम मे कम सक्षिप्त रूप मे इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देना पड़ेगा कि आचार-विज्ञान कहा तक व्यक्तिगत नैतिक समस्याओ मे सहायक हो सकता है। इस अध्याय मे हमे केवल यह सिद्ध करना है कि यद्यपि सभी सामाजिक सस्थाओ का सूक्ष्म अध्ययन नैतिकता की व्यावहारिक समस्याओ पर पूर्ण प्रकाश डालता है, तथापि इन सव संस्थाओ की आधारभूत सस्था कुटुम्ब, परिवार एव गृहस्थ है। परिवार को सामाजिक इकाई माना गया है और वह वास्तव मे अन्य सभी सामाजिक सस्थाओ की आधारशिला है। यदि प्रत्येक परिवार आदर्श और नैतिक जीवन-व्यतीत करने लगे, तो समाज की सभी जटिल नैतिक समस्याए स्वत ही सुलझ सकती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य का सामाजिक जीवन, व्यावहारिक दृष्टि से, केवल उस समय प्रारम्भ होता है, जवकि वह विवाह के द्वारा एक अन्य व्यक्ति को अपना जीवन-साथी वनाता है। विवाह ही मनुष्य के व्यवस्थित सामाजिक जीवन की प्रथम सीढी है। इसके अतिरिक्त कुटुम्ब एव परिवार निस्सन्देह अन्य सभी सामाजिक सस्थाओ की आरसी एव प्रतिविम्ब है। इन कारणो से परिवार तथा उससे सम्वन्धित नैतिक अधिकारो तथा कर्तव्यो का अध्ययन आचार-विज्ञान मे विशेष महत्त्व रखता है। इस अध्याय मे हम इसी दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए चिन्तन करेगे।

इसमे कोई सन्देह नही कि विवाहित जीवन की सफलता व्यक्ति तथा समाज दोनो के विकास के लिए आवश्यक है। एक ओर तो पुरुष तथा स्त्री का यह सम्बन्ध दम्पति के व्यक्तिगत विकास को प्रोत्साहन देता है और दूसरी ओर यही सम्बन्ध उनकी सन्तान की उत्पत्ति के पश्चात् सम्पूर्ण परिवार के विकास का आधार होता है। सस्कृत भाषा मे, पति-पत्नी को दम्पति इसलिए कहा गया है कि यह शब्द 'दम्' तथा 'पति' दो शब्दो का समास है। 'दम्' शब्द का अर्थ 'घर' अथवा 'निवास-स्थान' है। इस शब्द का अग्रेजी पर्याय-वाची 'डोम' (Dome) है। 'पति' शब्द का अर्थ स्वामी है। क्योकि पति-पत्नी दोनो घर के स्वामी होते है, इसलिए इन्हे 'दम्पति' कहा गया है। गृहस्थ का सम्पूर्ण कार्यभार पति-पत्नी पर निर्भर होता है। अत वे दोनो गृहस्थ-रूपी भवन के आधार-स्तम्भ है। इससे पूर्व कि हम पति-पत्नी के विशेष सम्बन्ध अर्थात् उनके कामवृत्त्यात्मक जीवन पर प्रकाश डाले, एक बार पुन· यह कह देना आवश्यक है कि व्यक्ति का विकास उसके विवाहित जीवन पर आधारित होता है; क्योकि यदि उसके विवाहित जीवन मे स्थायित्व होगा, तो उसके सामान्य जीवन मे भी स्थायित्व रहेगा। इसी प्रकार समुदाय का कल्याण तथा उसकी प्रगति पारिवारिक जीवन की व्यवस्था पर निर्भर रहते है।

आधुनिक समय मे कामवृत्ति के सम्बन्ध मे जो मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान हुआ है, उसके अनुसार इस मूल प्रवृत्ति का दमन, व्यक्तित्व के विकास मे अत्यन्त बाधक होता है। विवाहित जीवन मे, सामाजिक नियमो के अनुसार, इस प्रवृत्ति की तुष्टि होती है और काम की मूल प्रवृत्ति, प्रेम के स्थायी भाव मे परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि विवाहित जीवन का आधार कामवृत्ति माना जा सकता है, तथापि इसका अभिप्राय यह नही कि कामवृत्ति की तृप्ति-मात्र ही विवाहित जीवन का उद्देश्य है। इसके विपरीत, यह वृत्ति उस पवित्र और व्यापक प्रेम का आधार है, जो व्यक्ति के जीवन मे विभिन्न 'स्तरो पर विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे, विशेषकर फ्रायड तथा उसके अनुयायियो ने यह प्रमाणित किया है कि कामवृत्ति, शिशु के जन्म से ही उसमे उप-स्थित होती है और उसके समस्त मानसिक तथा शारीरिक विकास का मूल आधार होती है। व्यक्ति के असामान्य व्यवहार, उसकी साधारण भूलो तथा अपूर्णताओ का कारण इस मूल प्रवृत्ति का दमन तथा काम-सम्बन्धी अतृप्त इच्छाओ की अचेतन मन मे उप-स्थिति है। इस सम्बन्ध मे हमने आचार-विज्ञान की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि देते हुए दमित इच्छाओ की व्याख्या पहले ही की है। यहा पर काम-सम्बन्धी दमित इच्छाओ के दुष्प्रभाव को बतलाने का उद्देश्य यह है कि मानव-समाज मे विवाह की प्रथा, इस दुष्प्रभाव से बचने का एक उपाय माना जा सकता है।

यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक देश मे और प्रत्येक समाज मे आदिकाल से ही विवाह को स्त्री तथा पुरुष के सुखी जीवन के लिए आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य माना गया है। यद्यपि ईसाई धर्म तथा अन्य मोक्षमार्ग से सम्बन्ध रखनेवाले मत-मतान्तरो मे ब्रह्मचर्य को आध्यात्मिक विकास का मुख्य साधन माना गया है, तथापि यह सत्य है

कि गृहस्थ आश्रम मे कामवृत्ति का प्रेम मे परिवर्तित होना और मानवीय प्रेम का अनुभव करना ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति के लिए अवश्य सहायक है। अत. विवाह को मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना स्वीकार किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए, प्रौढावस्था मे स्त्री और पुरुष की कामवृत्ति के दमन को रोकने के लिए ही नही, अपितु उनको एक पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए भी विवाह की प्रथा लाभदायक सिद्ध हुई है। फ्रायड के अनुसन्धान से सहस्रो वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियो ने यह प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के सामान्य विकास के लिए विवाहित जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से यह कहा गया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व उस समय तक अपूर्ण रहता है, जब तक कि वह विवाह नही करता। इस दृष्टि से विवाहित जीवन मनुष्य की मानसिक असामान्यताओ का प्रतिकार है और उसके मानसिक सन्तुलन का आधार है। किशोरावस्था के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि कामवृत्ति व्यक्तित्व के गठन का एव चरित्र-निर्माण का आधार होती है। इस अवस्था मे, जबकि यह मूल प्रवृत्ति परिपक्व हो जाती है और इसके कारण शारीरिक परिवर्तन होते हैं, ठीक उसी समय किशोर बालक अथवा बालिका मे, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी होते हैं। कामवृत्ति के कारण ही किशोर व्यक्ति मे बौद्धिक तथा सवेगात्मक अनुभव को विशेष प्रेरणा मिलती है। किशोरावस्था ऐसी अवस्था है, जिससे एक उग्र आत्मचेतना उत्पन्न होती है। व्यक्ति एक ऐसे स्तर पर पहुचता है, जोकि शैशवावस्था मे नही था। यही कारण है कि इस परिपक्वता की प्राप्ति के समय, अनेक प्राचीन सभ्य समाजों मे विशेष रीति-रिवाजो का अनुसरण किया जाता था। यह रीति-रिवाज वास्तव मे काम-वृत्ति के मनोवैज्ञानिक महत्त्व की अभिव्यक्ति है। वर्तमान समय मे यद्यपि ऐसे रीति-रिवाजो को प्रोत्साहन नही मिलता, तथापि प्रेम तथा विवाह आदि को मनुष्य के व्यक्तित्व के गठन का आधार माना जाता है।

कामवृत्ति तथा उससे प्रेरित सवेगात्मक जीवन के सम्बन्ध मे, स्त्री तथा पुरुष की मानसिक अवस्था मे भेद बतलाना भी आवश्यक है। यह भेद न ही केवल मनोवैज्ञा-निक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु नैतिक दृष्टि से भी इसका अध्ययन लाभदायक है। यह सत्य है कि स्त्री और पुरुष सामान्यतया प्रेम के सम्बन्ध मे, विभिन्न दृष्टिकोण को अपनाते है। इसी विभिन्नता को प्राचीनकाल मे अभिव्यक्त करते हुए कहा जाता था कि पुरुष के लिए प्रेम जीवन की एक घटना-मात्र है, जबकि स्त्री के लिए वह एक सम्पूर्ण जीवन है। यद्यपि इस दृष्टिकोण को हम शत-प्रतिशत ठीक नही मान सकते, तथापि यह सत्य है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए काम-सम्बन्धी जीवन अधिक महत्त्व रखता है। इसका एक कारण यह भी है कि स्त्री के सम्बन्ध मे प्रेम का परिणाम शिशु की उत्पत्ति होता है और वह शिशु स्त्री के लिए उसके पति का प्रतिनिधि

बन जाता है। स्त्री और पुरुष की कामवृत्ति-सम्बन्धी धारणाए, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से विभिन्न होती है। पहले प्रकार की विभिन्नता को अभिव्यक्त करते हुए मेरी ऐटिन ने कहा है कि एक स्त्री के लिए जीवन का कामवृत्त्यात्मक अग इतना अधिक मूलभूत और गम्भीर है कि उसे सरलता से हसी-मजाक का विषय नही बनाया जा सकता, जबकि पुरुष जोकि इस जीवन को केवल बाहरी समझता है, जीवन के इस अग को गम्भीर नही समझता। नैतिक दृष्टि से स्त्री के लिए कामवृत्ति के सम्बन्ध मे पवित्रता का पालन करना पुरुष की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से पुरुषो की अपेक्षा स्त्री के लिए विवाहित जीवन मे पति के प्रति अगाध श्रद्धा रखना आवश्यक माना गया है। यह निस्सन्देह एक दु ख की बात है कि स्त्री से पवित्रता की यह आशा रखना यहा तक स्वीकार किया गया है कि उसे अनेक सभ्य समाजो मे दासी-मात्र माना गया है। वर्तमान युग मे, जबकि स्त्री और पुरुष की समता पर अधिक बल दिया जाता है, कामवृत्ति से सम्बन्धित अधिकारो तथा कर्तव्यो को भी पति-पत्नी पर समान रूप से लागू करना चाहिए। किन्तु यह विषमता तभी दूर की जा सकती है और मानवीय स्वभाव मे तभी परिवर्तन आ सकता है, जब सामाजिक सस्थाओ को पूर्णतया बदल दिया जाए। यह बात आज भी मान्य है कि परिवार का भविष्य माता की सत्यपरायणता पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि आज तक भी स्त्री के जीवन का सन्तुलन एव उसका गठन उसके कामवृत्ति-सम्बन्धी जीवन पर निर्भर रहता है। स्त्री के काम-सम्बन्धी जीवन के अस्तव्यस्त होने का अर्थ, उसके व्यक्तित्व का बिखरना होता है, जबकि पुरुष के लिए ऐसा नही होता। अभी तक हमने कामवृत्ति का व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध बतलाया है। किन्तु इस मूल प्रवृत्ति के आधार पर विवाह के द्वारा जो दो व्यक्तियो का आजीवन सम्बन्ध होता है, उसे हम केवल दो व्यक्तियो तक ही सीमित नही रख सकते। कुछ लोगो की यह भ्रान्त धारणा है कि विवाह पूर्णतया गुप्त और व्यक्तिगत प्रथा है, क्योकि कामवृत्ति का कर्म एक गुप्त कर्म है; इसलिए यह विचार किया जाता है कि कामवृत्ति का जीवन ऐसा जीवन है, जोकि दो व्यक्तियो तक ही सीमित रहता है। किन्तु ऐसी धारणा तथ्यो के विरुद्ध है और अवास्तविक है। यो तो व्यक्ति का कोई भी कर्म ऐसा नही, जिसका प्रभाव केवल एक ही मनुष्य तक सीमित हो और यह बात आज भी सत्य है कि कोई भी व्यक्ति इस ससार मे केवल अपने लिए ही जीवित नही रहता। कामवृत्ति-सम्बन्धी व्यवहार निस्सन्देह ऐसा व्यवहार है, जो परिवार की नैतिकता से सम्बन्धित है। यह देखा गया है कि व्यक्ति की काम-सम्बन्धी नैतिकता, उसकी पारिवारिक नैतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है और वह नैतिकता ही परिवार को विशेष रूप प्रदान करती है। अरबन ने इसी कारण परिवार की कामवृत्ति के आधार पर परिभाषा दी है और कहा है, "परिवार वह कामवृत्ति है, जोकि सामाजिक व्यक्ति मे, सामाजिक माध्यम से और सामाजिक अनुमति से क्रियाशील होती है।"[१] परिवार की यह परिभाषा निस्सदेह

१. Fundamentals of Ethics by Urban, Page 295

एक तथ्यात्मक परिभाषा है, क्योकि विवाह की प्रथा एक सामाजिक नैतिकता की प्रथा है। मनुष्य और पशु में अन्तर इसी बात का है कि मनुष्य की कामवृत्ति की तृप्ति एक व्यवस्थित रूप से होती है, जबकि पशुओ के जीवन मे, जोकि सामाजिक प्रथाओ से शून्य होते है, किसी प्रकार के कामवृत्ति-सम्बन्धी नियम नही होते। मनुष्य के काम की यह व्यवस्थित प्रवृत्ति समाज की अनुमति से दो विषम लिंगो का स्थायी एकत्व उत्पन्न करती है। यदि हम विवाह के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हम यह देखेगे कि पति-पत्नी के स्थायी सम्बन्ध का विकास धीरे-धीरे हुआ है। आरम्भ मे ही कामवृत्ति-सम्बन्धी नैतिकता को भग करने को अनुचित माना जाता था, किन्तु वर्तमान युग मे विवाह एक स्त्री और एक पुरुष मे एक ऐसा नैतिक समझौता माना जाता है, जिसमे कि स्थायित्व की आशा अवश्य रहती है। कामवृत्ति-सम्बन्धी नैतिकता, अनेक सामाजिक अनुभवो एव प्रयोगो के पश्चात् धीरे-धीरे विकसित हुई है। प्राचीनकाल मे अनेकपत्नीव्रत अथवा अनेकपतिव्रत अवैध नही माना जाता था, किन्तु वर्तमान युग मे प्रत्येक सभ्य देश मे अनेक विवाह की प्रथा तथा भाई-बहिन के विवाह की प्रथा आदि निषिद्ध माने जाते है।

इतिहास के अध्ययन से हम यह बात निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि परिवार तथा विवाह का आरम्भ किस समय और किन परिस्थितियो मे हुआ। अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का प्राचीनतम कामवृत्ति पर आधारित सम्बन्ध पशुओ की भाति आकस्मिक था। किन्तु यह अनुमान किसी ऐतिहासिक साक्षी द्वारा पुष्ट नही किया जा सकता। सामाजिक सस्थाओ के अध्ययन से यह पता चलता है कि किसी न किसी रूप मे विवाह की सस्था सभ्यता के प्रत्येक स्तर पर उपस्थित थी। आदिकाल मे परिवार का रूप मातृप्रधान था। सम्भवतया इसका कारण यह था कि पुरुष को आजीविका के लिए भ्रमण करना पड़ता था और माता ही स्थायी रूप से गृहस्थ का भार सभालती थी। किन्तु धीरे-धीरे परिवार मे माता के आधिपत्य के स्थान पर पिता का आधिपत्य हो गया। सम्भवतया पितृप्रधान परिवार की सस्था का कारण पुरुष की शारीरिक श्रेष्ठता थी। इसके अतिरिक्त युद्ध की प्रथा मे जब विजेता सम्पत्ति पर अधिकार जमा लेता था, तो वह उन स्त्रियो और शिशुओ को भी सम्पत्ति ही मान लेता था, जिनका युद्ध मे पुरुषो की भाति वध नही किया जाता था। युद्ध की प्रथा ने स्त्रियो को सम्पत्ति के समान स्वीकार करके मातृप्रधान परिवार की प्रथा को धक्का पहुचाया। धीरे-धीरे अनेकपत्नीविवाह की सस्था भी समाप्त हो गई। सम्भवतया इस सस्था का अन्त करने मे आर्थिक परिस्थितियो ने योग दिया। एक से अधिक पत्नी के कारण, विस्तृत परिवार के लिए आजीविका प्राप्त करना एक व्यक्ति के लिए कठिन हो गया। इस कारण के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्त्वो ने भी एकपत्नी-विवाह को प्रोत्साहन दिया। अनेकपत्नीविवाह के समय मुख्य पत्नी तथा गौण पत्नियों मे धीरे-धीरे भेद उत्पन्न हुआ और मुख्य पत्नी को उच्च उपाधि तथा सम्मान दिया जाने लगा। पुरुष भी, परिवार के अन्य स्त्री सदस्यो की अपेक्षा, मुख्य पत्नी की ओर अधिक

ध्यान देने लगा। इस प्रकार जब एक पत्नी का अन्य पत्नियो की अपेक्षा महत्त्व बढा और उसको विशेष अधिकार तथा विशेष कर्तव्य दिए गए, तो एकपत्नी की प्रथा को प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप अनेकपत्नीविवाह का धीरे-धीरे अन्त हो गया और एकपत्नीविवाह ही आदर्श सामाजिक प्रथा स्वीकार की जाने लगी। इस प्रकार एक-पत्नीविवाह की उत्पत्ति, न ही केवल एक आर्थिक उत्पत्ति थी, अपितु वह एक नैतिक और आध्यात्मिक प्रथा थी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि आरम्भ मे परिवार एक आर्थिक सस्था था। किन्तु धीरे-धीरे वह एक नैतिक और आध्यात्मिक सस्था प्रमाणित हुई। समाजशास्त्रियो का कहना है कि प्राचीनकाल मे, अधिकतर जातियो मे, पति-पत्नी का इकट्ठा रहना, वास्तव मे एक आर्थिक प्रबन्ध ही था, क्योकि विवाह के पश्चात् भी पति-पत्नी का अन्य व्यक्तियो से कामवृत्ति का सम्बन्ध निषिद्ध नही था। परिवार का नैतिक तथा आध्यात्मिक आधार आदि मे नही था, धीरे-धीरे व्यक्तित्व के विकास के कारण और अन्य परिस्थितियो के कारण परिवार एक ऐसी इकाई प्रमाणित हुआ जोकि केवल आर्थिक तत्त्व पर आधारित नही थी, अपितु एक नैतिक सस्था थी। परिवार के सदस्यो मे स्वाभाविक प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की भावनाए कुछ कम हो गई। यह एक दु ख की बात है कि वर्तमान समय मे, आर्थिक परिस्थितिया मनुष्य के जीवन पर पुन आधिपत्य जमा रही है और वह परिवार, जो प्राचीनतम समय मे मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति से उत्पन्न हुआ था, आज आर्थिक परिस्थितियो के कारण ही सकट मे पडा हुआ है। हमारी आर्थिक सभ्यता पारिवारिक प्रेम को छिन्न-भिन्न कर रही है। आज विशेषकर यूरोप और अमरीका मे, व्यक्तिवाद इस सीमा तक पहुच चुका है कि विवाह-विच्छेद एक सामान्य घटना बन गया है। अमरीका मे तो इस बात पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है, जबकि भूल से पति अपनी पत्नी के दात साफ करने के ब्रुश को प्रयोग मे ले ले। इस प्रकार की विचित्र घटनाएं और प्रेम की अपेक्षा सम्पत्ति को श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति विवाह तथा परिवार को निरन्तर हानि पहुचा रही है। अत आर्थिक परिस्थिति से जन्म लेनेवाला परिवार, आज आर्थिक सभ्यता का ही शिकार हो रहा है।

यद्यपि आर्थिक परिस्थितियो ने आरम्भ मे परिवार की प्रथा को प्रोत्साहन दिया, तथापि जैसाकि हमने ऊपर कहा है धीरे-धीरे मनुष्य ने प्रत्येक सभ्य देश मे काम के सम्बन्ध को एक आन्तरिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। इस प्रकार विवाह को कामवृत्ति का आध्यात्मिक सम्बन्ध माना गया है। नैतिक दृष्टि से निस्सन्देह विवाह की प्रथा मनुष्य मे उपस्थित मूल्य की धारणा पर आधारित है। यही कारण है कि धीरे-धीरे मानव समाज मे एकपत्नीविवाह की प्रथा ने स्थायी रूप धारण कर लिया है और इसी प्रथा को शुभ जीवन का आधार माना जाता है। हम यह कह सकते है कि सम्पत्ति की प्रथा की भाति, विवाह की प्रथा को स्थिर बनाने मे भी 'सुरक्षा' तथा 'आत्मानुभूति' के दो मूल्यो ने योग दिया है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि कामवृत्ति

का मनुष्य के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यद्यपि प्रेम के द्वारा दूसरे व्यक्ति को अपने प्रति आकर्षित करने मे मनुष्य की आत्मप्रकाशन की मूल प्रवृत्ति तृप्त होती है और वह अपने-आपको अपने प्रेम के विषय का स्वामी समझता है, तथापि प्रेम के द्वारा आत्मानुभूति तभी प्राप्त होती है, जब उसमे केवल अहभाव ही न हो, अपितु बौद्धिक और आध्यात्मिक आदान-प्रदान भी हो। यह तो सत्य है कि विवाह के द्वारा पति-पत्नी सुरक्षा के मूल्य के कारण ही अपनी कामवृत्ति के सम्बन्ध को स्थायी बनाते है। यदि विवाह से पूर्व पति-पत्नी मे कामवृत्ति के सम्बन्ध को स्थायी रखने का विचार न हो, तो ऐसे सम्बन्ध मे प्रेम की भावना नही रह सकती। इस प्रकार सुरक्षा का मूल्य प्रेम के सम्बन्ध को घनिष्ठ अवश्य बनाता है, किन्तु आत्मानुभुति का मूल्य पति-पत्नी के सम्बन्ध को स्थायी बनाने मे सुरक्षा की अपेक्षा अधिक योग देता है। यदि केवल शारीरिक तृप्ति ही आत्मानुभूति का आधार होती, तो पशुओ मे भी प्रेम का स्थायी भाव उपस्थित होता। मनुष्य मे विचारशीलता एव ज्ञान ही उसकी कामवृत्ति को प्रेम के स्थायी भाव मे परिवर्तित करने का मुख्य कारण है।

कामवृत्ति के द्वारा आत्मानुभूति की सम्भावना केवल प्रेम पर ही आधारित है और प्रेम एक सुखद घटना-मात्र नही है, अपितु ऐसा स्थायी भाव है, जो स्त्री और पुरुष के बौद्धिक आदान-प्रदान से उत्पन्न होता है। जो प्रेम अथवा लगाव केवल शारीरिक तृप्ति पर आधारित होता है, वह कदापि स्थायी नही हो सकता और उसपर आश्रित पति-पत्नी का सम्बन्ध परिवार के सगठन का कारण होने की अपेक्षा विच्छेद का कारण बन जाता है। एकपत्नीविवाह की प्रथा का सर्वत्र वाछनीय स्वीकार किया जाना यह प्रमाणित करता है कि विवाह का मूल्याकन केवल आत्मानुभूति पर ही आधारित है। यही कारण है कि विवाह के पश्चात् सन्तान की उत्पत्ति पति-पत्नी के सम्बन्ध को और भी दृढ बना देती है। सन्तान की उत्पत्ति से परिवार विस्तृत होता है और पति-पत्नी के अधिकारो और कर्तव्यो मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग करके और परिवार के कल्याण को निजी कल्याण से श्रेष्ठ स्वीकार करके पति तथा पत्नी आत्मानुभूति को प्राप्त करते है। इस प्रकार परिवार एक आदर्श सामाजिक इकाई बन जाता है। उसमे शिशु की शिक्षा-दीक्षा होती है एव उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। शिशु परिवार मे उस प्रेम और भक्तिभाव को ग्रहण करता है, जो आगे चलकर उसको समुदाय, राष्ट्र तथा मानव समाज का आदर्श सदस्य बनाने मे सहायक होता है।

स्थायी एकपत्नीविवाह पर आधारित परिवार को इन्ही कारणो से व्यक्ति तथा समाज के लिए एक आवश्यक सस्था स्वीकार किया जाता है। साम्यवाद के अनुसार, इस प्रकार के स्थायी एकपत्नीविवाह पर आधारित परिवार, न तो व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए अनिवार्य है। रूस का साम्यवाद, मनुष्य को समुदाय का उपयोगी अग बनाने के लिए, परिवार की प्रथा का अन्त करना आवश्यक मानता है। इस साम्यवाद के अनुसार, व्यक्ति पारिवारिक प्रशिक्षा के बिना ही समुदाय का अनन्य भक्त बन

सकता है। किन्तु यह धारणा तथ्यो के विपरीत है और मानव समाज के वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक वातावरण तथा परम्पराओ के विरुद्ध है। परिवार का छिन्न-भिन्न करना वास्तव मे व्यक्तित्व-सम्बन्धी मूल्यो की सर्वथा अवहेलना करना है। साम्य-वाद इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य का स्वभाव यन्त्रवत् नही है, अपितु उद्देश्या-त्मक है। यही कारण है कि परिवार की प्रथा मनुष्य के स्वभाव के अनुसार है और इसका छिन्न-भिन्न होना मानवीय जीवन का छिन्न-भिन्न होना है। यही कारण है कि आर्थिक परिस्थितियो के विरोध के होते हुए भी मानव परिवार की प्रथा को बनाए रखने की निरन्तर चेष्टा कर रहा है।

परिवार को स्थायी बनाने के लिए ही मनुष्य ने कुछ ऐसे आदर्श नियम स्वीकार किए हैं, जिनका यहा पर उल्लेख करना आवश्यक है। ये नैतिक नियम निम्नलिखित है .

(१) कामवृत्ति-सम्बन्धी जीवन के नियम
(२) परिवार-सम्बन्धी जीवन के नियम

ये दोनो प्रकार के नियम वास्तव मे अन्योन्याश्रित है। अरबन ने विशेषकर उन नियमो की व्याख्या की है।

कामवृत्यात्मक जीवन का प्रथम सर्वमान्य नियम यह है कि काम-सम्बन्धी मूल्यो को अनुभूत करना शुभ जीवन की अनिवार्य उपाधि है। जिस प्रकार कि आर्थिक जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका प्राप्त करने का अधिकार है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उन सभी मूल्यो को प्राप्त करने का अधिकार है, जिनको एक शब्द मे प्रेम कहा जा सकता है। यह नियम प्रत्येक समाज मे स्वीकार किया जाता है और सामान्यतया काम-वृत्त्यात्मक जीवन को आत्मानुभूति का साधन माना जाता है। कोई भी सभ्य समाज व्यक्ति के स्वतन्त्र विवाह करने के अधिकार को अवाछनीय स्वीकार नही करता। यदि इस अधिकार का दमन किया जाए तो समाज की प्रगति और विकास रुक सकता है।

यहा पर यह बता देना आवश्यक है कि स्वतन्त्र प्रेम के अधिकार के साथ-साथ प्रेम-सम्बन्धी कर्तव्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। विवाह की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कामवृत्ति की तृप्ति के लिए अनेक विवाह करे अथवा अनेक व्यक्तियो से अवैध सम्बन्ध रखे। जब तक प्रेम के अधिकार के साथ-साथ एकपत्नीव्रत अथवा एकपतिव्रत के कर्तव्य का पालन नही किया जाता, तब तक परिवार मे स्थायित्व नही हो सकता। इस अधिकार के सम्बन्ध मे ही विवाह-विच्छेद अथवा तलाक की समस्या खडी होती है। इस अधिकार पर आवश्यकता से अधिक बल देनेवाले विचारको की दृष्टि मे, विवाहित जीवन के किसी भी स्तर पर पति-पत्नी की परस्पर-अनुमति से विवाह-विच्छेद वाछनीय स्वीकार किया जाता है। किन्तु विवाह-विच्छेद की यह धारणा एकपक्षीय है और पारिवारिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने का मुख्य कारण है। ऐसी धारणा कामवृत्ति के अनुभूत करने के अधिकार पर ही बल देती है और उससे सम्बन्धित कर्तव्य की अवहेलना करती है।

काम-सम्बन्धी जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि कामवृत्त्यात्मक जीवन मे वैयक्तिक मूल्यो को शारीरिक मूल्यो की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, कामवृत्ति के अनुभूत करने की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही कि कामवृत्त्यात्मक जीवन का उद्देश्य केवल शारीरिक तृप्ति ही हो। यदि मनुष्य को कामवृत्त्यात्मक स्वतन्त्रता देने का अर्थ केवल शारीरिक तृप्ति ही होता, तो कामुकता और प्रेम मे भेद को स्वीकार न किया जाता। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति जानता है कि कामुकता का अर्थ केवल सवेगात्मक और शरीरात्मक तृप्ति है, जबकि प्रेम का अर्थ स्त्री और पुरुष का मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध है। जब कामुकता और प्रेम के भेद की अवहेलना की जाती है, तभी कामवृत्त्यात्मक जीवन के इस नियम को भग किया जाता है। यह सत्य है कि शारीरिक तृप्ति कामवृत्त्यात्मक जीवन का अनिवार्य अग है, किन्तु जब इसे उत्कृष्ट मूल्यो से पृथक् कर दिया जाता है, तो यह तृप्ति निष्ठुरता और घृणा मे परिवर्तित हो जाती है। यही कारण है कि इस नियम को नैतिकता मे तथा विधान मे, समान रूप से स्वीकार किया जाता है। बलात्कार को इसी कारण अनैतिक और अवैध माना गया है।

कामवृत्त्यात्मक जीवन का तीसरा नैतिक नियम यह है कि शारीरिक तृप्ति को सदा के लिए सन्तान की उत्पत्ति से पृथक् नही करना चाहिए। आधुनिक समय मे, जबकि जनसख्या के आधिक्य के कारण परिवार-नियोजन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, इस नियम के विषय मे मतभेद अवश्य उत्पन्न होता है। अत. इस नियम के प्रति अनेक भ्रातिया उत्पन्न हो सकती है। न ही केवल भारतीय दृष्टिकोण से, अपितु पश्चिमीय दृष्टिकोण से भी, केवल शारीरिक तृप्ति को विवाह का उद्देश्य न मानकर, सन्तान की उत्पत्ति को उसका लक्ष्य माना जाता है। सामाजिक दृष्टि से भी यदि विवाह का लक्ष्य सन्तान की उत्पत्ति न हो, तो मानव जाति की प्रगति कदापि नही हो सकती। भारतीय सस्कृति के अनुसार तो केवल आदर्श सन्तान को ही विवाह का एकमात्र उद्देश्य माना गया है। यदि सन्तान-निरोध को प्रोत्साहन दिया जाए, तो विवाह का उद्देश्य केवल शारीरिक तृप्ति ही हो जाता है, इसलिए अनेक विचारको ने सन्तान-निरोधक उपायो को अनैतिक तथा प्रकृति के विरुद्ध घोषित किया है। बर्नर्ड शॉ जैसे प्रगतिशील लेखक ने भी सन्तान की उत्पत्ति को विवाह का परम उद्देश्य माना है और कृत्रिम सन्तान-निरोध को नैतिक स्वीकार नही किया। इसका अभिप्राय यह नही कि सन्तान की उत्पत्ति पर किसी प्रकार की रोक न लगाई जाए। पिछडे हुए देशो मे, जहा पर कि आवश्यकता से अधिक जनसख्या के कारण, भूख और दीनता का आधिपत्य है, सन्तान-उत्पत्ति को ही विवाह का एकमात्र लक्ष्य मानना सगत नही हो सकता। परिवार-नियोजन का अर्थ यह भी नहीं है कि प्रत्येक दम्पती सन्तानहीन रहे। इसके विपरीत आदर्श परिवार-नियोजन मे सीमित सन्तान की उत्पत्ति नितान्त आवश्यक है। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियां कामवृत्त्यात्मक जीवन के तीसरे नियम को सीमाबद्ध करती हैं।

उपर्युक्त कामवृत्यात्मक जीवन के नियम वास्तव मे परिवार से सम्बद्ध है, अत परिवार को व्यवस्थित बनाने के लिए इन नियमो के साथ-साथ पति-पत्नी के अधिकारो और कर्तव्यो की सक्षिप्त व्याख्या करना भी आवश्यक है । पती-पत्नी के ये अधिकार और कर्तव्य ही वास्तव मे परिवार के आदर्श एव नियम है। परिवार के नियम, निस्सन्देह उपर्युक्त व्यक्तिगत कामवृत्यात्मक जीवन के नियमो की स्वीकृति है। किन्तु यह स्वीकृति पति-पत्नी के कामवृत्ति-सम्बन्धी अधिकारो तथा कर्तव्यो को जन्म देती है। दम्पती के कामवृत्ति-सम्बन्धी अधिकारो को दाम्पत्य अधिकार (Conjugal rights) कहा जाता है। ये दाम्पत्य अधिकार इस धारणा से उत्पन्न होते हैं कि कामवृत्ति सामाजिक माध्यम से और सामाजिक अनुमति से क्रियाशील है। ये दाम्पत्य अधिकार इसलिए उचित है कि इनके विना परिवार का स्थायित्व नही हो सकता। दाम्पत्य कर्तव्यो को हम दाम्पत्य अधिकारो के प्रति आदर कह सकते है। दाम्पत्य अधिकारो का यह आदर यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मुख्य दाम्पत्य अधिकार निम्नलिखित है .

(१) अपने पति अथवा अपनी पत्नी से प्रेम प्राप्त करने का अधिकार अथवा कामवृत्ति की तृप्ति का अधिकार

(२) पत्नी तथा उसके शिशु का आजीविका प्राप्त करने का अधिकार

(३) व्यक्तित्व के आदर का अधिकार

ये तीनो प्रकार के अधिकार वास्तव मे मूलप्रवृत्यात्मक जीवन-सम्बन्धी नियमो पर ही आधारित है। पहला अधिकार मूलप्रवृत्यात्मक जीवन-सम्बन्धी पहले नियम पर आधारित है। पत्नी तथा शिशुओ की जीविका का अधिकार उस नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार सन्तान की उत्पत्ति को विवाह का उद्देश्य माना जाता है और व्यक्तित्व के आदर का अधिकार उस नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार शारीरिक मूल्यो की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यो को श्रेष्ठ माना जाता है। इन अधिकारो की रक्षा के लिए प्रगतिशील देशो मे विवाह-सम्बन्धी विधान निर्धारित किए गए है और इन अधिकारो की अवहेलना न ही केवल अनैतिक, अपितु अवैध मानी जाती है।

विवाह-विच्छेद की समस्या

विवाह-विच्छेद की समस्या एक सामाजिक और नैतिक समस्या है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, परिवार के स्थायित्व के लिए दाम्पत्य अधिकारो और कर्तव्यो का पालन करना नितान्त आवश्यक है। जव भी दम्पती के एक सदस्य के द्वारा दूसरे के अधिकारो का दमन किया जाता है एव दाम्पत्य कर्तव्यो की अवहेलना की जाती है, तो न केवल अत्याचार सहन करनेवाले जीवनसाथी को मानसिक आघात पहुचता है, अपितु पारिवारिक जीवन असह्य हो जाता है। क्योकि विधान भी दाम्पत्य अधिकारो और कर्तव्यो की रक्षा करता है, इसलिए विधान के लिए भी यह समस्या खड़ी हो जाती

है कि कलह मे प्रवृत्त, दु खी जीवन व्यतीत करनेवाले, दम्पती का सहवास कहा तक सगत है। इसलिए विधान ने समाज की अनुमति से विवाह-विच्छेद (Divorce) की प्रथा स्थापित की है। इस प्रथा के अनुसार पति-पत्नी वैधानिक रूप से एक-दूसरे से पृथक् हो सकते है। किन्तु विवाह-विच्छेद का विधान विभिन्न राज्यो मे विभिन्न है। कही पर तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर और साधारण कलह पर, विवाह-विच्छेद उचित समझा जाता है और कही पर दाम्पत्य अधिकारो के क्रूर दमन के आधार पर ही विच्छेद सगत माना जाता है। यदि विवाह-विच्छेद की प्रथा सर्वमान्य हो सकती है, तो इसके आधारभूत नियम सर्वत्र समान होने चाहिए। जहा तक विवाह-विच्छेद के नैतिक महत्त्व का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते है कि इस समस्या के प्रति तीन मुख्य दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(१) रूढिवादी दृष्टिकोण (The conservative view)
(२) क्रान्तिकारी दृष्टिकोण (The radical view)
(३) उदार दृष्टिकोण (The liberal view)

पहले दो दृष्टिकोण एक-दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हैं। रूढिवादी दृष्टिकोण, जो-कि ईसाई धर्म की मान्यताओ पर आधारित है, विवाह के सम्बन्ध को एक पवित्र सम्बन्ध मानता है और इसलिए विवाह-विच्छेद को या तो पूर्णतया अनुचित मानता है, या केवल परस्त्रीगमन अथवा परपुरुपगमन के आधार पर ही उचित स्वीकार करता है। दूसरे शब्दो मे, इस दृष्टिकोण के अनुसार विवाह-विच्छेद उस समय तक अनैतिक है, जब तक कि यह प्रमाणित न हो जाए कि पति अथवा पत्नी ने परस्त्रीगमन अथवा परपुरुष-गमन के द्वारा अपनी पवित्रता को भग किया है। क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के अनुसार पति तथा पत्नी अपनी अनुमति के अनुसार, जब चाहे विवाह-विच्छेद कर सकते है और ऐसा विवाह-विच्छेद उचित है। उदार दृष्टिकोण के अनुसार, केवल अनिवार्य परिस्थितियो मे शुभ जीवन के लिए विवाह-विच्छेद को उचित समझा जाता है। इन तीनो दृष्टिकोणो की सक्षिप्त व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

रूढिवादी दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण निस्सन्देह विवाह को एक शाश्वत पवित्र सम्बन्ध मानता है और विवाह-विच्छेद को न ही केवल नैतिक दृष्टि से, अपितु धार्मिक दृष्टि से भी सर्वथा असगत घोपित करता है। कैथोलिक ईसाई धर्म के अनुसार, किसी भी आधार पर विवाह-विच्छेद को स्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु ईसाई धर्म की प्रोटैस्टेट शाखा के अनुसार कामप्रवृत्त्यात्मक पवित्रता को भग करने के आधार पर, विवाह-बन्धन को तोड़ा जाना उचित समझा जाता है। इन दोनो दृष्टिकोणो के अनुयायियो की यह धारणा है कि विवाह का सम्बन्ध पावन होने के नाते कदापि तोडा नही जा सकता और इसी कारण यह सम्बन्ध परिवार तथा सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि सम्बन्ध-विच्छेद का रूढिवादी दृष्टिकोण केवल-मात्र धार्मिक विश्वास पर आधारित है। उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण को अपनानेवाले दार्शनिक भी विवाह-विच्छेद का घोर विरोध करते है। उनकी यह धारणा है कि एकपत्नीविवाह अथवा एकपतिविवाह पर आधारित स्थायी परिवार, कामवृत्त्यात्मक सम्बन्ध का आदर्श इसलिए माना जाता हे, क्योकि ऐसा परिवार ही दम्पती तथा शिशुओ की आत्मानुभूति का एकमात्र आधार है। इस प्रकार का स्थायी परिवार ही सामाजिक सगठन तथा सामाजिक कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है, इसलिए स्थायी परिवार की रक्षा को विधान के द्वारा बनाए रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थायी परिवार ही शिशु की शिक्षा का एकमात्र आधार है। इन कारणो से रूढिवादी दृष्टिकोण विवाह-विच्छेद का घोर विरोध करता है।

यद्यपि यह दृष्टिकोण मनुष्य की धार्मिक भावना से प्रेरित और उसके नैतिक स्वभाव से पुष्ट है, तथापि इसका निष्पक्ष विश्लेषण हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि इस दृष्टिकोण को हर अवस्था मे सफलतापूर्वक लागू नही किया जा सकता। यद्यपि सामान्यतया विवाहित जीवन दु खद नही होता, तथापि कुछ व्यक्तिगत उदाहरण ऐसे अवश्य मिलते है, जिनमे कि विवाहित जीवन अत्यन्त दु खद प्रमाणित होता है। रुढिवादी दृष्टिकोण के अनुयायी इस दु ख का कारण व्यक्तियो के निजी स्वभाव को मानते है और विवाह-प्रथा की अपेक्षा व्यक्तियो को ही दोषी ठहराते है। उनका कहना है कि विवाहित सुख हमारा जन्मसिद्ध अधिकार ही नही है, अपितु हमारे शुभ सकल्प और हमारे प्रयत्न पर निर्भर है। इसलिए विवाह-विच्छेद ही विवाहित दु ख का एकमात्र उपाय नही है। सहिष्णुता और त्याग की भावना को अपनाने से कलह और कष्ट को दूर किया जा सकता है।

रूढिवादी ये तो स्वीकार करते है कि विशेष परिस्थितियो के कारण कुछ विवाह-सम्बन्ध ऐसे होते है, जोकि असह्य प्रमाणित होते है और जिनमे न्यायालय के द्वारा पार्थक्य प्राप्त करना ही एकमात्र उपाय प्रमाणित होता है। उनका कहना है कि ऐसे विवाह-सबध बहुत कम होते है। इस असह्यता और अत्याचार के नाम पर विवाह-विच्छेद की प्रथा का अधिकतर दुरुपयोग होता है और अन्य कारणो से प्रेरित होकर विवाह-विच्छेद प्राप्त करने की सम्भावना रहती है। यह भी सत्य है कि परिवार के एकत्व के नाम पर विवाह-विच्छेद का विरोध करनेवाले व्यक्ति अपने दोषो को ही छिपाते हैं और विवाहित जीवन मे अपने जीवनसाथी को दु खी करते है। किन्तु रूढिवादियो की धारणा है कि विवाह-विच्छेद के कारण जो अनैतिकता फैलती है, वह उपर्युक्त दु ख से अधिक होती है।

रूढिवादी दृष्टिकोण का सबसे प्रबल तर्क यह है कि माता-पिता के दोष के कारण विवाह-विच्छेद के द्वारा निर्दोष सन्तान पर अत्यन्त दुष्प्रभाव पडता है। विवाह का उद्देश्य पति-पत्नी की कामप्रवृत्त्यात्मक तृप्ति ही नही है, अपितु एक ऐसे आदर्श परिवार की स्थापना है, जिसमे सन्तान को एक आदर्श नागरिक बनने की और आत्मानुभूति

प्राप्त करने की शिक्षा मिलती है। पत्नी और शिशुओं का आजीविका प्राप्त करने का अधिकार विवाह-विच्छेद को असगत प्रमाणित करता है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि विवाह-विच्छेद के पश्चात् भी पत्नी तथा शिशुओ की आजीविका का प्रवन्ध किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क इस तथ्य की अवहेलना करता है कि सम्बन्ध-विच्छेद के पश्चात् जिन शिशुओ को माता-पिता का प्रेम प्राप्त नही होता, उनका व्यवहार असामान्य हो जाता है। ऐसे शिशु प्राय. वाल-अपराध के मानसिक रोग का शिकार हो जाते है। कुछ लोगो का विचार है कि विवाह-विच्छेद की अनुपस्थिति मे भी, परस्पर-कलह करनेवाले माता-पिता के शिशुओ के व्यक्तित्व का विकास असामान्य और दोषपूर्ण होगा। उसका कारण यह है कि ऐसे शिशु कलह से पीड़ित परिवार मे असह्य मानसिक दु ख का अनुभव करेगे। किन्तु यह तर्क भी विवाह-विच्छेद को सगत प्रमाणित नही करता। परस्पर-कलह करनेवाले माता-पिता के शिशु, परिवार के वातावरण मे रहते हुए, परिवार के एकत्व का अनुभव अवश्य करते है। माता-पिता परस्पर-कलह करते हुए भी शिशुओ के हित की सदैव रक्षा करते है। उनका यह व्यवहार, शिशुओ के मानसिक सन्तुलन को वनाए रखने के लिए पर्याप्त होता है। शिशु माता-पिता के प्रेम का प्रतीक होता है और वह उनके सम्बन्ध की एक दृढ कडी प्रमाणित होता है। इसलिए जहा तक शिशुओ के कल्याण का सम्बन्ध है, विवाह-विच्छेद सर्वथा अवाछनीय सिद्ध होता है।

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण

रूढिवादी दृष्टिकोण व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्त्व देता है, क्योकि विवाह का उद्देश्य केवल व्यक्ति का सुख न होकर ऐसे परिवार मे आत्मानुभूति की प्राप्ति है जो व्यक्ति के निजी हित से ऊपर उठ जाता है और उससे अधिक व्यापक होने के कारण श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी दृष्टिकोण परिवार की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है और कामवृत्त्यात्मक सम्बन्ध को केवल व्यक्तिगत व्यापार मानता है। इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार, विवाह-विच्छेद, विशेषकर पति-पत्नी की अनुमति के द्वारा, केवल वाछनीय ही नही, अपितु एक आदर्श कर्म है। विवाह-विच्छेद की क्रान्तिकारी धारणा विशेषकर सोवियत रूस मे सर्वप्रिय है और वहा के विवाह-सम्वन्धी विधान के अनुसार है। इससे पूर्व कि हम विवाह-विच्छेद के इस दृष्टिकोण का मूल्याकन करे, वर्तमान रूस मे प्रचलित विवाह-पद्धति पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। रूस मे विवाह करना अत्यन्त सरल है। दो व्यक्ति जो परस्पर विवाह करना चाहते हैं अपनी उस इच्छा की घोषणा मात्र करके, विवाह के रजिस्टर मे अपना नाम लिखवा देते हैं और विवाहित जीवन मे प्रविष्ट हो जाते है। इसी प्रकार विवाह-विच्छेद भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। पति-पत्नी कोई भी कारण वताकर, विना विशेष विधि के विवाह-विच्छेद घोषित कर सकते

हैं। किन्तु जहां तक शिशुओं की देख-रेख और उनके पालन-पोषण का प्रश्न है, विधान भी यह उत्तरदायित्व माता तथा पिता दोनो को समान रूप से देता है। सम्भवतया रूस जैसे राज्य मे, जहा कि नागरिको की शिक्षा-दीक्षा साम्यवादी राज्य के द्वारा दी जाती है, विवाह-विच्छेद की यह प्रथा सफल हो सकती है, किन्तु साम्यवाद के वातावरण से वाहर इस प्रकार की प्रथा कम से कम धार्मिक प्रवृत्तिवाले राष्ट्रो मे मान्य नही हो सकती।

परस्पर-अनुमति के द्वारा विवाह-विच्छेद की प्रथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की अभिव्यक्ति हे। यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था की अवहेलना करता है और मनुष्य को पारस्परिक, सामाजिक तथा नैतिक बन्धनो से भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को प्रकृतिवादी रसिकवाद (Naturalistic romanticism) कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विवाह भी एक प्रकार का सास्कृतिक बन्धन है, जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणाओ के मार्ग मे वाधक सिद्ध होता हे। मनोविश्लेषण कुछ सीमा तक इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। किन्तु विवाह-विच्छेद की समस्या का निष्पक्ष अवलोकन हमे इस निष्कर्ष पर पहुचाता है कि अनुमति पर आधारित विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने का परिणाम दाम्पत्य अधिकारो तथा कर्तव्यो की सर्वथा अवहेलना करना और पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न करना है। अधिकतर पश्चिमीय देशो मे, विशेषकर अमरीका मे, विवाह-विच्छेद के आधिक्य के कारण, पारिवारिक जीवन सर्वथा अस्तव्यस्त होता जा रहा है। तथाकथित प्रगत्यात्मक (Progressive) तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मानवता, प्रेम तथा नैतिकता का अन्त करने पर तुला हुआ है।

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए और उसे सर्वथा नैतिकताशून्य प्रमाणित करते हुए अरबन ने रूसी भाषा के एक नाटक 'रैड रस्ट' (Red Rust) की एक घटना का उल्लेख किया है, जिसको यहा वतलाना अनुचित न होगा। एक साम्यवादी युवती, जोकि एक साम्यवादी नेता से विवाहित है, पतिभक्ति के पूजीवादी आदर्श को त्याग नही सकती, उसके फलस्वरूप, वह अपने पति के अत्याचार और विश्वासघात के कारण अत्यन्त दु खित होती है। जव वह अपने इस शोक और दु ख को प्रकट करती है, तो एक अन्य सुसस्कृत तथा अनुभवी युवती उसे उत्तर देती है, "उन्हे (पुरुषो को) हमारे प्रति विश्वासपात्र क्यो होना चाहिए ? हम केवल स्त्री-पशु है।" इस प्रकार यह दृष्टिकोण निस्सन्देह मनुष्य को मानवता के स्तर से, दानवता के स्तर पर लाने की चेष्टा कर रहा है और इसलिए वह नैतिकता, सभ्यता और सस्कृति का घोर विरोध करता है। क्रान्तिकारी दृष्टि मनुष्य को स्वलक्ष्य न मानकर उसे साधन-मात्र स्वीकार करती है।

उदार दृष्टिकोण

विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी उदार दृष्टिकोण न तो रूढिवादी दृष्टिकोण की भाति

इस प्रथा का घोर विरोध करता है और न क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की भाति पति-पत्नी के पार्थक्य को साधारण घटना बनाने की चेष्टा करता है। यह दृष्टिकोण न तो व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है और न व्यक्तिगत हितो की सर्वथा अवहेलना करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, स्त्री और पुरुष का मिलन एव सयोग निस्सन्देह मानव जाति के अमरत्व का साधन है। अत. विवाहित जीवन का उद्देश्य परिवार का स्थायित्व है, इसलिए पति-पत्नी के सयोग का आधार पुरुष का स्वार्थ नही होना चाहिए, अपितु उसका आधार सामाजिक सकल्प होना चाहिए और विवाह के सम्बन्ध की सर्वथा रक्षा की जानी चाहिए। मानव जाति की सुरक्षा के लिए और उसके स्थायित्व के लिए रीति-रिवाज तथा विधान दोनो की सहायता लेना आवश्यक है।

जहा तक विवाह-विच्छेद की समस्या का सम्बन्ध है, उदार दृष्टिकोण इसका समाधान व्यावहारिक जीवन के अनुसार करता है। हमारा व्यावहारिक जीवन न तो हमे रूढिवादी सिद्धान्त को अपनाने के लिए बाध्य करता है और न विवाह-विच्छेद को आवश्यकता से अधिक सरल बनाने की आज्ञा देता है। अनुमति के द्वारा बिना किसी कारण के विवाह-विच्छेद की धारणा निस्सन्देह एक अमूर्त धारणा है, जो ठोस जीवन की अवहेलना करती है। इसी प्रकार विवाह-विच्छेद को सर्वथा अस्वीकार करने अथवा केवल परव्यक्तिगमन (Adultery) के आधार पर ही विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने की धारणा भी व्यावहारिक जीवन के विपरीत है। उदार दृष्टिकोण के अनुसार, विवाह-विच्छेद की समस्या को सुलझाने का एकमात्र उपाय वास्तविक अनुभव है, जो हमे विवाह-सम्बन्धी नियमो को उदार बनाने की प्रेरणा देता है। उदार दृष्टिकोण इस प्रकार मानवीय जीवन को विकासशील मानता है। आर्थिक परिवर्तनो ने हमारे जीवन की परिस्थितियो को बदल दिया है और उन्होने हमारे पारिवारिक जीवन पर गहन प्रभाव डाला है। वर्तमान समय मे पुरुष तथा स्त्री दोनो आत्मचेतना का अनुभव कर रहे हैं और वे विवाहित जीवन से अधिक से अधिक लाभ उठाने के अधिकारी हैं। इस अवस्था मे, विवाहित जीवन मे दोनो पक्षो को त्याग की भावना का अनुसरण करना चाहिए और विवाह-विच्छेद करने से पूर्व अधिक से अधिक आत्मत्याग के द्वारा पार्थक्य को रोकने की चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि विवाह-विच्छेद विशेष परिस्थितियो मे भी लागू न किया जाए। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह तो स्वीकार किया जाता है कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे पति-पत्नी के सम्बन्ध ऐसे असह्य हो जाते हैं कि उनके लिए विवाह-विच्छेद अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यह भी सत्य है कि अधिकतर व्यक्ति विवाहित जीवन को सफल बनाने की पर्याप्त चेष्टा नही करते। अत उदार दृष्टिकोण विवाहित जीवन के लिए वैधानिक स्वतन्त्रता की अधिक माग करता है, इसके साथ ही साथ यह सिद्धान्त विवाह के आदर्शो की प्रशिक्षा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल देता है और पारिवारिक स्थायित्व को मानव जाति के विकास के लिए नितान्त आवश्यक समझता है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि नैतिक दृष्टिकोण से विवाह-विच्छेद की समस्या एक ऐसी उलझन उत्पन्न करती है, जिसका समाधान केवल वाद-विवाद के द्वारा नही किया जा सकता। विवाह का सम्बन्ध व्यक्तियो का सम्बन्ध है और व्यक्तिगत स्वभाव कदापि यन्त्रवत् नही हो सकता। किसी भी देश तथा जाति का सास्कृतिक वातावरण, उसकी दार्शनिक धारणाए तथा परम्पराए उस देश के निवासियो पर गहन प्रभाव डालती है और उनके व्यक्तित्व को विशेषता प्रदान करती है। यही कारण है कि विवाह-विच्छेद की प्रथा, जोकि पश्चिमीय देशो मे वैधानिक आवश्यकता और सामाजिक माग स्वीकार की जाती है, भारतीय सस्कृति के वातावरण मे सर्वप्रिय नही हो सकी। सम्भवतया भारतीय सस्कृति मे विवाह को एक पवित्र, जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध स्वीकार किए जाने के कारण इस देश के वासियो का पारिवारिक जीवन अधिक दृढता से गठित है और इसीलिए विवाह-विच्छेद को वाछनीय नही माना जाता। किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि भारत मे विवाह का अर्थ दो आत्माओ का ऐसा मिलन है, जो उन्हे मोक्ष की ओर ले जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, दाम्पत्य जीवन न ही केवल मानवीय प्रेम पर आधारित है, अपितु वह जीवात्मा और ब्रह्म, भक्त और भगवान, शिव और शक्ति, राम और सीता, राधा और कृष्ण तथा लक्ष्मी और नारायण के एकत्व का प्रतीक है। व्यावहारिक दृष्टि से भी पति-पत्नी के प्रेम को एक विशेष प्रकार का प्रेम माना गया है, जिसे दाम्पत्य रति कहा जाता है। दाम्पत्य रति की व्याख्या करना इसलिए आवश्यक है कि इसके ज्ञान और इसके अनुसरण से पारिवारिक जीवन को दृढता प्राप्त होती है और विवाह-विच्छेद की समस्या का स्वत ही समाधान हो जाता है।

प्रेम निस्सन्देह एक मानसिक भाव है, जो मनुष्य के व्यवहार का एक अभिन्न और विशेष अग है। यदि प्रेम को एक तरल मान लिया जाए और मन को उस तरल से पूर्ण पात्र मान लिया जाए, तो उस पात्र मे उत्पन्न तरल की तरगे प्रेम के विभिन्न प्रकारो को अभिव्यक्त करेंगी। जब वह तरग नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होती है, तो इस प्रकार का प्रेम श्रद्धा कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, जब एक शिशु अपने पिता व माता से प्रेम करता है अथवा शिष्य गुरु से प्रेम करता है, तो वह प्रेम श्रद्धा कहलाता है। जब प्रेम-रूपी तरल मे उत्पन्न तरग ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होती है, अर्थात् जब बडा व्यक्ति छोटे के प्रति प्रेम करता है तो वह प्रेम वात्सल्य कहलाता है। पिता व माता का पुत्र के प्रति प्रेम अथवा गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम वात्सल्य का उदाहरण है। जब मन-रूपी पात्र मे तरगो का प्रवाह समतल होता है, तो उससे उत्पन्न प्रेम स्नेह कहलाता है। समान स्तरवाले व्यक्तियो का परस्पर-प्रेम, जैसे एक मित्र का दूसरे मित्र के प्रति प्रेम स्नेह का उदाहरण है। दाम्पत्य रति को हम न केवल श्रद्धा, न केवल वात्सल्य और न ही केवल स्नेह कह सकते हैं, क्योकि भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार तथा वैदिक निष्ठा के अनुसार दाम्पत्य रति इन तीनो का समन्वय है। पति-पत्नी के प्रेम मे श्रद्धा, वात्सल्य

और स्नेह तीनो का समान रूप से उपस्थित होना और उचित समय पर प्रवाहित होना नितान्त आवश्यक है। पति के प्रति पत्नी की श्रद्धा और पत्नी के प्रति पति की श्रद्धा तो एक आदर्श परिवार के लिए सर्वत्र अनिवार्य मानी जाती है। जब पति-पत्नी दोनो मे से एक व्यक्ति दुर्भाग्यवश रोगग्रस्त हो जाए, तो दूसरे के द्वारा उसकी परिचर्या वात्सल्य पर आधारित होती है। इसी प्रकार पति-पत्नी मे स्नेह अर्थात् समानता पर आधारित प्रेम का होना भी सर्वत्र आवश्यक स्वीकार किया जाता है।

पति-पत्नी मे जब तक दाम्पत्य रति उपस्थित रहती है, अर्थात् जब तक श्रद्धा, वात्सल्य और स्नेह का समान प्रभाव रहता है, वे एक-दूसरे के दाम्पत्य अधिकारो और कर्तव्यो को आदर और सम्मान देते है और उनमे परस्पर-कलह उत्पन्न नही होता। वर्तमान युग मे पति-पत्नी के प्रेम के सम्बन्ध मे नितान्त भ्रान्त धारणाए प्रचलित है। जो लोग पत्नी से केवल श्रद्धा की आशा रखते हैं, वे उसके दाम्पत्य अधिकारो का दमन करते है और सम्भवतया स्त्री को पुरुष की अपेक्षा नीच मानते हैं। ऐसे व्यक्ति पुरुष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते है और स्त्री को सम्पत्ति-मात्र समझते है। ऐसा दृष्टिकोण निस्सन्देह सर्वथा अनैतिक और अवाछनीय है । कुछ तथाकथित प्रगतिशील विचारक, स्त्री और पुरुषो की समानता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए दाम्पत्य रति को केवल स्नेह स्वीकार करने की भूल करते है और इसलिए अनुमति के आधार पर अथवा उदारता को अपनाकर, विवाह-विच्छेद को एक अनिवार्य आपत्ति घोषित करते हैं। वास्तव मे दाम्पत्य रति इतनी व्यापक है कि उसमे सहयोग, साहचर्य, सहानुभूति तथा स्वार्थत्याग की भावनाए उपस्थित रहती हैं। अत दाम्पत्य रति के ज्ञान और अनुसरण से विवाह-विच्छेद की समस्या का महत्त्व नही रहता। यही कारण है कि विवाहित स्त्री के लिए भारतीय धर्मशास्त्र मे केवल नितान्त अनिवार्य परिस्थितियो मे पुनर्विवाह की व्यवस्था अवश्य की गई है, किन्तु विवाह-विच्छेद को कोई स्थान नही दिया गया।

सत्रहवा अध्याय

नैतिक प्रगति

(Moral Progress)

नैतिक प्रगति में विश्वास

पिछले अध्यायो मे हमने नैतिकता-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तो और समस्याओ का विवेचन किया है। इस विवेचन मे हमारा दृष्टिकोण केवल व्याख्यात्मक ही नही, अपितु आलोचनात्मक भी रहा है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिकता का विषय केवल सैद्धान्तिक नही है, किन्तु हमारे ठोस जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण व्यावहारिक है। नैतिकता केवल पुस्तको मे उपलब्ध नही होती, अपितु वह मनुष्य के जीवन मे गतिमान और विकासशील रहती है। अग्रेजी भाषा के विख्यात कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा है, "हरे-भरे वन से प्राप्त प्रेरणा तुम्हे मनुष्य के प्रति तथा शुभ-अशुभ और अनैतिकता के प्रति, सभी विद्वानो की अपेक्षा अधिक ज्ञान दे सकती है। विज्ञान तथा कला का अध्ययन बहुत हो चुका, इनके कोरे पृष्ठो को बन्द कर दो, आगे बढो और अपने साथ वह हृदय रखो जो निरीक्षण करता है और ग्रहण करता है।"[1]

इसका अभिप्राय यह है कि जीवन का ठोस अनुभव ही यथार्थ ज्ञान और नैतिकता प्राप्त करने का एकमात्र साधन है, क्योकि नैतिकता वास्तव मे जड वस्तु नही है, अपितु चेतन, क्रियात्मक, प्रगतिशील तथा सृजनात्मक प्रक्रिया है। यदि नैतिकता वास्तविक है, और मानवीय जीवन का आधार तथा उसकी प्रेरणा है, तो हमे यह मानना पडेगा कि वह किसी उद्देश्य को लेकर युगो मे क्रमिक प्रगति करती चली आई है। हमारी नैतिकता की व्याख्या, हमे यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि नैतिकता का मूल

---

१ "One impulse from the vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and good
Than all the sages can.
Enough of science and of art,
Close up these barren leaves,
Come forth and bring with you a heart,
That watches and receives."

तत्त्व, एक ऐसी प्रगति है, जो न्यून स्तर से उच्च स्तर की ओर, कम शुभ से अधिक शुभ की ओर, अग्रसर हुई है और हो रही है।

यदि हम नैतिकता को प्रगत्यात्मक धारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डाले, तो हमे यूनानी समय से ही इस धारणा के बीज उपलब्ध होगे। अरस्तु ने, व्यक्ति के नैतिक जीवन को एक प्रगति एव विकास स्वीकार किया है। मध्यकालीन दर्शन मे दार्शनिक सिद्धान्तो पर ईसाई धर्म की विचारधारा का गहन प्रभाव था। ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति तथा समाज दोनो को प्रगत्यात्मक माना जाता था और नैतिक जीवन को एक अनन्त प्रगति स्वीकार किया जाता था। किन्तु ईसाई दृष्टिकोण मे मानव के पतन की धारणा तथा मनुष्य मे उपस्थित मौलिक पाप की धारणा प्रगति को उस प्रकार विकासशील स्वीकार नही करती, जिस प्रकार कि आधुनिक दर्शन करता है। अत हम यह नही कह सकते कि ईसाई दृष्टिकोण नैतिक प्रगति की धारणा का एकमात्र स्रोत है। आधुनिक युग मे, और विशेषकर पिछली दो शताब्दियो मे, विकासवाद के सिद्धान्तो ने जो प्रभाव दार्शनिक विचारो पर डाला है, उसके फलस्वरूप प्रगति के नियमो को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। विकासवाद के सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय डार्विन को है, जिसने कि इस सिद्धान्त को जीवन की प्रगति पर लागू किया था। उसके अनुसार, जीवन एक ऐसा सघर्ष है, जिसमे कि प्राणी-मात्र की पूर्णता के लिए क्रमिक प्रगति हो रही है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर ने जीवन के प्रत्येक अग को और विशेपकर मनुष्य के नैतिक स्वभाव को प्रगति के नियम के अन्तर्गत माना है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि नैतिकता की प्रगतिवादी धारण पूर्णतया वर्तमान धारणा है। यह धारणा इस विचार का विरोध करती है कि स्वर्णयुग अतीत मे था और हमारे पूर्वजो की प्रज्ञा आधुनिक समय की मूर्खताओ तथा विपय-भोग आदि से मुक्त थी। जो लोग प्राचीन प्रज्ञा को पूर्ण और पवित्र मानते है, उनके दृष्टिकोण के अनुसार, वर्तमान युग अन्याय, अनैतिकता और पाप का युग है और विकास के विपरीत मानवीय जीवन मे ह्रास हो रहा है। किन्तु यह निराशावादी दृष्टिकोण शत-प्रतिशत सत्य नही है। यह बात तो स्वीकार की जा सकती है कि जीवन के आर्थिक अग पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण वर्तमान युग मे मनुष्य सम्भवतया पहले कि अपेक्षा अधिक स्वार्थी और कपटी हो गए है। किन्तु इसके साथ ही साथ विज्ञान की प्रगति के कारण और विशाल प्रगति के रहस्यो की अनावृति के कारण हमारा दृष्टिकोण आज जितना व्यापक हो चुका है, उतना अतीत के किसी युग मे नही था। हमारे कर्म एव नैतिक व्यवहार आज के युग मे अधिक व्यापक और अधिक तर्कात्मक नियमो पर आधारित है। यह तो हमे स्वीकार करना पडेगा कि हमारे ज्ञान के क्षेत्र मे प्रगति हुई है और सभ्यता का विकास हुआ है।

हम यह नही कह सकते कि इस विकास मे हमने सदैव शुभ की ओर प्रगति की है। मनुष्य निस्सन्देह ज्ञान की दृष्टि से अन्य प्राणियो की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु मनुष्य

का ज्ञान एव उसकी विचारशीलता जहा उसे नैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग पर ले जाती है, वहा उसे अवनति की ओर भी ले जा सकती है। इसलिए कहा गया है, "जहा पर अज्ञान आनन्द का कारण है, वहा ज्ञानवान होना मूर्खता है।"[1] मनुष्य की ज्ञान-सम्बन्धी उत्कृष्टता उसके दु ख का कारण भी बनती है। पशु अज्ञान के कारण न तो पाप को समझ सकते है और न उससे प्रभावित हो सकते है। मनुष्य अपने ज्ञान के कारण ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि अवगुणो का शिकार होता है, जबकि अज्ञानी और विचारशून्य पशु आत्म-चेतन न होने के कारण इन अवगुणो से मुक्त रहता है। अत हमारी सभ्यता की प्रगति मे शुभ तथा अशुभ, सुख तथा दु ख, नैतिकता तथा अनैतिकता का समान रूप से विकास हुआ है। यह कहना भी सत्य नही है कि वर्तमान युग मे सद्गुणो का नाम-मात्र नही है और केवल हमारे पूर्वज ही देवता कहलाने के अधिकारी थे। वर्तमान समय मे भी आचार की जो उत्कृष्ट धारणाए उपस्थित है, वे इस बात का प्रमाण है कि कुछ व्यक्तियो ने निरन्तर उन्हे अपने जीवन पर लागू किया है। प्रत्येक युग मे प्रत्येक देश मे उदात्त चरित्रवाले व्यक्ति उत्पन्न हुए है। अत नैतिक प्रगति की धारणा सर्वथा निराधार नही है।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण पर आक्षेप करना इसलिए उचित नही है कि यह बात तर्कसगत प्रतीत होती है कि हमारे विश्व मे नैतिक आदर्श धीरे-धीरे अनुभूत किया जा रहा है। अरबन का कहना है कि हम नैतिक आदर्श को चाहे किसी भी रूप मे ले, हमे निम्नलिखित दो तथ्यो मे विश्वास रखना पड़ेगा

सर्वप्रथम हमे एक विकासशील उद्देश्य की धारणा को स्वीकार करना पडेगा, चाहे वह उद्देश्य मानव के द्वारा स्पष्ट रूप से अनुभूत न भी हुआ हो। टैनीसन् जैसे कवि ने भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि की है और कहा है कि युगो के इतिहास मे एक प्रगत्यात्मक उद्देश्य की उपस्थिति असन्दिग्ध है। जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यापक उद्देश्य मे विश्वास नही रखता, उसे मानवीय उद्देश्य के महत्त्व पर भी सशय करना पडता है।

दूसरे स्थान पर हमे मूल्य के शाश्वत एव अविनाशी होने मे विश्वास करना पडेगा। यदि विश्व का उद्देश्य प्रगत्यात्मक विकासशीलता है, तो यह स्पष्ट है कि उस उद्देश्य मे एक शाश्वत तत्त्व है, जो परिवर्तन के होते हुए भी स्थायी रहता है। इन दो तथ्यो मे विश्वास रखने का अर्थ नैतिकता की प्रगति मे विश्वास रखना है।

नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण

हमने उपर्युक्त विवेचन मे यह बतलाने की चेष्टा की है कि नैतिक जगत् मे प्रगति का स्वीकार किया जाना नितान्त आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम ऐतिहासिक विश्लेषण के द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करे कि मानव समाज मे नैतिक प्रगति एक ध्रुव सत्य है, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण

१ "Where ignorance is bliss, it is folly to be wise"

निर्धारित करे। प्रगति का शब्दार्थ किसी उद्देश्य एवं लक्ष्य की ओर निरन्तर परिवर्तन है। इस दृष्टि से प्रगति को विकास कहा जाता है और इसकी विपरीत प्रक्रिया को अवनति एव प्रतिक्रिया व ह्रास कहा जाता है। प्रगति अनेक प्रकार की हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक प्रगति, आर्थिक प्रगति आदि। यहा पर हमारा सम्बन्ध नैतिक प्रगति से है। यह तो सत्य है कि आर्थिक और राजनीतिक प्रगतिया, मानवीय प्रगतिया है, किन्तु ये नैतिक प्रगति से विभिन्न है। आर्थिक प्रगति का नैतिक प्रगति से सम्बन्ध अवश्य हो सकता है, क्योकि नैतिक जीवन काफी सीमा तक आर्थिक जीवन पर निर्भर रहता है। किन्तु जहा आर्थिक प्रगति का अर्थ व्यक्ति और समाज की सम्पत्ति की वृद्धि है, वहा नैतिक प्रगति का अर्थ चरित्र का विकास और पूर्णता अथवा आत्मानुभूति के नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होना है।

इसी प्रकार राजनीतिक प्रगति का अर्थ आदर्श नागरिकता का विकास है। जब किसी राज्य के सभी नागरिक राज्य के शासन को सफल बनाने मे प्रवृत्त हो जाते है और अपने राजनीतिक अधिकारो का पूर्ण उपयोग करते है और राज्य तथा शासन के विषय मे सजग और चैतन्य रहते है, तो वे राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील कहलाते हैं। किन्तु यह आवश्यक नही कि जो लोग आर्थिक अथवा राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील हैं, वे नैतिक दृष्टि से भी प्रगतिशील हो। इसके विपरीत, जैसाकि हमने पहले कहा है, आर्थिक प्रगति अनेक बार अत्याचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन देती है, और औद्योगिक उन्नति एव यन्त्रो का आविष्कार आर्थिक प्रगति का चिह्न माना जाता है, किन्तु औद्योगिक प्रगति मनुष्य को स्वार्थी बना देती है। महात्मा गांधी ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "जब यन्त्र आ जाते है तो नैतिकता चली जाती है।" इसी प्रकार उन्होने यह भी कहा है, "लोहे की मशीनो का युग मनुष्य के हृदय को भी लोहा बना देता है।" इसी प्रकार, जो देश अथवा राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील हो जाए, उसे हम नैतिक दृष्टि से उतना प्रगतिशील नही मान सकते। उदाहरणस्वरूप, साम्यवादी देश राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रगतिशील होते है, किन्तु हम यह जानते हैं कि ऐसे राज्यो मे, व्यक्ति के मूल अधिकारो का दमन किया जाता है। प्रश्न यह उठता है कि नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण क्या है। जनसाधारण की दृष्टि से सुख तथा चरित्र एव आनन्द तथा सद्गुण, नैतिक प्रगति के मूल तत्त्व स्वीकार किए जाते हैं। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि नैतिक प्रगति मे सद्गुणो का विकसित होना और जीवन का सुखमय होना नितान्त आवश्यक है। किन्तु इन लक्षणो का गम्भीर विश्लेषण हमे इस परिणाम पर पहुंचाता है कि इन दो तत्त्वो के आधार पर यह प्रमाणित करना कठिन हो जाता है कि इतिहास के किस स्तर पर नैतिक प्रगति हुई है और किस स्तर पर अवनति।

वास्तव मे नैतिक प्रगति के ये दो तत्त्व इतने अन्तरात्मक और व्यक्तिगत हैं कि उनको व्यापक बनाना बहुत कठिन हो जाता है। यह तो सत्य है कि हम किसी समाज को उस समय तक नैतिक नहीं कह सकते, जब तक कि उसके सदस्यो मे दुःख और पीडा

है। किन्तु दु:ख शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी। मान लीजिए कि एक देश के वासी निर्धनता के कारण अच्छा भोजन प्राप्त नही कर सकते और इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से सुखी नही है। एक अन्य देश के रहनेवाले आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है, पूजीपति हैं और उन्हें उत्तम से उत्तम भोजन और विषय-भोग आदि की सुविधाए प्राप्त है। किन्तु वे आर्थिक होड मे प्रवृत्त होने के कारण एक क्षण के लिए भी सन्तुष्ट नही है और उन्हें मानसिक शान्ति प्राप्त नही है। इन दोनो देशो मे से हम किस देश के वासियो को सुखी कह सकते है। यह सत्य है कि वास्तविक सुख अन्तरात्मक सुख होता है, किन्तु जब तक मनुष्य शारीरिक पुष्टि और मानसिक तुष्टि, दोनो को प्राप्त न कर ले, तब तक उसे वास्तविक रूप मे सुखी नही कहा जा सकता। हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि वास्तविक सुख आत्मानुभूति मे एवं पूर्णता मे उपलब्ध है। इसी प्रकार चरित्रनिर्माण एव सद्‌गुणो का विकास भी, सापेक्ष होने के कारण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो पर निर्भर रहता है। किन्तु सभी सद्‌गुणो का सामान्य लक्षण यही है कि वे व्यक्ति को आत्मानुभूति एव पूर्णत्व प्राप्त करने मे सहायक होते है। हमने यह देखा है कि आत्मानुभूति वास्तव मे मूल्यो के क्रम मे और उनके अनुसरण मे उपलब्ध होती है। अत: हम नैतिक प्रगति को केवल जीवन के मूल्यो एव सद्व्यवहार के नियमो द्वारा ही जाच सकते है।

नैतिक प्रगति की त्रिविध प्रेरणा

जीवन का नैतिक क्षेत्र तीन तत्त्वो का समन्वय माना जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं

(१) आदर्शात्मक तत्त्व (Ideal aspect)
(२) सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व (Social aspect)
(३) व्यक्तिगत व्यवहार एव अभ्यास का तत्त्व (Habitual aspect)

आदर्शात्मक तत्त्व का अर्थ सद्व्यवहार के वे सभी नियम हैं, जोकि हमारे जीवन के लिए आदर्श माने जाते है और जिनका अनुसरण करना नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित माना जाता है।

सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व वे निश्चित सामाजिक सस्थाए है, जिनका कि प्रत्येक व्यक्ति सदस्य होता है और जिनमे वह आत्मानुभूति प्राप्त करता है। हमने इन सामाजिक सस्थाओ की व्याख्या पहले ही की है। व्यक्तिगत व्यवहार एव अभ्यास का तत्त्व नैतिक क्षेत्र का वह तत्त्व है, जिसमे कि व्यक्ति अनायास एक आदर्श व्यवहार का अनुकरण करता है और ऐसे आदर्श व्यवहार पर आधारित कर्मो का अनुसरण उसकी आदत बन जाता है। किसी भी देश मे हर काल मे ये तीनो नैतिक अग समान रूप से विकसित नही होते। समय और परिस्थितियो के अनुसार कोई एक अथवा दो तत्त्व अन्य तत्त्वो की अपेक्षा अधिक या कम विकसित रूप मे उपस्थित होते है। किसी भी देश के

वासियो का आदर्श सदैव उनकी नैतिक सस्थाओ और नैतिक आदतो के समान नही होता और न उनकी आदते सदैव सामाजिक सस्थाओ से मेल खाती है। नैतिक तत्त्वो का यह परस्पर-विरोध, यह प्रमाणित करता है कि नैतिक क्षेत्र मे पूर्णता नही है। यह पूर्णता का अभाव एव नैतिक तत्त्वो का विरोधाभास नैतिक प्रगति का प्रेरक है।

जब कभी हमारे नैतिक जीवन की विषमताए किसी सुधारक के द्वारा हमारे सामने उपस्थित की जाती है, उस समय नैतिक प्रगति की सम्भावना होती है। ऐसा सुधारक हमारे नैतिक विरोधाभास की ओर सकेत करता है और हमे यह बताता है कि हम कुछ विशेष परिस्थितियो मे अपनी आदत के आधार पर एक प्रकार का कर्म करते है और कुछ विभिन्न परिस्थितियो मे बिना किसी कारण के विभिन्न प्रकार का व्यवहार करते है, जबकि हमारा व्यवहार दोनो परिस्थितियो मे समान होना चाहिए था। उदाहरण-स्वरूप, प्राय मनुष्य कभी तो अपने शिशुओ से निर्दयता का व्यवहार करते है और कभी उन्हे आवश्यकता से अधिक लाड-प्यार करते है। इसी प्रकार, विशेषकर पश्चिमीय देशो मे, जहा कि मासाहार को सर्वथा उचित माना जाता है, पशुओ को दु खित देखकर व्यक्ति उतनी दया का अनुभव नही करते, जितना कि वे मनुष्यो को दु खी देखकर अनुभव करते हैं। इस अवस्था मे यह प्रश्न खडा होता है कि जब साधारणतया मनुष्यो तथा पशुओ के दु ख मे कोई भेद प्रतीत नही होता, तो हम क्यो बिना किसी कारण पशुओ के दु ख को तो सहन करते है, जबकि मानवीय दु ख को असह्य मानते हैं। इस प्रकार की नैतिक अभ्यास-सम्बन्धी विषमताए नैतिक प्रगति को प्रेरित करती है।

नैतिक प्रगति को सामाजिक सस्थाओ मे उपस्थित विषमताओ के कारण भी प्रेरणा प्राप्त होती है। इसलिए नैतिक सुधारक सामाजिक सस्थाओ की उन विषमताओ का विरोध करता है, जोकि उन सस्थाओ के आधारभूत सिद्धान्तो के विपरीत होती हैं। ऐसी विषमताए हमे किसी भी देश के शासन मे अथवा परिवार-सम्बन्धी व्यवस्था मे अथवा सामाजिक व्यवस्था मे उपलब्ध हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, इगलैड की शासन-प्रणाली प्रजातन्त्रीय है, किन्तु उसमे राजा का भी स्थान है। इसी प्रकार अनेक प्रगतिशील देशो मे स्त्रियो को वे सामाजिक तथा राजनीतिक सुविधाए प्राप्त नही होती, जोकि पुरुषो को होती हैं। अमरीका जैसे प्रगतिशील देश मे जन्म लेनेवाली 'रोटरी क्लब' नाम की अन्तर्राष्ट्रीय सस्था मे स्त्रियो का सदस्य होना निषिद्ध है। हमारे नैतिक आदर्शो मे भी कभी-कभी विरोधाभास उपस्थित होता है और वह नैतिक प्रगति को प्रेरित करता है। अनेक बार हम जिस आदर्श को जीवन का उच्चतम आदर्श मानते है, वह केवल सीमित क्षेत्र मे ही लागू किया जाता है। प्राचीन काल मे वीरता का अर्थ, केवल युद्ध मे निर्भय होकर लडना माना जाता था और सयम का अर्थ केवल खाने-पीने पर नियन्त्रण रखना था। ऐसी अवस्था मे यह प्रश्न उठता है कि क्या विनाश की अवस्था मे साहस की, और शक्तिशाली हो जाने की अवस्था मे आत्मसयम की आवश्यकता नही है। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि हम जिस आदर्श को अत्यन्त उत्कृष्ट

आदर्श मानते है, उसे जीवन के सभी क्षेत्रो मे लागू नही करते। यदि असत्य बोलना और छल करना अनैतिक है, तो व्यापार मे इन दोनो अवगुणो को क्यो सहन किया जाता है ? जब किसी समाज मे आदर्शों के पालन करने मे इस प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है, उस समय नैतिक प्रगति को प्रेरणा प्राप्त होती है।

यदि हम पश्चिमीय जगत् के इतिहास पर दृष्टि डाले, तो हम यह कह सकते है कि नैतिकता के उपर्युक्त तीनो अगो मे अवश्य प्रगति हुई है। प्राचीन तथा मध्यकालीन यूरोप मे व्यक्तिगत नैतिक आदतो मे विरोधाभास अवश्य था और कुछ नैतिक आदतो मे इस समय भी विरोधाभास है। किन्तु ज्ञान के प्रसार के कारण तथा पूर्वीय सस्कृति के सम्पर्क के कारण पश्चिम मे एक नई चेतना उत्पन्न हो गई है और जनसाधारण नैतिक जीवन के इस विरोधाभास को दूर करने की चेष्टा कर रहा है। समय था कि जब पश्चिमीय देशो मे कोई व्यक्ति यह स्वप्न मे भी अनुमान नही कर सकता था कि शाकाहार तथा पशुओ पर दया करना नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। किन्तु वर्तमान यूरोप और अमरीका मे अनेक व्यक्ति शाकाहारी है और अनेक ऐसी सस्थाए है, जिनका उद्देश्य पशुओ के साथ निर्दयता के व्यवहार की रोकथाम करना है। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे अनुसन्धान के कारण, शिशु को एक प्रौढ व्यक्ति से भी अधिक सम्मान देना आवश्यक माना जाता है। पश्चिमीय देशो मे माता-पिता तथा शिक्षको का शिशुओ के प्रति व्यवहार परिवर्तित हो गया है। आज शिशु को भय व आतक के वातावरण मे शिक्षा देना सर्वत्र अनैतिक तथा अस्वाभाविक माना जाता है। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत नैतिक आदतो की दृष्टि से मानव समाज मे नैतिक प्रगति हुई है।

जहा तक सामाजिक सस्थाओ के क्षेत्र मे प्रगति का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते है कि वर्तमान युग मे, अतीत की अपेक्षा निस्सन्देह एक अद्वितीय प्रगति हुई है। परिवार के क्षेत्र मे हम यह कह सकते है कि वर्तमान समय के विवाह-सम्बन्धी नियम अधिक उदार हैं और पुरुष तथा स्त्री को समान अधिकार देते है। यह तो सम्भव है कि प्राचीन काल मे असभ्य अवस्था मे मनुष्य कामवृत्यात्मक जीवन मे अधिक तीव्र सुखद भावना का अनुभव करता होगा, क्योकि उस समय विवाहित जीवन के वे नियम उपस्थित नही थे, जोकि आज उपस्थित है। किन्तु जहा तक आत्मानुभूति का सम्बन्ध है, वर्तमान समय के विवाहित जीवन मे व्यक्ति कामवृत्यात्मक जीवन को उत्कृष्ट आदर्श की प्राप्ति का साधन बना सकता है। पारिवारिक जीवन की इस नैतिक प्रगति का उल्लेख करते हुए अरबन ने लिखा है, "यदि हम आत्मानुभूति को नैतिक मूल्य की धारणा स्वीकार कर ले और उसमे निहित अर्थ को भी स्वीकार कर ले तो हमे यह मानना पडेगा कि आदर्शो तथा नियमो पर आधारित स्थायी एकपत्नीविवाह-युक्त परिवार की सफलता निस्सन्देह प्रगति है।"[1] वर्तमान विवाह के नियमो पर आधारित परिवार को प्रगतिशील सस्था

१. "But if we grant the conception of moral value as self-realization, with all that it implies, the achievement of the permanent monogamous

मानने का एक कारण यह भी है कि आधुनिक विवाह-पद्धति मे स्त्री तथा पुरुष को स्व-लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार इसमे व्यक्ति को कदापि साधन न मानकर स्वलक्ष्य स्वीकार किए जाने का वह उच्च आदर्श उपस्थित है, जो आत्मानुभूति के लिए नितान्त आवश्यक है। वर्तमान युग मे व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताए अधिक विकसित और सुसस्कृत हो गई है, जिसके फलस्वरूप उनका बुद्धि द्वारा नियन्त्रण किया जा रहा है। इन बौद्धिक नियन्त्रण के कारण सामाजिक सस्थाओ का आधार अधिक आध्यात्मिक और आदर्शात्मक हो गया है।

वर्तमान युग मे उद्योग की उन्नति के कारण विशाल नगरो का निर्माण हुआ है और इन नगरो मे सामुदायिक जीवन छोटे-छोटे ग्रामो के सामुदायिक जीवन की अपेक्षा अधिक विशाल और व्यापक है। प्राचीन तथा मध्यकालीन सामुदायिक जीवन की समस्याए विभिन्न थी और उस समय विभिन्न समुदायो की स्थापना सीमित क्षेत्र पर आधारित थी। वर्तमान नगरो मे जो सामाजिक सस्थाए स्थापित होती है, वे जाति, धर्म, व्यवसाय आदि की सकुचित सीमाओ से ऊपर उठी हुई होती है। इन सस्थाओ का उद्देश्य, प्रत्येक व्यक्ति का किसी सम्प्रदाय, धर्म तथा व्यवसाय के भेद के बिना उत्थान करना है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते है कि मनुष्य के सामुदायिक जीवन मे विशेष प्रगति हुई है। प्रजातन्त्र के विकास से न ही केवल राष्ट्रीय जीवन का उत्थान हुआ है, अपितु आज विश्व के नागरिको मे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ की प्रगति के कारण यह भावना उत्पन्न हो गई है कि मानव के राष्ट्रीय भेद अनावश्यक हैं और विश्व एक ही मानवीय परिवार है। मानवता तथा मानववाद की ये भावनाए आज से एक सौ वर्ष पूर्व भी विश्व मे उपस्थित नही थी। चाहे अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के विकास का कारण युद्ध ही रहा हो, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है कि सयुक्तराष्ट्र सस्था तथा उसकी अनेक अन्य शाखाए विश्वशान्ति स्थापित करने और मानवीय जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने का सतत प्रयास कर रही हैं। आज विश्व के प्रत्येक उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ की यही हार्दिक इच्छा है कि "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाए और राजनीतिक विषमताओ, विभिन्न शासन-प्रणालियो तथा विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तो की उपस्थिति मे भी 'सह-अस्तित्व' द्वारा विश्वशान्ति को स्थायी रूप दिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यह नवीन चेतना निस्सन्देह यह प्रमाणित करती है कि वर्तमान समय मे सामाजिक सस्थाओ मे एक अद्वितीय नैतिक प्रगति हुई है।

इसी प्रकार, जहा तक सदाचारी मनुष्य के आदर्श का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि अतीत की अपेक्षा वर्तमान मे, नैतिक आदर्श मे भी प्रगति हुई है। यद्यपि सद्गुणो की धारणा यूनानी विचारको के समय से ही प्रचलित है, तथापि सद्गुणो के आचरण मे तथा उनके नैतिक महत्त्व की अन्तर्दृष्टि मे वर्तमान समय मे प्रगति अवश्य

---

family, with its norms and laws, must be looked upon as progress."
—Fundamentals of Ethics, by W. M. Urban, Page 430.

हुई है। आदर्शवादी दार्शनिको ने, विशेषकर टी० एच० ग्रीन ने, वर्तमान तथा यूनानी समय की सद्गुण-सम्बन्धी धारणाओ की तुलना करते हुए यह प्रमाणित किया है कि साहस तथा सयम के दो आधारभूत सद्गुणो की वर्तमान धारणा, यूनानी धारणा से श्रेष्ठ है। उन सद्गुणो की वर्तमान धारणा के अनुसार इनके व्यावहारिक प्रयोग का क्षेत्र यूनानी समय के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और जिस नियम पर ये दोनो सद्गुण आधारित है, उसकी धारणा भी अधिक गम्भीर बनाई गई है। सयम के विषय मे हमने पहले ही यह बताया है कि यूनानी समय मे इस सद्गुण की सीमा केवल खाने-पीने के क्षेत्र तक सम्बन्धित थी। वर्तमान समय मे इसी सद्गुण को जीवन के अन्य अगो पर भी लागू किया जाता है। उदाहरणस्वरूप राजनीति के क्षेत्र मे, यदि राजनीतिज्ञ विश्व की समस्याओ पर वाद-विवाद करते हुए अपनी वाणी और विचारो पर सयम न रखे, तो यह निश्चित है कि विश्व की शान्ति क्षणो मे ही भग हो जाए। खाने-पीने तथा काम वृत्त्यात्मक जीवन के सम्बन्ध मे भी, जिस नियम के आधार पर सयम के सद्गुण को यूनानी समय मे लागू किया जाता था, वह नियम वर्तमान समय मे अधिक गहन अर्थों मे लिया जाता है।

ग्रीन का कहना है कि वर्तमान समय मे जिन विषयो का नैतिक दृष्टि से, सयम का अनुसरण करते हुए, त्याग किया जाता है, उनकी सख्या तथा उनका प्रसार यूनानी समय के त्यागने योग्य विषयो से अधिक है। इसलिए वर्तमान समय मे, सयम का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति को, जो त्याग करना पडता है, वह यूनानी समय के त्याग की अपेक्षा अधिक है। हमने सामाजिक सस्थाओ की व्याख्या करते समय यह बताया है कि वर्तमान नागरिक न ही केवल परिवार का, न ही केवल व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय का, न ही केवल राष्ट्र का, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ का सदस्य है। यूनानी समय मे, व्यक्ति अधिक से अधिक नागरिक राज्य का सदस्य था। इन विभिन्न परिस्थितियो से स्पष्ट होता है कि वर्तमान नागरिक के सद्गुणो को व्यवहार मे लागू करने का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इन सद्गुणो का अनुसरण करने का उद्देश्य केवल व्यक्ति तथा किसी विशेष समाज की आत्मानुभूति नही है, अपितु विश्वव्यापी मानवता की अनुभूति है। आत्मानुभूति का अर्थ व्यक्तिगत हितो से लेकर राष्ट्रीय हितो तक के क्षेत्र से ऊपर उठ जाना और अपने व्यक्तित्व को विश्वव्यापी मानव समाज के व्यक्तित्व मे समाविष्ट करना है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आदर्श की दृष्टि से भी विश्व के इतिहास मे नैतिक प्रगति अवश्य हुई है।

नैतिक प्रगति : एक सम्भावना

नैतिक प्रगति का प्रमाण देते हुए हमने ऐतिहासिक विश्लेषण किया है और वर्तमान नैतिक जीवन की प्राचीन नैतिक जीवन से तुलना भी की है। यद्यपि इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिक प्रगति एक तथ्य है, तथापि कुछ विचारक निराशावादी धारणा प्रस्तुत करते है और कहते है कि नैतिक प्रगति को तथ्यो के आधार पर प्रमाणित

करना असत्य है। यदि सुख की प्राप्ति और चरित्र-निर्माण को नैतिक प्रगति का आधार मान लिया जाए, तो भी यह निश्चित नही है कि वर्तमान समय के मनुष्य प्राचीन समय के असभ्य मनुष्यो की अपेक्षा अधिक सुखी है। सम्भवतया प्राचीन समय मे, जगलो मे शिकार की खोज मे प्रवृत्त, प्राकृतिक दृश्यो का आनन्द लेता हुआ असभ्य मनुष्य, वर्तमान समय के, कार्यालय की चारदीवारी मे कुर्सी पर बैठे हुए, कर्मचारी की अपेक्षा अधिक सुखी जीवन व्यतीत करता था। इसी प्रकार इतिहास का अध्ययन यह भी बताता है कि विभिन्न देशो के स्वर्णयुग मे व्यक्तिगत नैतिकता उच्चतम शिखर पर थी। उदाहरणस्वरूप, भारत मे गुप्तवर्श के राज्य के समय चोरी का अपराध नही था। जब हम ऐसे समय की नैतिकता की वर्तमान अनैतिकता से तुलना करते है, तो हमे यह मानना पड़ता है कि नैतिक प्रगति शत-प्रतिशत तथ्य नही है।

ऐतिहासिक साक्षी को, कुछ नैतिक दार्शनिको ने इन्ही कारणो से, नैतिक प्रगति को तथ्य प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नही माना है। इसके विपरीत इसे केवल सम्भावना ही स्वीकार किया है। वास्तव मे नैतिक प्रगति का निष्पक्ष अध्ययन तथ्य भी है और सम्भावना भी। हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो प्रगति के नियम को प्रतिपादित करते हुए, उसे न ही केवल अतीत की घटनाओ के प्रति निहित नियम माना है, अपितु यह भी स्वीकार किया है कि यह नियम मनुष्य के सम्पूर्ण भावी जीवन तथा सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का आधारभूत है। इस दृष्टि से प्रगति का नियम विकास के नियम की भाति शाश्वत नियम है। आलोचको ने स्पेन्सर की इस धारणा का विरोध किया है और कहा है कि ऐतिहासिक साक्षी, न तो नैतिक प्रगति को अतीत की दृष्टि से एक तथ्य प्रमाणित करने मे समर्थ है और न हम किसी भी विधि से प्रगति को भविष्य मे प्रमाणित कर सकते है। कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह नही कह सकता कि मानव समाज भविष्य मे नैतिक दृष्टि से प्रगति करेगा अथवा स्वार्थवश सर्वनाश को प्राप्त होगा। न ही केवल मानवीय व्यवहार के विषय मे यह बात सत्य है, अपितु भौतिक जगत् मे भी भविष्य के प्रति किसी प्रकार का निश्चित अनुमान लगाना अवैज्ञानिक और असगत माना जाता है। कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि सूर्य कल उदय होगा कि नही।

इस प्रकार का निराशावाद निस्सन्देह एक मानसिक रोग ही समझा जाना चाहिए। नैतिक प्रगति केवल सम्भावना नही है। यदि तथ्य का अर्थ अतीत मे प्रगति की प्रवृत्तिया हैं, तो इसमे कोई सन्देह नही कि ऐतिहासिक साक्षी, नैतिक प्रगति को प्रमाणित करने मे समर्थ है। यदि इसका अर्थ यह है कि तथ्य भविष्य के प्रति यथार्थ प्रमाणित हो, तो नैतिक प्रगति को एक सम्भावना भी स्वीकार किया जाना चाहिए। यद्यपि निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि कल सूर्य उदय होगा कि नही, तथापि अतीत के अनुभव के आधार पर विज्ञान यह अनुमान लगाता है कि विश्व का अन्त एक ही दिन मे नही होगा। इस प्रकार की अनिश्चितता के आधार पर हमे सशयवाद का शिकार नही होना चाहिए। हमे विश्वास और दढ़ सकल्प के साथ नैतिक प्रगति की सम्भावना को तथ्य बनाने के

लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत के कुछ सहस्र वर्षों मे मनुष्य ने नैतिक प्रगति की है। विश्व का इतिहास समय की दृष्टि से इतना विपुल और उसके अस्तित्व की सम्भावना भविष्य की दृष्टि से इतनी विशाल है कि मानवीय इतिहास के कुछ सहस्र वर्ष विकास के इतिहास मे कुछ महत्त्व नही रखते। वैज्ञानिको के अनुमान के अनुसार, इस पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति एक करोड बीस लाख (१,२०,००,०००) वर्ष पूर्व हुई। इसी अनुमान के अनुसार, मनुष्य का जन्म लगभग दस लाख (१०,००,०००) वर्ष पूर्व हुआ और समस्त जीवन इस पृथ्वी पर १,२०,००,००,००,००,००० वर्ष तक उपस्थित रहेगा। यदि जीवन के अस्तित्व के इस समय को १०० वर्ष के समान मान लिया जाए, तो हम कह सकते है कि इस पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति कुछ घटे पूर्व हुई, मनुष्य का जन्म कुछ ही मिनट पूर्व हुआ। इस दृष्टि से मनुष्य की सभ्यता का विकास केवल कुछ क्षणो की बात है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नैतिक विकास की सम्भावना जीवन के विकास के साथ-साथ अति विशाल है। इसलिए नैतिक प्रगति के प्रति हमे सन्देह की दृष्टि से नही देखना चाहिए और अपने कर्तव्यो का पालन करते हुए इसकी सम्भावना को तथ्य प्रमाणित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हमारे इस दृष्टिकोण को अधिक पुष्ट करने के लिए कार्ल मार्क्स के प्रगतिवादी विचार का उदाहरण देना यहा पर असगत न होगा। मार्क्स के अनुसार मानवीय इतिहास दो नियमो पर आधारित है। पहला नियम आर्थिक नियतिवाद है। दूसरे नियम के अनुसार, सम्पत्ति का एक स्थान पर इतना अधिक केन्द्रित होना है कि पूजीवाद तथा श्रम मे सघर्ष के कारण अन्त मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा समाप्त होकर, सामाजिक एव साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जाएगी। मार्क्स का यह सिद्धान्त उसकी दृष्टि से तथ्यात्मक है और यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक इतिहास का विकास इसी सघर्ष के अनुसार होगा। यद्यपि मार्क्स का अनुमान शत-प्रतिशत यथार्थ प्रमाणित नही हो रहा, तथापि साम्यवादी राष्ट्रो मे इस तथ्यात्मक नियम को जीवन पर लागू करके मार्क्स की भविष्यवाणी को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की जा रही है और वह चेष्टा सफल हो रही है। यदि मार्क्स का सिद्धान्त प्रयत्नो के द्वारा शत-प्रतिशत सत्य न होते हुए भी यथार्थ प्रमाणित किया जा सकता है, तो कोई कारण नही कि नैतिक क्षेत्र मे मनुष्य प्रयत्नशील होकर नैतिक प्रगति को यथार्थ प्रमाणित न कर सके।

नैतिक प्रगति की उपर्युक्त व्याख्या का उद्देश्य सिद्धान्त तथा व्यवहार, आदर्श तथा जीवन के परस्पर-समन्वय को प्रमाणित करना है। आचार-विज्ञान गणितशास्त्र तथा तर्कशास्त्र की भाति केवल सैद्धान्तिक ही नही है, अपितु वह पूर्णतया व्यावहारिक है। नैतिक व्यवहार नैतिक सिद्धान्त का आधार है, जबकि सैद्धान्तिक विज्ञानो मे सिद्धात को व्यावहारिक समस्याओ के सुलझाने का आधार बनाया जाता है। आचार-विज्ञान की यह विशेषता हमारे सामने एक आवश्यक, समस्या उत्पन्न करती है। यदि आचार-विज्ञान केवल सैद्धान्तिक अध्ययन नही है, तो यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत नैतिक

असामजस्य की अवस्था मे, अर्थात् धर्म-सकट की अवस्था मे आचार-विज्ञान हमे क्या सहायता दे सकता है। दूसरे शब्दो मे, क्या आचार-विज्ञान नैतिक सिद्धान्तो की व्याख्या करके ही रह जाता है अथवा वह विशेष परिस्थितियो मे नैतिक सघर्ष का अन्त करने का उपाय भी बतलाता है। नैतिक सघर्ष की अवस्था मे दो नैतिक विकल्पो मे से किसी एक को वाछनीय घोषित करने की क्रिया को 'विशेषकी' कहा जाता है।

विशेषकी

जब दो नैतिक नियम अथवा कर्तव्य किसी विशेष परिस्थिति मे परस्पर-सघर्ष मे आते है और व्यक्ति यह निश्चित नही कर सकता कि उन दोनो मे से कौन-से नियम को अपनाए, तो इस विशेष अवस्था मे निर्णय देने अथवा मार्गदर्शन के लिए जिस सिद्धात की आवश्यकता होती है उसे 'विशेषकी' कहते है। विशेषकी की सरल परिभाषा देते हुए मैकन्जी ने लिखा है, "विशेषकी का उद्देश्य नैतिक आदेशो का यथार्थ अर्थ बतलाने की चेष्टा करना तथा यह व्याख्या करना है कि सघर्ष के समय मे, इन आदेशो मे से किसको त्याग देना चाहिए।"[१] उदाहरणस्वरूप, जीवन का आदर करने के कर्तव्य एव चोरी न करने के कर्तव्य मे सघर्ष आ सकता है और यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या उस व्यक्ति के घातक शस्त्र को चुरा लेना नैतिक है जो किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या करने पर अथवा आत्महत्या करने पर तुला हुआ है। इस प्रकार की नैतिक समस्याओ को सुलझाना विशेषकी का नैतिक उद्देश्य है। वास्तव मे विशेषकी आचार-विज्ञान से विभिन्न नही है।

आचार-विज्ञान और विशेषकी दोनो नैतिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हम यह कह सकते है कि इन दोनो का अन्तर इसीमे है कि विशेषकी नैतिक समस्याओ का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करती है, जबकि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण अधिक सामान्य होता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि विशेषकी पूर्णतया व्यक्तिगत समस्याओ से सम्बन्ध रखती है। वे समस्याए जिनका समाधान विशेषकी करती है, इस दृष्टि से व्यक्तिगत अथवा विशेष नही होती कि उनमे और सामान्य नैतिक समस्याओ मे सीमा-रेखा खीची जा सके। विशेषकी इस दृष्टि से विशेष नही होती जैसे-कि मेरे मित्र का घर एक विशेष वस्तु है। यह तो सम्भव है कि विशेषकी अधिक विशेष एव व्यक्तिगत होती है और आचार-विज्ञान अधिक सामान्य होता है। इसका अर्थ यह है कि इन दोनो का भेद केवल मात्रा का है न कि गुण का। नैतिक आचार-विज्ञान भी नैतिक आदर्श की व्याख्या के लिए सद्गुणो की सूची बनाता है। इस दृष्टि से आचार-विज्ञान विशेषकी मे विभिन्न नही है। आचार-विज्ञान तथा विशेषकी दोनो उसी दृष्टि मे सामान्य घटनाओ मे सम्बन्धित है जिस दृष्टि से भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र

१. "Casuistry consists in the effort to interpret the precise meaning of the commandments, and to explain which is to give way when a conflict arises" —A Manual of Ethics, by J. S Mackenzie, Page 310

सामान्य विपयो से सम्बन्धित होते है। जिस प्रकार रसायनशास्त्र का उद्देश्य इस बात की खोज करना होता है कि ग्राक्सीजन, चाहे वह किसी भी स्थान पर हो, किन तत्त्वो से बनता है और ऐसा करते समय रसायनशास्त्र ग्राक्सीजन के किसी विशेप प्रकार को अधिक महत्त्व नही देता, इसी प्रकार विशेषकी का उद्देश्य सभी कर्मों के प्रति यह बताना है कि वे शुभ कैसे होते है, चाहे वे कर्म कही पर भी घटित होते हो। यही कारण है कि जी० ई० मोर ने ग्राचार-विज्ञान तथा विशेपकी दोनो को भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा शरीर-विज्ञान की भाति सामान्य माना है और उन्हे इतिहास तथा भूगोल जैसे विज्ञानो से पृथक् स्वीकार किया है। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि विशेपकी की खोज अधिक सूक्ष्म तथा विस्तारपूर्वक होने के कारण ग्राचार-विज्ञान की अपेक्षा भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के अधिक समीप है। विशेपकी अत्यन्त व्यापक नैतिक नियम से सन्तुष्ट न होकर विशेष नैतिक नियमो के सापेक्ष महत्त्व को बतलाने की चेष्टा करती है।

इस दृष्टि से विशेषकी ग्राचार-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है और नैतिक ग्रादर्श की प्राप्ति मे योग देती है। ग्राचार का कोई भी अध्ययन विशेषकी के बिना पूर्ण नही माना जा सकता। इसका कारण यह है कि अधिकतर नैतिक नियम सापेक्ष होने के कारण एक-दूसरे के सघर्प मे ग्राते हैं और ऐसी अवस्था मे यह निर्णय देना ग्रावश्यक हो जाता है कि उनमे से किस नियम को किन विशेष परिस्थितियो मे स्वीकार न किया जाए। यही कारण है कि विशेषकी को, 'नियमो को भग करने के लिए नियम बनाने की विधि' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विशेपकी हमे वे निश्चित परिस्थितिया बतलाने की चेष्टा करती है, जिनके अन्तर्गत हम विशेप नैतिक ग्रादेशो को भग कर सकते है। अब प्रश्न यह उठता है कि ग्राचार-विज्ञान कहा तक विशेप परिस्थितियो की व्याख्या कर सकता है, अर्थात् वह कहा तक विशेषकी को नैतिक अध्ययन का अग बना सकता है। डाक्टर मोर का कहना है कि विशेपकी नैतिक अध्ययन का उद्देश्य है, किन्तु उसे ग्रारम्भ मे नही अपनाया जा सकता। किन्तु कुछ दार्शनिको की दृष्टि मे ग्राचार-विज्ञान मे विशेपकी को स्थान देने का अर्थ नैतिकता को कला मे परिवर्तित करना है। हम यह पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि ग्राचार-विज्ञान को किसी भी अवस्था मे कला नही माना जा सकता और न ही सदाचार की कोई कला हो सकती है। जिस प्रकार कि सौन्दर्यशास्त्र कवियो, चित्रकारो और सगीतज्ञो को यह नही बता सकता कि वे किस प्रकार अपनी कला मे प्रवीण हो, उसी प्रकार ग्राचार-विज्ञान यह नही बता सकता कि विशेष परिस्थितियो मे प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकार व्यवहार करे।

विशेपकी को अनावश्यक स्वीकार करते हुए मैकन्जी ने लिखा है कि अपने जीवन के सचालन के लिए, व्यक्तिगत नियमो को निर्धारित करना ग्राचार-विज्ञान का काम नही है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति का निजी काम है। यह तो सत्य है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियो के अनुसार सोने, जागने, काम करने, भोजन करने तथा मनोरजन ग्रादि के

लिए अपने समय का विभाजन कर सकते है तथा इसके विषय मे कुछ नियम निर्धारित कर सकते हैं। जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करना और इन नियमो का काट जैसे दार्शनिको की भाति दृढता से पालन करना भी आवश्यक माना जा सकता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि आचार-विज्ञान जैसा सैद्धान्तिक अध्ययन, यह निश्चित करने की चेष्टा करे कि ऐसे नियम किन विशेष परिस्थितियो मे शिथिल किए जा सकते हैं।[1]

यह तो सत्य है कि जीवन के सचालन मे, प्रत्येक व्यक्ति को हर समय और हर व्यक्तिगत समस्या मे, मार्गदर्शन के लिए परामर्श देना एक असम्भव बात है। कम से कम ऐसे परामर्श को नियमबद्ध नही किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति ऐसे प्रश्न करे कि क्या उसे विवाह करना चाहिए अथवा अकेला रहना चाहिए? क्या उसे अध्यापक बनना चाहिए अथवा व्यापारी, आदि-आदि, तो इनका उत्तर किसी विज्ञान के आधार पर नहीं दिया जा सकता। ऐसी अवस्था मे तो जो व्यक्ति प्रश्न करनेवाले व्यक्ति की परिस्थितियो को घनिष्ठता से जानता होगा, वही उचित परामर्श दे सकेगा। यदि विशेषकी का अर्थ ऐसे व्यक्तिगत प्रश्नो का उत्तर देना है, तो उसे कदापि आचार-विज्ञान का उद्देश्य नही माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि विशेष परिस्थितियो मे नैतिक नियम भग करने को एक सामान्य नियम बना दिया जाए, तो व्यावहारिक दृष्टि से विशेषकी अपने उद्देश्य को पूरा नही कर सकेगी। यह तो सत्य है कि यदि कोई मित्र किसी भयानक रोग मे ग्रस्त है और यदि उसके रोग के प्रति सत्य कहने से उसकी अवस्था और भी बिगड जाने की सम्भावना है, तो सत्य के प्रति आदर का जीवन के प्रति आदर से सघर्ष होता है और प्राय लोग ऐसी अवस्था मे सत्य न बोलने को नैतिक स्वीकार करते है। यदि ऐसा रोगी सत्य को जानने की चेष्टा करे, तो उसके अधिकतर मित्र सत्य को छिपाने मे अथवा टाल-मटोल करने मे सकोच नही करेगे। उनका ऐसा व्यवहार विशेषकी के नियम के अनुसार है। इसके विपरीत यदि हर समय उस रोगी को धोखा दिया जाए और कदापि सत्य न बोला जाए, तो वह व्यक्ति निस्सन्देह जान जाएगा कि उसे ठगा जा रहा है और इस प्रकार विशेषकी पर आधारित सत्य को छिपाने की क्रिया अपने उद्देश्य को पूरा न कर सकेगी। सत्य को छिपाने की क्रिया को सामान्य नियम नही बनाया जा सकता, क्योकि ऐसा करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है, और फिर यह एक प्रकार की कला है। दूसरे शब्दो मे, विशेष परिस्थितियो मे, दो नैतिक आदेशो के सघर्ष की अवस्था मे, किसी एक को भंग करना व्यक्तिगत सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इस प्रकार नियमो को भग करने के लिए सामान्य नियम निर्धारित नही किए जा सकते और विशेषकी को आचार-विज्ञान की भाति एक सामान्य अध्ययन नही बनाया जा सकता।

आचार-विज्ञान को जब तक नैतिक उद्देश्य के सामान्य अध्ययन से सम्बन्धित माना जाएगा, तब तक यह सगत प्रतीत नही होता कि उसके विकास के लिए व्यक्तिगत और विशेष नैतिक समस्याओ की व्याख्या को आवश्यक समझा जाए। विशेष समस्याओ

१. Ibid, Page 313

का समाधान करने के लिए, हमे मूल्यो का विस्तारपूर्वक अध्ययन तथा सामाजिक जीवन के सिद्धान्त का सामान्य ज्ञान सहायक हो सकता है। केवल इसी दृष्टि से आचार-विज्ञान विशेष परिस्थितियो मे हमारी सहायता कर सकता है और इसी दृष्टि से ही विशेषकी को आचार-विज्ञान का उद्देश्य कहा जा सकता है। विशेषकी आशिक रूप मे नैतिक अध्ययन का उद्देश्य बन सकती है, किन्तु उसे एक पूर्ण वैज्ञानिक रूप मे आचार-विज्ञान का लक्ष्य नही माना जा सकता। जिस प्रकार यह कहना अनुचित है कि तर्क-शास्त्र का उद्देश्य सभी विज्ञानो का सम्पूर्ण व्यवस्थित अध्ययन है, उसी प्रकार यह कहना भी असगत है कि आचार-विज्ञान का उद्देश्य सभी व्यक्तियो के धर्म-सकट मे, उनकी विशेप परिस्थितियो के अनुसार परामर्श देना है। यद्यपि विशेषकी के सम्पूर्ण अध्ययन को आचार-विज्ञान का उद्देश्य नही माना जा सकता, तथापि उसका अध्ययन निस्सन्देह महत्त्व रखता है। आचार-विज्ञान की समस्याओ को, विशेषकी की समस्याओ से पृथक् नही किया जा सकता। यही कारण है कि रैशडाल जैसे नैतिक विचारको ने विशेषकी को आचार-विज्ञान मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि नैतिक विचारक आचार-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तो की अवहेलना करके, लोगो की विशेष परिस्थितियो का विश्लेपण करने मे सलग्न हो जाए और उन्हे छोटी-छोटी व्याव-हारिक समस्याओ को सुलझाने का परामर्श देता रहे। आचार-विज्ञान का ज्ञान ऐसा कार्य करने मे सहायता अवश्य दे सकता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि विशेष नैतिक समस्याओ का सुलझाना-मात्र आचार-विज्ञान का उद्देश्य मान लिया जाए। प्राय: लोग विशेष समस्याओ का समाधान स्वय ही कर लेते है। एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति अपने अनुभव के द्वारा अपनी विशेष नैतिक समस्याओ के सुलझाने का सामर्थ्य रखता है। यह तो सम्भव है कि उन विशेष परिस्थितियो की ओर लोगो का ध्यान आक-र्षित किया जा सकता है, जिनमे कि विशेष अधिकारो तथा कर्तव्यो को भग करना उचित होता है। किन्तु जनसाधारण प्राय ऐसी परिस्थितियों से स्वय ही परिचित होता है। इसलिए विशेषकी को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना केवल समय को नष्ट करना है।

विशेषकी के प्रति हमारा ऊपर दिया गया विवेचन नैतिक प्रगति के तथ्यो पर आधारित है। आधुनिक युग मे विज्ञान की प्रगति के कारण जनसाधारण सजग और सतर्क हो गया है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति आज के युग मे अपनी परिस्थितियो के अनुसार व्यवहार करने का सामर्थ्य रखता है और उसे जीवन के सचालन मे विशेप परामर्श की आवश्यकता कम रहती है। किन्तु जहा पर गम्भीर नैतिक समस्याओ का सम्बन्ध है, हमे यह कहना पडेगा कि वर्तमान सामाजिक वातावरण मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए पर्याप्त नही है। यदि जीवन का चरम लक्ष्य आत्मानु-भूति एव व्यक्ति की पूर्णता है, तो हमे यह मानकर चलना पडेगा कि इस मार्ग पर जनसाधारण को अग्रसर करने के लिए व्यक्ति के अन्तम् मे निहित आध्यात्मिक शक्तियो को प्रेरित करना होगा। दूसरे शब्दो मे, नैतिक प्रगति को तीव्र गति देने के

लिए और मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य की ओर सम्पूर्ण मानव समाज को आगे बढाने के लिए एक उद्बोधन की आवश्यकता है। मानव-मात्र मे ऐसी आत्मचेतना तभी उत्पन्न की जा सकती है, जब पश्चिमीय तथा पूर्वीय दार्शनिक चिन्तन द्वारा, अनावृत सत्यो का समन्वय किया जाए और जब इन दोनो दर्शनो पर आधारित जीवन की दो विभिन्न शैलियो को एक-दूसरे का पूरक स्वीकार करके एक ऐसी समन्वित जीवन-शैली के विकास को प्रोत्साहन दिया जाए, जिसमे कि मानव समाज का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सके।

* * *